Surging Waves of the

VEDA GANGA

(Hindi-English)

120

चतुर्वेद-गंगा-लहरी

(हिन्दी-अंग्रेज़ी)

प्रतिवेदम् सूक्त सहितं मंत्र शतकम्

डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

ओ३म्

चतुर्वेद-गंगा-लहरी

THE SURGING WAVES OF THE VEDA-GANGA

(In Hindi & English)

लेखक

विद्यामार्तंड डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

(भूतपूर्व) वाइस चान्सलर एवं विज़िटर

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

राज्यसभा सदस्य

प्रकाशक

विजयकृष्ण लखनपाल

W-77A, ग्रेटर कैलाश (I), नई दिल्ली-48

फोन-29237790-29235002

© विजय कृष्ण लखनपाल

Indian Rupees 170.00
U.S. Dollars 12.00

डॉ० सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार लिखित अन्य साहित्य

वैदिक पुस्तकें

१. गीता भाष्य—(भूमिका लेखक—श्री लाल बहादुर शास्त्री)
२. एकादशोपनिषद्—(भूमिका लेखक—डॉ० राधा कृष्णन)
३. संस्कार चन्द्रिका (हिन्दी)—(संस्कारों का वैज्ञानिक विश्लेषण)
४. उपनिषद् प्रकाश (हिन्दी)—उपनिषदों की सरल हिन्दी में व्याख्या)
५. वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व (हिन्दी)
६. चतुर्वेद गंगा लहरी (चुने हुए वेद मन्त्रों का हिन्दी तथा अंग्रेज़ी में सारांश)
७. Vedic Vision—(English Translation of Sanskar Chandrika)

होम्योपैथिक पुस्तकें

१. माँ तथा बच्चा (हिन्दी)
२. होम्योपैथिक औषधियों का सजीव चित्रण (हिन्दी)
३. रोग तथा उनकी चिकित्सा (हिन्दी)
४. फण्डामेण्टल्स ऑफ़ होम्योपैथी (हिन्दी)
५. बुढ़ापे से जवानी की ओर (योग तथा होम्यो चिकित्सा द्वारा) (हिन्दी)
६. बायोकैमिक चार्ट (अंग्रेज़ी) पुस्तिका के रूप में
७. फर्स्ट एड स्पेसिफ़िक्स टु होम्यो. एण्ड बायो. ट्रीटमेण्ट (अंग्रेज़ी)
८. होम्योपैथी का क. ख. ग. (हिन्दी)
९. फ्राम ओल्ड एज टु यूथ (अंग्रेज़ी) (योग तथा होम्यो चिकित्सा द्वारा)
१०. होम्योपैथी के अनुभूत प्रयोग (हिन्दी) भाग-१
११. होम्योपैथी के अनुभूत प्रयोग (हिन्दी) भाग-२
(५०० से अधिक केस जो प्रतिष्ठित होम्यो डॉ० ने सफलतापूर्वक ठीक किये हैं)।

कृतज्ञता-ज्ञापन

देश-विदेश में वेद का संदेश फैलाने की इस योजना को देर से मैं मन में संजोये बैठा था। 1988 से मैंने इस योजना को क्रियान्वित करना शुरू कर दिया था। लिख-पढ़ सकना तथा काग़ज़ों को संभालना कठिन हो रहा था। कलकत्ता आर्यसमाज ने रु० 5000/- पुस्तक के प्रकाशनार्थ भेज दिया। कलकत्ता आर्यसमाज ने कुछ नहीं माँगा, सिर्फ़ भेंट-स्वरूप उक्त राशि स्वयं भेज दी। मैंने भी पुस्तक छपने पर 50 प्रति उन्हें भेंटस्वरूप भेजने का मन में निश्चय किया कि चाहे समाज बाँटे या विक्रय करे, उसकी इच्छा; उनकी तरफ़ से मुझे भेंट; मेरी तरफ़ से उन्हें भेंट।

कलकत्ता आर्यसमाज ने वेद-विषयक हमारे लेखों की इतनी उपयोगिता समझी है कि अपने मासिक-पत्र 'आर्य-संसार' के एक अंक में इन सभी लेखों को छापा है। उन्होंने सभी समाजों से अनुरोध किया है कि वेद-सप्ताह में समाज के अधिकारी उपस्थित जनता को इन लेखों को पढ़कर सुनायें।

लखनऊ के 'आर्यमित्र' ने उक्त सभी लेखों को आर्य-सिद्धान्तों के लिये उपयोगी समझकर धारावाही रूप में प्रकाशित किया है। जालन्धर की 'आर्य मर्यादा' ने तथा बम्बई के 'आर्य विजय' ने भी वेद-विषयक ये सब लेख प्रकाशित किये हैं। 'आर्य जगत्' ने भी ये कुछ लेख छापे हैं।

स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी द्वारा सम्पादित-'वेद-प्रकाश' ने इन लेखों में उल्लिखित विचारों की उपयोगिता समझ कर सितम्बर 1989 के एक पूरे अंक में उन्हें प्रकाशित किया है।

नोट— *प्रत्येक वेद— खण्ड से पहले एक पृष्ठ में उस खण्ड की विषय वस्तु दी गई है।*

विश्वविद्यालयों में वेद पढ़ाने, दैनिक स्वाध्याय करने, विशेष यज्ञादि करने, पुस्तकालयों में रखने, विदेश में रहने वाले भाइयों द्वारा पढ़ने और घर में रखने के लिये यह विशेष उपयोगी ग्रन्थ है।

विषय-सूची—[Contents]

भूमिका पृ० 9-127

I. ऋग्वेद ज्ञान-गंगा-लहरी (106 मन्त्राः—Verses)

1. अग्नि-सूक्त (The fire as the Supreme Lord) 9 Mantras
2. नासदीय-सूक्त (The Doubting Mind) 7 Mantras
3. हिरण्यगर्भ-सूक्त (Creation by Hiranya Garbha—Nebula) 10 Mantras
4. इन्द्र-सूक्त (The Mighty Indra) 15 Mantras
5. संवनन-सूक्त (Vedic Socialism) 4 Mantras
6. मन-आवर्तन-सूक्त (Calling Back the Mind to the Centre) 12 Mantras
7. श्रद्धा-सूक्त (Devotion, Dedication and Faith)
8. मृत्यु-सूक्त (About Death) 14 Mantras
9. अधमर्षण मंत्राः (Smashing of Sin) 3 Mantras
10. उषा-सूक्त (Devotion to Dawn) 7 Mantras
11. सोम-सूक्त (Path of Peace) 6 Mantras
12. द्यूत-सूक्त (Away from Gambling) 14 Mantras

II. यजुर्वेद ज्ञानगंगा-लहरी (103 मंत्राः; Verses) पृ० 128-202

1. पुरुष-सूक्त (God As Universal Soul) 22 Mantras
2. यजुर्वेद का ३२वाँ अध्याय (32nd Chapter of Yajurveda) :
   (क) न तस्य प्रतिमा अस्ति—(HE HAS 'NO-IMAGE' MANTRAS), मंत्राः (a); (b); (c); (d); (e) and (f);
   (ख) मेधा-बुद्धि की याचना के कुल चार मंत्र हैं (4 Verses Seeking Intelligence—मेधा-Mantras are 4 only and are given in the 32nd Sukta of Yajurveda at the end of the Sukta. 16 Mantras.
3. ईशावास्य मंत्राः (He is in All) 17 Mantras.
4. शिव-संकल्प मंत्राः (Purification of The Mind) 7 Mantras.
5. प्रभात-सूक्त (Morning Prayers) 7 Mantras.
6. सरस्वती मंत्राः (Invoking the Goddess of Knowledge) 3 Mantras.
7. मधुपर्क मंत्राः (Wishing Everything Sweet as Honey) 3 Mantras.
8. उपस्थान मंत्राः (Prayer for Upliftment to God.) 4 Mantras.
9. यजुर्वेद का ३६वां अध्याय (36th Chapter of Yajurveda) 24 Mantras.

III. सामवेद ज्ञान-गंगा-लहरी (100 मंत्राः; Verses) पृ 203-274

(क) पूर्वार्चिक
1. अध्याय, 2. दशति,
3. ऋचा

(ख) महानाम्न्यार्चिक

(ग) उत्तरार्चिक
1. अध्याय, 2. खण्ड,
3. त्रिचा (सूक्त)

IV. अथर्ववेद ज्ञान-गंगा-लहरी (101 मंत्रा: ; Verses) पृ 275-347

1. पृथिवी-सूक्त (भाग I, II, III: The Earth as Mother) 63 Mantras
2. ब्रह्मचर्य-सूक्त (The Life of Physical, Intellectual and Moral Development) 26 Mantras
3. साम्मनस्य--सूक्त (Social Unity) 7 Mantras
4. मधु-सूक्त (Honeyed Life) 5 Mantras

V. 27 प्रकीर्ण मंत्र तथा 25 वैदिक सूक्तियाँ : पृ 348-377

क) ऐकेश्वरवाद (Monotheism) 2 Mantras
ख) सर्वज्ञता (Omnipresence of God) 1 Mantra
ग) सर्वव्यापकता (Omnipresence of God) 1 Mantra
घ) विश्व ही उसका शरीर है—यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे (The Physical world is His Anthropomorphic Manifestation) 3 Mantras
ङ) परमात्मा अशरीरी है (No Anthropomorphic Conception of God in the Vedas) 1 Mantra
च) राष्ट्रगीत—राष्ट्र तथा समाज के विषय में वैदिक-विचार (Conception of The State and Society) 1 Mantra
छ) स्त्रियों की स्थिति (Position of Women) 3 Mantras
ज) सामाजिक व्यवस्था (Social life) 3 Mantras
झ) जनता को उद्‌बोधन (General Exhortation) 8 Mantras
ञ) शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्रा: (Hark, Ye, Oh Children of the Inmortal) 1 Mantra
त) मृत्युञ्जय महामन्त्र (The Mantra of Victory over Death) 1 Mantra
थ) वैदिक-संस्कृति की कुछ सूक्तियाँ (Some Formulae of Vedic Culture—25 सूक्तियाँ)
द) उपसंहार मंत्र

VI. वेद विषयक मौलिक लेख पृ 378-455

1. वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है;
2. वैदिक-संस्कृति यथार्थवादपरक है;
3. The Concept of Vedic Realism;
4. The Concept of Vedic Materio-Spiritualism (Vedic Pragmatism);
5. उसके पास वेदार्थ की कुंजी थी (वेदों का प्रारंभिक-युग);
6. उसके पास वेदार्थ की कुंजी थी (वेदों का मध्य-कालीन युग);
7. उसके पास वेदार्थ की कुंजी थी (वेदों का मध्य-कालीन अन्धकार-युग);
8. उसके पास वेदार्थ की कुंजी थी (वेदों का उत्तर-कालीन युग);
9. उसके पास वेदार्थ की कुंजी थी (वेदों का दयानन्द-कालीन युग);
10. Veda is the Repository of all True Knowledge.

उपनिषद्-प्रकाश

[लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार]

प्रो० सत्यव्रतजी सिद्धान्तालङ्कार ने गीता-भाष्य के अतिरिक्त सभी ग्यारहों मुख्य उपनिषदों पर एक अन्य अद्वितीय ग्रन्थ लिखा है जिसका नाम '**उपनिषद्-प्रकाश**' है। इस ग्रन्थ में सभी उपनिषदों की, संस्कृत के झमेले में पड़े बिना, ऐसी सरल तथा बुद्धिगम्य व्याख्या है कि इसे पढ़ने से ऐसा अनुभव होता है मानो किसी आध्यात्मिक गुरु से उपनिषदों के रहस्यों की चर्चा सुन रहे हैं। प्रोफेसर साहब की '**एकादशोपनिषद्**' का '**उपनिषद्-प्रकाश**' मानो पूरक ग्रन्थ है। जो बात 'एकादशोपनिषद्' में समझ न पड़े उसकी गुत्थी 'उपनिषद्-प्रकाश' को पढ़ने से खुल जाती है। अगर आप संस्कृत का ज्ञान नहीं भी रखते, तो भी 'उपनिषद्-प्रकाश' के स्वाध्याय से आप उपनिषदों के रहस्यों को समझ जायेंगे। इस ग्रन्थ को पढ़ने से ऐसा अनुभव होता है मानो आध्यात्मिक उपन्यास पढ़ रहे हैं। 'एकादशोपनिषद्' की तरह यह आपके नित्य स्वाध्याय करने का ग्रन्थ है। आर्यसमाज या अन्य सत्संगों में आप इस ग्रन्थ का कथा के रूप में पाठ कर सकते हैं। अनेक सत्संगों में आप इस ग्रन्थ का कथा के रूप में पाठ कर सकते हैं। अनेक सत्संगों में इस ग्रन्थ का इस प्रकार पाठ हो रहा है मानो उपस्थित जनता को आध्यात्मिक उपदेश दिया जा रहा है।

प्रो० सत्यव्रतजी सिद्धान्तालङ्कार ने वैदिक-साहित्य पर जो ग्रन्थ लिखे हैं उनके कारण उन्हें राष्ट्रपति द्वारा वैदिक-साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित के रूप में सम्मानित किया गया है। उनके वैदिक-साहित्य के प्रत्येक ग्रन्थ को उच्च-कोटि का घोषित कर उस पर उपहार दिये गये हैं। भारतीय विद्या-भवन ने उनके ग्रन्थ '**वैदिक-विचारधारा का वैज्ञानिक आधार**' (Scientific Basis of Vedic Thought) पर उन्हें १० हज़ार का राजाजी पुरस्कार दिया गया है। ऐसे उच्च-कोटि के वैदिक-विद्वान् के हर ग्रन्थ से आप लाभ उठा सकते हैं।

धारावाही हिन्दी में

एकादशोपनिषद्—मूल तथा शब्दार्थ सहित

[लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार]

आर्य-संस्कृति के प्राण उपनिषद् हैं। उपनिषदों के अनेक अनुवाद हुए हैं, परन्तु प्रस्तुत अनुवाद सब अनुवादों से विशेषता रखता है। इस अनुवाद में हिन्दी को प्रधानता दी गई है। जो व्यक्ति संस्कृत के बखेड़े में न पड़कर उपनिषद् का तत्त्व ग्रहण करना चाहे वह सिर्फ़ हिन्दी भाग पढ़ जाय, उसे कोई स्थल ऐसा नहीं मिलेगा जो सरल न हो, स्पष्ट न हो, जिसमें किसी तरह की कोई भी उलझन हो। ऊपर मोटे-मोटे अक्षरों में हिन्दी भाग दिया गया है, यह हिन्दी भाग धारावाही तौर पर दिया गया है, और जो-कोई हिन्दी तथा मूल संस्कृत की तुलना करना चाहे उसके लिए अंक देकर नीचे संस्कृत भाग शब्दार्थ सहित दे दिया गया है। फुटनोट में दिये संस्कृत भाग को छोड़कर जो सिर्फ़ हिन्दी भाग पढ़ना चाहे वह धारावाही हिन्दी भाग को पढ़ता चला जाय—विषय एकदम स्पष्ट होता चला जायगा, कहीं किसी तरह का अटकाव नहीं आयेगा। पुस्तक

की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि अनुवाद में मक्खी पर मक्खी मारने की कोशिश नहीं की गई, विषय को खोलकर रख दिया गया है। साधारण पढ़े-लिखे लोगों तथा संस्कृत के अगाध पंडितों—दोनों के लिये यह नवीन ढंग का ग्रन्थ है। यही इस अनुवाद की मौलिकता है। **पुस्तक की भूमिका डॉ० राधाकृष्णन ने लिखी है।**

मुख्य-मुख्य उपनिषद् ग्यारह मानी गई हैं। इन सभी उपनिषदों का धारावाही हिन्दी अनुवाद इस ग्रन्थ में मूल तथा शब्दार्थ सहित दे दिया गया है। पुस्तक को रोचक बनाने के लिये जगह-जगह चित्र भी दिये गये हैं।

पुस्तक दो भागों में बंटी है। प्रथम भाग में ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय तथा छान्दोग्य का धारावाही हिन्दी में अर्थ देते हुए शब्दार्थ सहित मूल-भाग दिया गया है। द्वितीय भाग में बृहदारण्यक तथा श्वेताश्वतर का भाष्य दिया गया है। उपनिषद् के दो भाग एक ही जिल्द में हैं। पृष्ठ संख्या १०३६ है।

धारावाही हिन्दी में सचित्र

गीता-भाष्य—मूल तथा शब्दार्थ सहित

[लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार]

प्रो० सत्यव्रतजी सिद्धान्तालङ्कार ने जैसा 'एकादशोपनिषद्-भाष्य' या 'उपनिषद्-प्रकाश' लिखा है, ठीक उसी शैली पर यह 'गीता-भाष्य' लिखा है। गीता के मार्मिक स्थलों को अत्यन्त सरल भाषा में समझने-समझाने की यह अद्वितीय पुस्तक है।

भूमिका तत्कालीन प्रधान मंत्री श्री लाल बहादुरजी शास्त्री ने ताशकन्द जाने से पहले लिखी थी। श्री जयप्रकाश नारायण ने अपनी जेल-डायरी में डॉ० सत्यव्रजी की गीता का गहन अध्ययन करके लिखा था कि उन्होंने जितने गीता-भाष्य पढ़े हैं उनमें यह भाष्य सर्वोत्तम है। इस भाष्य की विशेषता यह है कि श्लोक बड़े अक्षरों में दिये गये हैं। उसके नीचे प्रत्येक संस्कृत शब्द का हिन्दी अर्थ दिया गया है, और प्रत्येक अध्याय के पीछे सारे अध्याय का दार्शनिक विवेचन किया गया है। इस विवेचन में शंकराचार्य, मध्वाचार्य आदि के विचारों का दिग्दर्शन कराने के अतिरिक्त श्री बाल गंगाधार तिलक, महात्मा गांधी, विनोबा भावे, पं० सातवलेकर आदि सभी टीकाकारों का मत देने के साथ लेखक ने, जो अपने वैज्ञानिक दृष्टिकोण के लिये प्रसिद्ध हैं, गीता की विचारधारा पर गहराई से विवेचन किया है। जिन लोगों ने भी डॉ० सत्यव्रतजी के गीता-भाष्य को पढ़ा है वे इनकी व्याख्या पर मुग्ध हो गये हैं।

गीता को पढ़ते हुए पाठक के हृदय में अनेक प्रश्न उठते हैं। निष्काम-कर्म क्या है, वर्ण-व्यवस्था का वास्तविक रूप क्या है, अवतारवाद क्या है, सत्व-रज-तम क्या हैं, श्रीकृष्ण का अपना विशाल रूप दर्शाने का क्या अभिप्राय है—इन सब समस्याओं का हल इस पुस्तक को पढ़ने से अपने-आप समझ आ जाता है।

संस्कार-चन्द्रिका

(संस्कार-विधि की वैज्ञानिक व्याख्या)

[लेखक—प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार]

प्रोफ़ेसर सत्यव्रतजी सिद्धान्तालङ्कार वैदिक-साहित्य के माने हुए उच्च-कोटि के विद्वान हैं। उनके ग्रन्थ वैदिक-साहित्य की अमरकृति का रूप धारण कर गये हैं। इसी सिलसिले में उन्होंने संस्कारों पर एक अनुपम ग्रन्थ '**संस्कार-चन्द्रिका**' नाम से लिखा है। इस ग्रन्थ में प्रत्येक संस्कार पर वैज्ञानिक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। सोलहों संस्कारों का इसमें सिर्फ़ वर्णन ही नहीं है, प्रत्येक संस्कार की 'वैज्ञानिक व्याख्या' तथा 'विधि'—इन दो का गहराई से वर्णन किया गया है। जिन विषयों पर प्रकाश डाला गया है उनमें से कुछ निम्न हैं: १. अग्निहोत्र के सम्बन्ध में वैज्ञानिक-दृष्टिकोण; २. संस्कार-पद्धति का दार्शनिक-विवेचन; ३. ईश्वर स्तुति प्रार्थना उपासना के मन्त्र (शब्दार्थ तथा भावार्थ सहित); ४. स्वस्तिवाचन के मन्त्र (शब्दार्थ तथा भावार्थ सहित); ५. शान्तिप्रकरण के मन्त्र (शब्दार्थ तथा भावार्थ सहित); ६. सामान्य प्रकरण (शब्दार्थ तथा भावार्थ सहित); ७. गर्भाधान संस्कार का वैज्ञानिक आधार (विवेचनात्मक भाग); ८. गर्भाधान संस्कार का विधि भाग (मन्त्रार्थ तथा भावार्थ सहित)—इत्यादि। इसी प्रकार पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम, सन्यासाश्रम, अन्त्येष्टि आदि सब पर उनकी वैज्ञानिक 'व्याख्या' तथा 'विधि' भाग विस्तार से दिया गया है। अन्त में शालाकर्मविधि, वाणिज्य-विधि, श्रावणीविधि का विस्तार से वर्णन करके ईश्वरभक्ति के कुछ चुने हुए भजन दिये गये हैं। प्रत्येक आर्यसमाज तथा ग्रहस्थ के लिये संग्रहणीय है।

'VEDIC VISION'

Ancient insights into modern life—by Dr. Satyavrata Siddhantalankar

Dr. Satyavrata Siddhantalankar's 'Sanskar Chandrika' has been translated in English language. This is a scientific exposition of Rishi Dayanand's 'Sanskar Vidhi'.

All 16 Sanskars have been presented with their analytical significance alongwith ritual part with meaning of mantras. In the analytical part, reflections have been put forth concerning that sanskar about the scientific, psychological and philosophical point of view. In the ritual part, various headings for each ritual have been given to make it clear and simple.

This book is a useful work for all those who desire to understand vedic culture. Mantras have been given in the Devanagri script alongwith the transliterated version in Roman scripts.

The book is bound in hard cover consisting of approx. 790 pages.

मुद्रक :
नवीन संस्करण
स्पीडो ग्राफिक्स
दिल्ली

भूमिका

जो ग्रन्थ आपके हाथ में है वह पहले अंग्रेज़ी में लिखा गया था। उसका नाम "ग्लिंप्सेज़ ऑफ दि वेदाज़ (Glimpses of the Vedas) था। अब इसका नाम "चतुर्वेद गंगा लहरी" (Surging Waves of the Veda-Ganga) रखा गया है। अंग्रेज़ी में लिखे ग्रन्थ और इस ग्रन्थ में भेद यह है कि वह मुख्यत: उन लोगों के लिये लिखा गया था जो सिर्फ़ अंग्रेज़ी जानते थे। यह ग्रन्थ उससे बड़ा है। इसका क्षेत्र भी उससे विस्तृत है। इसका उपयोग हिन्दी तथा अंग्रेज़ी–दोनों क्षेत्रों में हो सकता है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ अधिक व्यापक है। इस ग्रन्थ की रचना इस दृष्टि से की गई है कि जो व्यक्ति सिर्फ़ हिन्दी जानते हैं वे भी यह जान जायें कि मैक्समूलर, सर विलियम जोन्स, मैटरलिंक, शोपनहार आदि विदेशी विद्वान् भी किस प्रकार वेदों तथा वैदिक–संस्कृति से प्रभावित हुए थे। इन ग्रन्थों को पढ़कर वे यहां तक कहने को विवश हुए थे कि वेदों जैसे उच्चतम ज्ञान की खान वाले ग्रन्थों का अविर्भाव सृष्टि के आदि–काल में कैसे हुआ। उनका कहना है कि वेदों में निहित ज्ञान को देखकर बुद्धि चकरा जाती है। इतना ही नहीं, मैक्समूलर ने तो यहां तक कहा कि जीवन की समस्याओं का जो हल वेदों ने बतलाया है प्लेटो और कांट को उस पर मनन करना चाहिए। शोपनहार ने उपनिषदों को पढ़कर यह लिखा कि इनमें जीवन और मृत्यु की समस्याओं का जो हल दिया गया है उसे इनसे पा लेना मेरे जीवन की महती उपलब्धि है और औरंगज़ेब के बड़े भाई दारा शिकोह ने मुसलमान होते हुए भी उपनिषदों का अपनी भाषा में अनुवाद किया।

वेदों के विषय में हिन्दी तथा अंग्रेज़ी में अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं, प्रश्न हो सकता है कि फिर इस ग्रन्थ को रचने की आवश्यकता क्यों हुई। इस विषय में मेरा कथन निम्न है :

जब मैं कोई ग्रन्थ लिखता या पढ़ता हूँ तब मेरी आकांक्षा यह होती है कि जो–कुछ मैं लिखूँ या पढ़ूँ उसमें दूसरा वाक्य पहले वाक्य का तर्क–संगत परिणाम होना चाहिए और इस तरह सारा पैराग्राफ़ हर पहले वाक्य या विचार से जुड़ा होना चाहिए। अगर किसी ग्रन्थ में ऐसा नहीं होता, परन्तु फिर भी उसमें पाये जाने वाले प्रत्येक वाक्य से कोई असाधारण या विलक्षण विचार प्रकट होता है तो उसे मैं सुभाषित–संग्रह समझता हूँ। 'तर्कसंगत–ग्रन्थ'

नहीं। प्रश्न यह है कि क्या वेद सुभाषितों का संग्रह है, या इसे ग्रन्थ रूप में ही समझा जाना चाहिए। वेदों के सम्बन्ध में अब तक मेरे सम्मुख जो ग्रन्थ आये हैं उन्हें सुभाषित-संग्रह ही कहा जा सकता है, तारतम्य युक्त तर्कसंगत, वाक्यों या विचारों में परस्पर गुंथा हुआ ग्रन्थ नहीं। जो वेद-संग्रह प्रकाशित हुए हैं उनमें मंत्रों के ऐसे संग्रह का प्रयत्न नहीं किया गया जिससे प्रकट हो कि उन सब में एक ही विचार पिरोया हुआ है, या वे सब मंत्र परस्पर गुंथे हुए हैं। उनका नाम "शतक" तो रखा जा सकता है क्योंकि उनमें "असंबद्ध" सौ मंत्रों को चुन लिया गया है, परन्तु उन्हें "वेद" संज्ञा नहीं दी जा सकती "सुभाषित" संज्ञा दी जा सकती है।

वेदों के अध्ययन से मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि ज्ञान की दृष्टि से वे "ग्रन्थ" भी हैं, उनमें कई स्थल "सुभाषित" भी हैं। उन्हें मैं "ग्रन्थ" इसलिए कहता हूँ, क्योंकि उनमें अनेक स्थल एक विषय को या एक विचार को लेकर पाये जाते हैं। उन्हें मैं "सुभाषित" भी इसलिए कहता हूँ, क्योंकि उनके अनेक स्थलों को हम परस्पर गूंथ नहीं सकते, वे एक-दूसरे से स्वतंत्र हैं, परन्तु स्वतंत्र होते हुए भी अत्यन्त उच्च-कोटि के विचारों या अनुभवों से ओत-प्रोत हैं। इस दृष्टि से वेद मंत्रों के सम्बन्ध में उन्हीं ग्रन्थों का कोई महत्त्व है जिनमें या तो सिलसिलेवार, पारस्परिक गुंथा हुआ कोई विचार सारे 'सूक्त' या 'अध्याय' में हो, या जो मंत्र संग्रहीत किये जायें उन्हें सुभाषित कहा जा सके। मेरा विचार है कि अभी तक इस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं हुआ। सुभाषित इकट्ठे कर देने मात्र की तरफ़ तो अनेक प्रयत्न हुए हैं, परन्तु मेरे उक्त दोनों विचारों को क्रियान्वित करने का उपक्रम नहीं हुआ। "शतकम" नाम से जो लघु-पुस्तिकायें प्रकाशित हुई हैं उन्हें 'कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा' भर कहा जा सकता है। इन पुस्तिकाओं में मंत्रों की 'सौ' संख्या हो जाय—इस तरफ ध्यान अधिक दिया गया है, मंत्रों की गहराई की तरफ कम। "संख्या" और "गहराई" में भेद है। इस ग्रन्थ में हमारा ध्यान सौ-संख्या पर तो है ही, परन्तु मंत्रों के पारस्परिक-सम्बन्ध पर भी है, तभी 'संख्या' को सामने रखते हुए भी हमने 'सूक्तों' या 'अध्यायों' का चयन किया है।

कुछ साल हुए लन्दन में आर्य-महासम्मेलन हुआ था। क्योंकि वह पश्चिम के एक देश में हुआ था, जहां की भाषा

अंग्रेज़ी है, इसलिए वहां के देशवासियों की भाषा को ध्यान में रखते हुए मैंने एक ग्रन्थ लिखा था जिसमें वेद मंत्रों का संग्रह इस ढंग से किया गया था जिसमें वेद को एक ग्रन्थ भी कहा जा सके और उसमें सुभाषितों का भी समावेश हो। उस ग्रन्थ में 'पुरुष-सूक्त', 'नासदीय-सूक्त', 'हिरण्यगर्भ-सूक्त', 'इन्द्र-सूक्त' 'पृथ्वी-सूक्त', 'ब्रह्मचर्य-सूक्त', 'अघमर्षण-सूक्त', 'श्रद्धा-सूक्त', 'मृत्यु-सूक्त' आदि के समावेश के साथ कुछ प्रसिद्ध मंत्रों का भी संग्रह किया गया था जो स्वतंत्र रूप में वेद के अपने सुभाषित थे, यद्यपि वे किसी सूक्त-विशेष के अंग नहीं थे। उन्हें "प्रकीर्ण" रूप में दिया गया था। सूक्तों की दृष्टि से जो संग्रह किया गया था वह मुख्यत: ऋग्वेद के सूक्तों का था। अन्य वेदों के मन्त्रों का सूक्त या अध्याय के रूप में वह संग्रह नहीं था। उस ग्रन्थ का नाम "ग्लिंप्सेज़ ऑफ़ दि वेदाज़" था। उसमें पुस्तक के अन्त में कुछ मंत्र दिए गए थे जो वेद के विलक्षण मंत्र कहे जा सकते हैं, जिन्हें पढ़ या सुन कर पाश्चात्य विद्वान् भी आश्चर्य में पड़ जाते हैं कि ईसा से 3-4 हज़ार वर्ष पहले के मानव ने विचारों के इस उच्च शिखर को कैसे पाया? उस ग्रन्थ की 300 प्रतियां लन्दन कान्फ्रेंस में भेजी गई थीं परन्तु पता नहीं चला कि उनका क्या हुआ?

चार-पांच साल हुए मैं लन्दन गया था और वहां के आर्यसमाजी भाइयों से पूछा था कि उन 300 प्रतियों का क्या हुआ? वहां का कोई अधिकारी इस विषय पर प्रकाश न डाल सका। न तो वे बेची गईं, न बांटी गईं, कहते हैं कि सिर्फ लूट ली गईं और किसी योग्य-व्यक्ति के हाथ में ग्रन्थ की कोई प्रति नहीं आई।

कुछ मास हुए हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस से वेदों के अध्ययन का एक छात्र मुझे ढूंढता-ढूंढता मेरे घर आ पहुंचा और कहने लगा कि उसमें वेदों के "शतक" नाम के अनेक संग्रह देखे हैं किन्तु ऐसा कोई संग्रह नहीं देखा जिसमें चारों वेदों के पारस्परिक सम्बद्ध मंत्रों का 'सूक्त' या 'अध्याय' के रूप में संग्रह हो। या तो सम्पूर्ण वेदों का भाष्य मिलता है, या वेद के चुने हुए मंत्रों का, जो आपस में सबद्ध नहीं होते, उसका संग्रह मिलता है। अगर एक ही विषय के सूक्तों या अध्यायों का अर्थ-सहित संग्रह किया जाए तो वह वेदज्ञान के लिए अधिक उपयोगी होगा। मुझे उसने कहा कि हिन्दू विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में उसने

मेरी पुस्तक "ग्लिम्पसेज़ ऑफ दि वेदाज़" देखी है, जिसमें सिर्फ ऋग्वेद के सूक्तों का संग्रह है, अन्य शेष तीन वेदों का भी विषयवार संग्रह होना चाहिए, जो मैंने नहीं किया। चारों वेदों के भाष्य को पढ़ना तो अत्यन्त कठिन है, परन्तु चारों वेदों के चुने हुए सूक्तों या अध्यायों का अगर संग्रह कर दिया जाए तो उसमें वेदों की शैली तथा विषयवस्तु का ज्ञान प्रकट हो सकता है। वेदों में से असम्बद्ध मंत्रों का चयन वेद-ज्ञान के लिए पर्याप्त नहीं है। उस छात्र की बातों को सुनकर मैं भी सोचने लगा कि जैसे मैंने ऋग्वेद के चुने हुए सूक्तों या अध्यायों का संग्रह किया है, इस प्रकार अगर चारों वेदों में से सौ-सौ मंत्रों के सूक्तों या अध्यायों का सग्रह कर दिया जाए तो वह असम्बद्ध मंत्रों के ज्ञान से बेहतर होगा, और सम्पूर्ण वेद-ज्ञान के लगभग समान होगा, यद्यपि वह सम्पूर्ण वेद का ज्ञान नहीं होगा। सम्पूर्ण वेद के ज्ञान के लिए तो सम्पूर्ण वेद का पढ़ना ज़रूरी है। आर्यसमाज में समय-समय पर 'वेद-यज्ञ' होते रहते हैं। उन यज्ञों के समय वेदों का ज्ञान देने के लिए वह ग्रन्थ उपयोगी होगा क्योंकि उसमें चारों वेदों का सूक्त या अध्याय सहित समावेश होगा।

इस दृष्टि को सम्मुख रखकर मैंने कार्य करना शुरू कर दिया। ऋग्वेद के जिन सूक्तों का मैं अनुवाद कर चुका था वह तो हो ही चुका था परन्तु मेरी इच्छा थी कि ऋग्वेद की तरह यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा सामवेद से भी एक ही विषय के सूक्तों या अध्यायों का चयन किया जाय जिनकी हिन्दी तथा अंग्रेज़ी-इन दोनों भाषाओं में मंत्रों के नीचे भावार्थ या व्याख्या भी दी जाय जिससे यज्ञ में भाग लेने वालों को लाभ हो।

इस दिशा में मैं सोच ही रहा था कि एक दिन मैं गौतम नगर के गुरुकुल जा पहुंचा। वहां पं० मनोहर जी विद्यालंकार मिले। उनसे अपनी स्कीम की चर्चा की। मेरे सामने सामवेद के ही मंत्र चुनने की समस्या आ खड़ी हुई थी। क्योंकि सामवेद के अपने मंत्र कुल 75 हैं-उसका ज़िक्र उनसे किया। चारों वेदों के सूक्तनिष्ठ सौ-सौ मंत्र चुनने की सामवेद सम्बन्धी मेरी समस्या यह थी कि सामवेद में अपने जो मंत्र हैं वे 75 के लगभग हैं। अन्य सब मंत्र तो अन्य वेदों में मौजूद हैं। सामवेद के इन अपने मंत्रों को कैसे छांटा जाए? इस समस्या को सुनकर वे बोले-यह भी कोई समस्या है? स्वामी गंगेश्वरानंद जी ने "वामन सामवेद" नाम से एक ग्रन्थ प्रकाशित किया है जिसमें सिर्फ़ वे मंत्र दिए हैं

जो सामवेद के अपने हैं, अन्य वेदों में वे मंत्र नहीं हैं। वह ग्रन्थ मैं आपको दे दूंगा।

श्री मनोहर विद्यालंकार से श्री गंगेश्वरानन्द जी द्वारा प्रकाशित "वामन सामवेद" प्राप्त कर लेने के बाद मेरा ध्यान श्री लेखराम जी की तरफ़ गया। वे "आर्य जगत्"-पत्र में कई अंकों से सामवेद के मंत्रों की व्याख्या पद्यों में प्रकाशित कर रहे थे। "वामन सामवेद" में स्वामी गंगेश्वरानन्द जी ने 99 मंत्र चुने हुए हैं। उनकी हिन्दी में व्याख्या, मंत्रों की हिन्दी तथा अंग्रेज़ी में पद्य रूप में रचना का काम श्री लेखराम जी पर छोड़ कर मैंने इस ग्रन्थ की अपनी योजना के अनुसार रचना प्रारम्भ कर दी। इस पुस्तक में सामवेद के मंत्रों की व्याख्या, उनका हिन्दी तथा अंग्रेज़ी में पद्य में गायनात्मीकरण श्री लेखराम जी का प्रयास है जिसके लिए उनका कोटिशः धन्यवाद है। अन्य वेदों के सूक्तों तथा अध्यायों का चयन श्री गुरुचरणदास जी के प्रयत्न तथा सहयोग से हुआ है—जिसके लिए दोनों महानुभावों का धन्यवाद है।

इस ग्रन्थ में चारों वेदों से हर वेद के सूक्त या अध्यायनिष्ठ सौ-सौ वे मंत्र लिए गए हैं जिनसे हम लगभग परिचित ही हैं, जिन्हें हम प्रायः प्रतिदिन संध्या-हवन आदि कृत्यों में बोलते-पढ़ते रहते हैं, जिन पर पाश्चात्य विद्वान् इस दृष्टि से मुग्ध परन्तु साथ ही चिंतित हैं कि वेदों जैसे प्राचीन-काल में वहां का मनुष्य, जिसे वे विकासवाद की दृष्टि से जंगली कहते चले आये हैं, किस प्रकार विचार के इतने ऊंचे शिखर पर पहुंच गया था जो "नासदीय" आदि सूक्तों में पाया जाता है। हमने इस ग्रन्थ में उन प्रसिद्ध सूक्तों का समावेश किया है जिनके मंत्र पाश्चात्य-विद्वानों के लिए आश्चर्य का विषय बने हुए हैं। उदाहरणार्थ, पुरुष-सूक्त, नासदीय-सूक्त, हिरण्यगर्भ-सूक्त, इन्द्र-सूक्त, अग्नि-सूक्त, पृथ्वी-सूक्त, ब्रह्मचर्य-सूक्त, ईशावास्यम्-अध्याय, शिव-संकल्प-मंत्र, अघमर्षण-सूक्त आदि ऐसे सूक्त या अध्याय हैं जो वैदिक-संस्कृति को विचार के उच्च शिखर पर बैठा देते हैं। चारों वेदों के ये मंत्र बिखरे हुए मंत्र नहीं हैं, ये सूक्त हैं, अध्याय हैं, इनके विचार शृंखलाबद्ध हैं, एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं, जिस कारण हम इस ग्रन्थ को "सुभाषित-संग्रह" या "मंत्र-शतक" न कहकर एक "अनुशीलनात्मक-ग्रन्थ" (Research Thesis) कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ के अन्त में हमने उन मंत्रों का भी

संग्रह दिया है जो वेद में बहुदेवतावाद न होकर एकदेवतावाद तथा ईश्वर के पुरुष न होकर अशरीरी होने का प्रतिपादन करते हैं। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ के प्रणयन में जिन बातों पर विशेष ध्यान रखा गया है वे निम्न हैं :

(क) प्रत्येक वेद से ऐसे सूक्तों या अध्यायों का चयन किया गया है जो प्रत्येक वैदिक धर्मी के दिन-रात काम आते हैं, जिनसे वह बहुत-कुछ परिचित है और जिनका अर्थ समझने में उसे विशेष कठिनता नहीं होगी।

(ख) जहां तक संभव हो सकता है इन मंत्रों की संख्या प्रत्येक वेद से सौ-सौ के आस-पास कर ली गई है। चारों वेदों की इस ग्रन्थ में कुल मंत्र-संख्या 400 के लगभग हो गई है। प्रकीर्ण मंत्र इससे अलग हैं।

(ग) ऐसे सूक्तों या अध्यायों का संग्रह किया गया है जिन्हें विश्वविद्यालयों तथा गुरुकुलों की वेद-कक्षाओं में पढ़ाया जा सकता है।

(घ) सूक्तनिष्ठ ऐसे मंत्रों का संग्रह किया गया है जिन्हें प्रत्येक वैदिक-धर्मी अपने जीवन तथा अपने बाल-बच्चों तथा परिवार के लिए दिन-रात के उपयोग में ला सकता है।

(ङ) ऐसे सूक्तों का संग्रह किया गया है जो वैदिक विचारधारा के ज्वलन्त प्रतीक हैं, जो पाश्चात्य-विद्वानों की विकास-वादी विचारधारा के लिए चैलेंज हैं। इसके साथ वेदों के कुछ फार्मूले दिये गये हैं जो स्मरणीय हैं।

(च) ऐसे सूक्तों का चयन किया गया है जिनका "वेद-यज्ञों" में प्रयोग किया जा सकता है और जो पाठक में वेद की तथा इससे अधिक उसमें वेदज्ञान की रुचि उत्पन्न कर दें; वेद-यज्ञ करते हुए जिन मंत्रों के अर्थों को यजमान तथा यजमान-पत्नी दोनों समझ सकें।

उक्त आशयों से इस ग्रन्थ की रचना की गई है और यही इस प्रश्न का उत्तर है कि जब वेदों के विषय में हिन्दी तथा अंग्रेज़ी में अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं तब इस ग्रन्थ के रचने की क्या आवश्यकता है। इसी कारण इस पुस्तक का नाम "चतुर्वेद गंगा लहरी" रखा गया है। इसमें चारों वेदों से सौ-सौ मंत्र लेकर

उनका संग्रह मात्र नहीं कर दिया गया, प्रत्येक वेद से ऐसे स्थलों, सूक्तों, अध्यायों का संग्रह किया गया है जिसमें सौ-सौ मंत्र तो आ ही जाते हैं, परन्तु उन मंत्रों के साथ वे सूक्त या वे अध्याय, या वे स्थल भी आ जाते हैं जिनमें शृंखलाबद्ध रूप से वे मंत्र बंधे हैं। ये मंत्र बिखरे-बिखरे, असम्बद्ध पड़े हुए न होकर परस्पर सम्बद्ध हैं जैसा कि प्रौढ़ विचारों की पुस्तक में होना चाहिए-यही इस पुस्तक की विशेषता है। इसके साथ प्रत्येक मंत्र का भावार्थ हिन्दी तथा अंग्रेज़ी-दोनों भाषाओं में दिया गया है जिससे ग्रन्थ की देश-विदेश के लिए उपयोगिता बढ़ गई है।

ग्रन्थ की रचना इस प्रकार की गई है कि आप हिन्दी-भाग पढ़ते जाइये, अंग्रेज़ी-भाग को छोड़ते जाइये, तो आप अनुभव करेंगे कि एक तारतम्ययुक्त हिन्दी-ग्रन्थ को पढ़ रहे हैं जिसमें सारा सूक्त या सारा अध्याय एक ही विषय में बंधा हुआ है; इसी प्रकार आप सिर्फ़ अंग्रेज़ी-भाग पढ़ते जाइये, हिन्दी-भाग को छोड़ते जाइये, तो आप अनुभव करेंगे एक तारतम्ययुक्त अंग्रेज़ी-ग्रन्थ को पढ़ रहे हैं जिसमें सारा सूक्त या अध्याय एक ही सूत्र में बंधा हुआ है। यह सब-कुछ इसलिए किया गया है ताकि यह ग्रन्थ हिन्दी-भाषा तथा आंग्लभाषा-भाषी-दोनों प्रकार के पाठकों के लाभ आए। इस प्रकार यह ग्रन्थ एक ग्रन्थ का ही प्रयोजन सिद्ध नहीं करता, तीन ग्रन्थों का प्रयोजन सिद्ध करता है।

सामवेद सबसे छोटा वेद है। इसकी अधिकांश ऋचायें ऋग्वेद में हैं। फिर भी प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार सामवेद का सबसे अधिक महत्व कहा गया है। भगवत् गीता (10.22) में कहा है कि-**"वेदानां सामवेदोऽस्मि"**-वेदों में मैं सामवेद हूं। अर्थात् जैसे कोई कहे कि फलों में मैं अंगूर हूं या सेव हूं, तो इसका अभिप्राय यह होता है कि जिस प्रकार फलों में अंगूर या सेव का सर्वोपरि स्थान है उसी प्रकार जब यह कहा कि वेदों में मैं सामवेद हूं तो इसका अभिप्राय यही हो सकता है कि वैदिक वाङ्मय में जैसे वेदों का सर्वोपरि स्थान है वैसे ही वेदों में सामवेद का सर्वोपरि स्थान है। महाभारत में भी अनुशासन पर्व (14.317) में कहा है-**"सामवेदश्च वेदानाम्"**-अर्थात् वेदों में मैं सामवेद हूं। प्रश्न यह उठता है कि सामवेद का वेदों में सर्वोपरि स्थान क्यों कहा गया है?

इसका उत्तर यही प्रतीत होता है कि क्योंकि ऋक्, यजु, अथर्व में केवल मंत्र हैं; सामवेद में वे मंत्र तो हैं ही, परन्तु साथ

ही उन्हीं मंत्रों को गानपरक गाया गया है–यही सामवेद की अन्य वेदों से विशेषता है। इसमें मंत्र भी वही है जो प्रायः ऋग्वेद आदि से लिए गए हैं, साथ ही इन मंत्रों के साथ सस्वर गान भी है। जहां ऋग्वेद में हज़ारों मंत्र हैं, वहां सामवेद में कुल 70-75 अपने मंत्र हैं, इन 70-75 के अतिरिक्त भी सामवेद में मंत्र हैं, परन्तु वे ऋग्वेद या अन्य वेदों के हैं, परन्तु वे भी सभी मंत्र गानपरक हैं–यही सामवेद की अन्य वेदों से विशेषता है। इसी विशेषता के आधार पर हमने इस पुस्तक में सामवेद के मंत्रों को कविता में भी लिखा है। सामवेद की विशेषता इसका गानपरक होना है–इस बात को जैमनी सूत्र (2.1.36) में **"गीतिषु सामाख्या"**–यह कहकर स्वीकार किया गया है। सामवेदीय मंत्रों का पद-पाठ तथा गान-पाठ दोनों होता है; अन्य वेदों का सिर्फ़ पद-पाठ होता है, गान-पाठ नहीं।

सामगान जिन स्वरों में गाया जाता है उसे नारदीय शिक्षा में 'स्वर-मंडल' कहते हैं। 'स्वर-मंडल' के जिन रूपों मे उद्गाता लोग ऋचाओं को गाते हैं उनके छः रूप हैं। वे छः 'रूप' हैं–विकार, विश्लेषण, विकर्षण, अभ्यास, विराम तथा स्तोम। ऋग्वेदस्थ सामवेदीय ऋचाओं को उदात्त-अनुदात्त तथा निम्न छः साम-स्वरों में भी गाते हैं–इसी कारण सामवेद का सर्व वेदों में सर्वोपरि स्थान है। ऋचाओं को इन स्वरों में गाते हुए उनका पद्-च्छेद करते हैं जिसके उदाहरण निम्न हैं–

(क) विकार–"अग्ने" को 'विकार' स्वर में गाते हुए निम्न प्रकार गायेंगे–ओग्नायि।

(ख) विश्लेषण–"वीतये" को 'विश्लेषण' स्वर में गाते हुए निम्न प्रकार गायेंगे–वोयि तोया २ यि।

(ग) विकर्षण–"ये" तो 'विकर्षण' स्वर में निम्न प्रकार गायेंगे– या ३ यि।

(घ) अभ्यास–"तोयाऽयि" को 'अभ्यास' में गाते हुए निम्न प्रकार गायेंगे–तोया३यि तोया३यि–दो वार गाना अभ्यास कहलाता है।

(ङ) विराम–"गृणानो हव्यदातये" को निम्न स्वर में गायेंगे–'गृणानोह, व्यदातये, गृणानोह व्यदातये'–गान-सौकर्य को 'विराम' कहते हैं। इस प्रकार शब्दों का गाने में भेद कर देना विराम कहलाता है।

(च) स्तोम–कोई विलक्षण वर्ण मंत्र के बीच में डाल देना 'स्तोम' कहलाता है–यथा "औहोवा" या "होऊ"–मन्त्रोच्चारण बीच में ये शब्द गा दिए जाते हैं। यह स्तोम कहलाता है।

इन 'स्वर-मंडलों' के साथ जब मंत्र-गान होता है तब उसे साम-गान कहते हैं, अन्यथा मंत्र-पाठ मंत्रपाठ ही कहलाता है, सामगान नहीं कहलाता। मंत्रों का सिर्फ़ साधारण तौर पर मंत्रपाठ हो सकता है, या उन्हीं मंत्रों का विकार, विश्लेषण आदि द्वारा सामगान भी हो सकता है। मंत्रों के इस द्विविध उच्चारण कर सकने के कारण सामवेद को अन्य वेदों से अधिक महत्व का मानते हैं।

भिन्न-भिन्न ऋषियों ने मंत्रों का सहस्त्रों प्रकार से गान किया है। जिस ऋषि ने मंत्र का जिस प्रकार गान किया है वह गान उस ऋषि के नाम से प्रसिद्ध है। उदाहरणार्थ, गौतम ऋषि की टैकनीक से मंत्रों का गान "पर्क"-गान कहलाता है; कश्यप ऋषि की टैकनीक से मंत्रों का गान "बर्हिषि"-गान कहलाता है–इत्यादि, इत्यादि। इस प्रकार ऋग्वेद या अन्य वेदों के मंत्रों के गान को उन-उन ऋषियों के नाम से जाना जाता है। अगर 20-25 या 50 ऋषि अपने-अपने ढंग से ऋचाओं का गान करेंगे, तो वे मंत्र उन-उन ऋषियों के नाम से जाने जायेंगे।

सामवेद दो भागों में विभक्त है–पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक का अर्थ है–प्रारम्भ के मंत्र। उत्तरार्चिक का अर्थ है–पीछे के मंत्र। पहले के मंत्रों का अर्थ है–जीवन के पूर्व-भाग से सम्बन्ध रखनेवाले मंत्र। पीछे के भाग से सम्बन्ध रखनेवाले मंत्रों का अर्थ है–जीवन के पीछे के भाग से सम्बन्ध रखने वाले मंत्र। जीवन का पहला भाग संसार के भोग का पक्ष है जिसे 'भौतिकवाद' कहा जा सकता है; जीवन के पीछे का भाग त्यागवाद का पक्ष है जिसे 'अध्यात्मवाद' कहा जा सकता है। श्री एस०वी० गणपति अपनी अंग्रेज़ी पुस्तक 'SAMAVEDA' के पृष्ठ vii में लिखते हैं कि इस वेद के मंत्रों को दो भागों बांटा गया है–वे मंत्र जो-ग्रामों (शहरों) में गाये जाने चाहियें, और वे मंत्र जो सिर्फ़ वनों (जंगलों) में गाने चाहियें, ग्रामों में नहीं। इसी दृष्टिकोण को सम्मुख रखकर पूर्वार्चिक तथा उत्तरार्चिक मंत्रों का अर्थ समझना चाहिए।

(GIST OF THE ABOVE)
INTRODUCTION

The main object of this book is that it is not a ramdom collection of *Veda Mantras,* but we have tried to collect *suktas* or chapters from the four *Vedas* which contain the relevant *mantras.* Simply collecting *mantras* does not project the image of the *Vedas* as such; that becomes a SIMPLE COLLECTION of some important *mantras* from the *Vedas* which may not be connected with each other. By presenting a COMPLETE SUKTA or CHAPTER in which every *mantra* is connected with the previous and the subsequent one, we present a COMPLETE BOOK. The *Vedas* are not a random collection of irrelevant *mantras.* All the substance contained therein is relevant and connected. The idea contained in the previous *mantra* must be logically related to the following idea. That is the way we think, that is the way we write. This is the justification of this book you have in hand.

There are several collections in the market of *Veda Mantras* which are called *Shatakams* (शतकम्) which means a collection of one hundred *mantras* from the *Vedas,* but they neither give meanings nor think of relevance. They simply collect one hundred *mantras* from each *Veda.* Their emphasis is on NUMBER, not on DEPTH AND MEANING. This book serves both the purposes. Effort has been made to see that from every *Veda* 100 or so important *mantras* are culled, and also that they are relevant and connected, that is, every *mantra* is related to the previous and subsequent *mantra.* Hence, we have dealt with not with stray and random *mantras* from the four *Vedas,* but with Chapters or *Suktas* from the *Vedas.* Besides, our object has been to collect such *Suktas* where the total number of the *mantras* contained therein comes to about one hundred or one or two more. Thus it serves the purpose of *Shatakam*

(शतकम्) also.

We have dealt with those *Suktas* which have excited the imagination of Sanskrit knowing western scholars like Max Muller and others; who have expressed surprise at the height of philosophical understanding to which the ancient Rishis of the *Vedas* had reached. Their problem is: how could Indian saints, thousands of years ago, entertain theoretical ideas at a time when, according to their theory of evolution, man was roaming about as an uncivilized person. The most important *Suktas* which have baffled the imagination of Western Scholars are *Purush-Sukta, Naasadiya-Sukta, Brahmacharya-Sukta* and several others. We have culled all these *Suktas* from the four *Vedas* and dealt with them in their proper place.

Our method has been to translate them first in Hindi, then to give their gist in English and lastly to give the sum and substance of the material in the form of an Epilogue.

Saamveda is the smallest *Veda; Rigveda* is the biggest. *Rigveda* contains 10, 472 verses; *Yajurveda* 1975; *Atharva Veda* 5,977; and *Saamveda* 1875 or 99 or 75 verses. Most of its verses are in *Rigveda.*

Inspite of *Saamveda* being the smallest as regards the number of *mantras,* it is given the highest place as to its position amongst the *Vedas*. The *Gita* says : "I am *Saamveda* amongst the *Vedas*" (10.22); ***Mahabharata*** says: "Amongst the *Vedas* I am *Saamveda*". All this means that as amongst the Ministers, the Prime Minister commands the highest position because of his rank, so amongst the books of knowledge the *Saamveda* commands the highest position due to its musical contents by way of homage addressed to the Almighty. But something more :

The question is what is there in the *Saamveda* which accords it the highest place amongst the *Vedas*? The answer is that though the *Rigveda* contains the highest number of verses, yet when these verses become part of *Saamveda* they are sung in *Saam* technique, and not in their ordinary method of high-pitch—*Udaatta* (उदात्त) and low-pitch—*Anudaatta* (अनुदात्त). The *Saamveda* technique is based on music—*(swar);* the *Rigveda* technique is based on pitch—high or low. According to *Naaradeeya Shikshaa* (नारदीय शिक्षा), there are six varieties of *swar* (स्वर) which together form *swar-mandal* (स्वर मंडल). The object of the *swar-mandal* is to affect the utterances of the words of the *Vedic* verses, as the pronunciation of the same *mantra* in the *Rigveda* and *Saamveda* is different from each other. As the same *mantra* in *Rigveda* has only one sort of pronunciation in the form of high pitch and low pitch, but when it forms part of *Saamveda* its pronunciation is affected or changed by *Saamvedic* technique of different musical notes called *Swar*. Hence, due to this difference which affects the pronunciation of the *mantra*, it is given a higher place in Vedic literature compared to other *Vedas*, The difference in status is not due to any content, but is due to the technique of musical utterances. The *swar-mandal* affecting the note of song is of the following nature :

1. **Vikar (विकार)**	(Change of words): अग्ने is pronounced or sung as ओग्नायि.
2. **Vishleshan (विश्लेषण)**	(Splitting of words): वीतये is sung or pronounced as वोयि तोया 2 यि.
3. **Vikarshan (विकर्षण)**	(Splitting and lengthening of words): ये is sung or pronounced as या 3 यि.
4. **Abhyaas (अभ्यास)**	(Repetition): तोया 2 यि as तोया 2 यि, तोया 2 यि. It is sung or pronounced twice;
5. **Viraam (विराम)**	(Rest between words): 'गृणानो हव्यदातये' is sung or pronounced as "गृणनोह" rest here or विराम "व्यदातये".

6. **Stom (स्तोम)** (Interpolation)—Redundant works interpolated between words as हाऊ-ओहावा.

When SAAM is sung with these 'SWAR-MANDAL-TECHNIQUES', then it is called SAAM-GAAN; otherwise to sing-*mantras* as they are in any of the *Vedas*, is called MANTRA-PAATH or 'पद-पाठ'. Different Rishis have sung SAAMVEDA in different ways, making use of the above-mentioned techniques of music. The technique used by Rishi Gautam is called 'PERK'; the technique used by Rishi Kashyap is called 'BARHISHI', and so on and so forth.

Most of the verses of *Rigveda* are included in the *Saamveda* and are sung in *Saamveda* Technique also, of splitting words mentioned above. This Technique is called *Pad-Chhed*—पद-च्छेद.

The reason why *Saamveda* enjoys the highest position among the *Vedas* is that all its *Mantras* enjoy TWO positions—First, of Simple Reading in high pitch—उदात्त and low pitch—अनुदात्त and Second, of *Swar* (स्वर), that is, the technology of *Swar-Mandal* (स्वर मंडल)—'गीति' or 'स्वर' or 'पद-च्छेद' though the meaning of the verse remains the same. *Swar* technology applies to *Saamveda* only.

Saamveda is divided in TWO PARTS—*Purvarchik* (पूर्वार्चिक) and *Uttararchik* (उत्तरार्चिक). *Purvarchik* means the earlier or (पूर्व) first part; *Uttararchik* means the latter or (उत्तर) second part. The earlier part contains the *mantras* of Physical Life; the latter part contains the *mantras* of Spiritual Life. In my opinion, the interpretation of both the parts should be done in that spirit only.

As the *mantras* (verses) in *Saamveda* are in the form of poetic homage addressed to the ALMIGHTY GOD, hence we are offering translation of *Saamveda* verses in POETRY.

The special feature of this book is that the sum and substance of the *Sukta* or Chapter of the *Veda* dealt with is first given in Hindi and later in English, hence the book though ONE can be styled as THREE, for the reason that for Hindi knowing people it can be called a Hindi-Book; for English knowing people it can be called an English-book; and for people knowing both the languages it can be called Hindi plus English Book.

The book has been so devised that if you read only the Hindi-portion, leaving aside the English-portion, you will feel that you are reading a Hindi-book in which the whole matter is mutually connected; similarly, if you read only the English-portion, leaving aside the Hindi-part, you will feel that you are reading an English-book. This has been so done, so that the book may be useful for both Hindi and English knowing public. In this maner the book serves the purpose not only of ONE BOOK, but of THREE BOOKS-Hindi, English and Hindi plus English. By reading it continuously in one language the participant *Yajmans,* knowing that language, will understandably feel that they are actually taking part in that function. Otherwise, hearing *Sanskrit Mantras* without knowing their meaning, one is out of tune with the function.

Rigveda represents KNOWLEDGE (ज्ञान), Yajurveda represents ACTION (कर्म), and *Saamaveda* represents WORSHIP (उपासना), and therefore these three together are called TRIAD OF VEDA—वेदत्रयी. When we consider all the four *vedas* together, they are called VEDA CHATUSHTAYA—वेद-चतुष्टय.

Moreover, *Rigveda* represents ज्ञानकांड, Yajurveda represents कर्मकांड and Saamveda represents उपासना कांड.

I hope this attempt will be appreciated by both the Hindi-knowing and English-knowing people and, particularly, by Hindus residing in western countries who want to remain in touch with the culture of their mother-land, though residing in a foreign country.

'*Surging Waves of Veda Ganga* has been written with a view to giving a first-hand knowledge to the English-knowing public, of what the *Vedās;* which in the words of Max Muller are the oldest books in the library of mankind contain, and to stimulate thought among scholars to evaluate the intellectual calibre of those whose thoughts they are said to represent.

India has been the repository of the *Vedas*. Having read, studied, and translated the *Vedas,* Prof. Max Muller wrote in his book "India : What can it teach us":

"If I were to look over the whole world to find out the country most richly endowed with all the wealth, power, and beauty that nature bestows-in some parts a very paradise on earth-I would point to India. If I were asked under what sky the human mind has most fully developed some of the choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems of life and has found solution of some of them which well deserve the attention even of those who have studied Plato and Kant—I would point to India. And if I were to ask myself from what literature we, in Europe, we who have been nurtured almost exclusively on the thoughts of Greeks and Romans, and of one Semetic race, the Jews, may draw that corrective which is most wanted in order to make our inner life more perfect, more comprehensive, more universal, in fact, more human, a life, not for this life only, but a transfigured and eternal life—again I would piont to India."

Sir Willian Jones, a judge of the Calcutta High Court and who was the founder of Asiatic Society in Calcutta, wrote :

"It is impossible to read the *Vedant* or many fine compositions in illustration of it, without believing that Pythogoras and Plato derived their sublime theories from the same fountain with the sages of India."

Shopenheur, a great German scholar, having read the translation of the *Upanishads* which are the expositions of the *Vedas,* exclaimed :

"In the whole world, there is no study so beneficial, so elevating as that of the *Upanishads.* It has been the solace of my life, it will be the solace of my death."

Romain Rolland, a French philosopher, who studied the philosophical thoughts contained in the *Vedas* and in the *Upanishads,* said :

"If there is one place on the face of the earth where all dreams of living men have found a home from the very earliest days when men began to deram of existence, it is India."

A French scholar, named Jacolliot, wrote in his book Bible in India (Vol. II, Chapter I) :

"Astonishing fact! The Hindu revelation *(Veda)* is of all revelations the only one whose idea are in perfect harmony with Modern Science, as it proclaims the slow and gradual formation of the world."

Mr. Maeterlink, the Nobel Prize winner, relating to the *Naasadiya Sukta* of the *Rig Veda,* writes in his book "The Great Secret":

"Is it possible to find in our human annals, words more majestic, more full of solemn anguish, more august in tone, more terrible? Where could we find at the very fountain of life a completer and more irreducible confession of ignorance? Where, from the depths of our agnosticism, which thousands of years have augmented, can we point to a wider horizon? At the very outset it passes all what has been said, and goes further than we shall ever dare to go, lest we fall into despair, for it does not fear to ask itself whether Supreme Being knows what He has done—knows whether He is or is not the Creator, and questions whether He has become conscious of Himself".

Dr. Alfred Wallace, the co-discoverer of the theory of evolution with Darwin, writes in his book "Social Environment and Moral Progress" :

"The wonderful collection of hymns known as the *Vedas* is a vast system of religious teachings as pure and lofty as those of the finest portions of the Hebrew scriptures. Its authors were fully our equals in their conception of the universe and the Deity expressed in the finest poetic language". (p.11)

"In it we find many of the essential teachings of the most advanced thinkers". (p. 13)

"We must admit that the mind which conceived and expressed in appropriate language such ideas as are everywhere present in those *Vedic* hymns, could not have been inferior to those of our very best religious teachers and poets, to our Milton, Shakespeare and Tennyson". (p. 14)

Dr. Alfred Wallace, believing as he did in physical evolution, was in a fix as to how there could be a conciliation between the concept of physical-evolution and that of social-evolution in the face of the highest thoughts contained in the *Vedas* which are considered as the products of the highest antiquity.

What is the age of the *Vedas*. According to Hindu conception the *Vedas* are eternal and were revealed in the beginning of creation. But let us not go by what the Hindus believe. Let us see what the Western scholars have to say in this regard. Prof. Max-muller says in his Physical Religion (p. 18) :

"Whether the *Vedic* hymns were composed in 1000 or 1500 or 2000 or 3000 years B. C. no power on earth could ever fix".

Jacobi, another *Vedic* scholar of world-wide fame, has fixed 4500 B.C. for the *Rig Veda* on astronomical calculations.

Anyhow, the fact remains that the *Vedas* are admittedly the oldest books in the library of mankind and go far back in time of history, when according to the theory of evolution mankind had not set its pace on progress and civilization. The question the western scholars have to solve is as to how these books do contain thoughts which outdo the modernmost thinking.

We have not picked up stray mantras (verses) from the *Vedas*. We have translated *Sukta* after *Sukta* (Chapter after Chapter) and shown a consistent thought running throughout as a thread in a rosary. We have, at the end, also given selected mantras containing the highest thoughts humanity has ever dreamt of.

It is for the reader to assess objectively the psychological, spiritual and the cultural content of the *Vedas* from the material placed before him.

Satyavrata Siddhantalankar

W-77 A, Greater Kailash-I
New Delhi-110048.
Phone : 6484790

Publisher's Note

There were a few misprints/errors in the earlier edition which have been corrected in the present edition.

ऋग्वेद ज्ञान-गंगा-लहरी (106 मंत्रा:; Verses)
(SURGING WAVES OF RIGVEDA GYAN-GANGA)

1. अग्नि-सूक्त (The fire as the Supreme Lord)	9 Mantras
2. नासदीय-सूक्त (The Doubting Mind)	7 Mantras
3. हिरण्यगर्भ-सूक्त (Creation by Hiranya Garbha—Nebula)	10 Mantras
4. इन्द्र-सूक्त (The Mighty Indra)	15 Mantras
5. संवनन-सूक्त (Vedic Socialism)	4 Mantras
6. मन-आवर्तन-सूक्त (Calling back the mind to the centre)	12 Mantras
7. श्रद्धा-सूक्त (Devotion, Dedication and Faith)	5 Mantras
8. मृत्यु-सूक्त (About Death)	14 Mantras
9. अघमर्षण मंत्रा: (Smashing of Sin)	3 Mantras
10. उषा-सूक्त (Devotion to Dawn)	7 Mantras
11. सोम-सूक्त (Path of Peace)	6 Mantras
12. द्यूत-सूक्त (Away from Gambling)	14 Mantras

I

ऋग्वेद ज्ञान-गंगा-लहरी

अग्नि-सूक्त—Agni Sukta

[The Fire As The Supreme Lord]

१. **अग्निमीडे पुरोहितम् यज्ञस्यदेवमृत्विजम्।**
होतारं रत्नधातमम्॥ १॥

भावार्थ—मैं "अग्नि" की स्तुति करता हूं। अग्नि का आधिभौतिक अर्थ आग है; आधिदैविक अर्थ जीवनी-शक्ति है; आध्यात्मिक अर्थ तेजः स्वरूप भगवान् है। मैं यज्ञ-कुण्ड में प्रदीप्त सब प्रकार के मलों को भस्म कर देने वाली आग की; जीवन में अग्नि समान कार्यशील जीवनी-शक्ति की; तेजः स्वरूप भगवान् की उपासना करता हूं। यह अग्नि "पुरोहितम्" है—मेरे सम्मुख विद्यमान है। यज्ञ-कुंड में अग्नि की लपटों के रूप में, शरीर में आत्मदेव के रूप में, संसार में परमात्म-देव के रूप में सामने दीख रहे हैं। आधिभौतिक आधिदैविक तथा आध्यात्मिक रूप में सब जगह दीखने वाला अग्नि "ऋत्विज्" है—ग्रीष्म, शरद्, वृष्टि आदि ऋतुओं को जन्म देता है; जीवन में आशा, निराशा, उत्साह को आधिदैविक तथा आध्यामिक रूप में उत्पन्न करता है—इनका "होता" है। जैसे भौतिक-जगत् में मनुष्य धन-धान्य आदि रत्नों को पाना चाहता है, वैसे आत्मिक-जगत् में आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक में मैं आदर्श-जीवन को प्राप्त करूं।

I worship Agni in its three phases—Material, Psychological and Spiritual. Agni is in front of me and let it guide me in my life, treating it as a sacrifice, the end object being the attainment of the highest and the purest—as materially the object is the possession of wealth of every man.

२. **अग्निः पूर्वेभिः ऋषिभिरीड्यः नूतनैरुत।**
स देवाँ एह वक्षति॥ २॥

भावार्थ—अग्नि की स्तुति प्राचीन तथा अर्वाचीन—सभी ने की है। वही स्तुति-योग्य अग्नि हमें दिव्य गुणों को प्राप्त कराये।

The Agni-Deva that I have worshipped and which has been worshipped by the Saints and Sages long ago may enrich me with divine qualities.

३. अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे।
यशसं वीरवत्तमम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—अग्नि की स्तुति, प्रार्थना, उपासना से दिन-दिन पुष्टिकारक धन-धान्य, यश तथा वीरता प्राप्त होती है।

By the worship of Agni one attains all material wealth, name and fame day by day.

४. अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि।
स इद् देवेषु गच्छति ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे अग्ने! जिस प्रेममय यज्ञ को आपने चारों तरफ से सहारा दिया है मानों जैसे उसे अपने सहारे से लपेट लिया है, सहारे की वह भावना सब दिव्य-गुणधारियों के हृदय में पहुँच कर इस यज्ञ-भावना की पुष्टि करे। **"ध्वरति इति हिंसा कर्मा"**—इस धातु से "अध्वर"-शब्द बना है—'अध्वर' अर्थात् "अहिंसा" अर्थात् "प्रेम"।

Oh Agni, You have enveloped everything of the world with a sense of sacrifice. The spirit of sacrifice may go round the world.

५. अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्र श्रवस्तमः।
देवो देवेभिराभरत ॥ ५ ॥

भावार्थ—हे अग्नि, आप होता हो, जो लेते हो उससे बढ़कर देते हो। आपका जो गुणगान सुनते हैं, आप उससे भी महान् हो। आप सत्य रूप हो, आपकी विविध रूप कीर्ति का कोई अन्त नहीं। आप अपने दिव्य गुणों को हमारे भीतर ले आओ।

Oh Agni, thou art 'Hota'—the amount thou givest, returnest it thousand fold. Thou art the truth. There is no end to thy glory, there is no end to thy fame. Come to us with thy glorious virtues.

६. यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि।
तवेतत् सत्यमङ्गिरः॥ ६॥

भावार्थ–हे मेरे अंगों के अंग, जो भी जीवन रूपी यज्ञ में अपनी आहुति देता है, आप सदा उसका कल्याण करते हो। हे मेरे अंगों के अंग–यह बात नितान्त सत्य है।

Oh Being of my Being, whosoever gives himself in the service of mankind, thou doth good to him. Oh my Dear, this is an absolute truth.

७. उपत्वामग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि॥ ७॥

भावार्थ–हे अग्ने! हम लोग दिन-रात प्रतिदिन बुद्धिपूर्वक आपकी शरण आते हैं और नमस्कारों को भर-भर आपके सम्मुख नमन करते हैं।

Oh Agni, we come unto you intelligently and bow down before you with all respect at our command.

८. राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्।
वर्धमानं स्वे दमे॥ ८॥

भावार्थ–हे अग्ने! आप अहिंसकों में शिरोमणि होकर चमक रहे हो, जो अहिंसा-व्रती होकर अमर हो गये हों, वे प्रतिदिन जीवन-धाम में उत्तरोत्तर वर्धमान होते हैं, जीवन की ऊंचाई को पाते हैं।

Oh shining Agni, thou art at the top of the non-violent; thou art always on the alert to protect those who lay down their life for higher causes and become deathless. They resort to thee and grow in name and fame under thy care.

९. स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव।
सचस्वा नः स्वस्तये॥ ९॥

भावार्थ–हे अग्ने, जैसे पिता अपने पुत्र के लिये उसका रक्षक होता है, उसी तरह हमारे पिता के रूप में आप हमारा कल्याण करें।

Oh Agni, Just as father is a benefactor and protector of his son, similarly be as a father and protector and benefactor for us.

उपसंहार

अग्नि-सूक्त में "अग्नि" शब्द का प्रयोग तीन स्तरों पर किया गया है—भौतिक-स्तर, मनोवैज्ञानिक-स्तर तथा आध्यात्मिक-स्तर। भौतिक-स्तर पर अग्नि का वर्णन करते हुए परमात्मा को अग्नि रूप में इसलिये देखा गया है कि जैसे भौतिक-अग्नि संसार के कूड़ा-करकट को भस्म कर देती है, वैसे भगवान् की लगन के व्यक्ति के मन में वह आग जल उठती है, जो उसके भीतर के कुविचारों को भस्म कर देती है। ईश्वर की लगन का व्यक्ति दुर्विचारों के निकट ही नहीं जा सकता। मनोवैज्ञानिक-स्तर पर भगवान् की लगन वाले व्यक्ति का चित्त, मन, बुद्धि सदा उज्ज्वल रहते हैं, ऐसा व्यक्ति राग-द्वेष से मुक्त रहता है, उसका मन सभी विकारों से मुक्त रहता है। "अग्नि"-शब्द का आध्यात्मिक स्तर पर प्रयोग इसलिये किया जाता है कि वह ऐसी आग है जिसे वह लग जाती है वह संसार के बंधनों से मुक्त हो जाता है। मनुष्य का अन्तिम ध्येय मुक्ति ही तो है।

EPILOGUE

God as an Agni has been viewed in his three phases—Physical, Psychological and Spiritual. Physically He is seen as a blazing fire in Yajna which destroys all the filth of the world as physical fire does. Psychologically He is seen as the vital force in the body which gives health, and happiness as the purity of soul does. Spiritually He is regarded as Par Brahma.

2

नासदीय-सूक्त–Nasadiya Sukta

[The Doubting Mind]

नासदीय-सूक्त ऋग्वेद के 10वें मंडल का 129वां सूक्त है। इस सूक्त के प्रथम मंत्र का प्रारम्भ "नासत्"-शब्द से हुआ है जिसका अर्थ है–'असत्' नहीं हो सकता, 'सत्' मानना पड़ता है।

इस सूक्त की तरफ पाश्चात्य-विद्वानों का ध्यान बरबस गया है। उन्हें इस बात से आश्चर्य होता है कि सुदीर्घ-काल के वैदिक ऋषियों के विचारों की इतनी उड़ान कैसे हुई। मैटरलिंक ने अपनी पुस्तक "दि ग्रेट सीक्रेट" में ऋग्वेद के इस सूक्त के विषय में लिखते हुए कहा है :

"क्या मानव-इतिहास में कहीं इतने शानदार, मानसिक पीड़ा से भरे हुए, उच्चकोटि के, थरथराने वाले शब्द पाये जा सकते हैं? क्या मानव के आदि-काल में यह संभव है कि मनुष्य ऐसे उद्गार प्रकट करे जिनसे प्रकट हो कि वह अपने अपरिहार्य अज्ञान से घिरा है? आज हम अज्ञेयवाद के गर्त में पड़े हैं, जो दिनोंदिन बढ़ता चला जा रहा है–क्या हम सोच सकते हैं कि आदि-काल का मानव हमारी तरह उस अज्ञान में से निकलने का प्रयास कर रहा होगा? इस सूक्त के प्रारम्भ में ही ऋषि अब तक अज्ञेयवाद के विषय में जो-कुछ हम कह सकते हैं, वह कहकर निडर होकर इस अज्ञेयवादिता से आगे बढ़कर निराशा के गर्त में डूबकर कहता है कि उसे सन्देह है कि सृष्टिकर्ता ने जो-कुछ किया है उसे वह भी जानता है या नहीं जानता कि यह सब-कुछ उसने ही किया है।"

मैटरलिंक का जो उद्धरण हमने दिया है, उसके अतिरिक्त मैक्समूलर भी इस सूक्त के विषय में लिखते हैं–"मैंने 1859 में 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर'-पुस्तक में नासदीय-सूक्त का अनुवाद करते हुए लिखा था कि यह सूक्त जो-कुछ कहता है वह तो ठीक है ही, परन्तु ऐसे प्रश्न उठाने के लिए बहुत अधिक समय बीतने की जरूरत है, सृष्टि के प्रारम्भ में ही मनुष्य के लिये ऐसी शंकाएं करने लगना आश्चर्यजनक है।"

आइये, देखें मैटरलिंक तथा मैक्समूलर के विचारों का आधार यह सूक्त क्या कहता है :

The *Nasadiya Sukta* is the 129th *Sukta* of the 10th mandal of the *Rig Veda*. The first word of the first *mantra* of the *Sukta* begins with the word *Nasat*—नासत्—which means not-non-existent.

The *Sukta* has attracted the attention of western scholars so much that they have wondered how the Rishis of the Vedic period could soar so high in imagination and could be credited with such intellectual flights. Materlink, quoting the *Rig Vedic* verses of the *Sukta*, writes in The Great Secret :

"Is it possible to find in our human annals, words more majestic, more full of solemn anguish, more august, more terrible? Where could we find at the very fountain of life a completer and more irreducible confession of ignorance? Where from the depths of our agnosticism, which thousands of years have augmented, can we point to a wider horizon? At the very outset it passes all that has been said, and goes further than we shall ever dare to go, lest we fall into despair, for it does not fear to ask itself whether Supreme Being knows what He has done, knows whether He is or is not the creator, and questions whether He has become conscious of Himself".

Max Muller in The *Vedas* (pp. 80-81), while writing on this very *Sukta,* says :

"I have remarked several time before that the *Rig Veda* contains some very striking philosophical passages and how far the *Vedic* poet must have been carried by purely metaphysical speculations may be seen by a hymn which I translated in 1859 in my book History of Sanskrit Literature. This hymn is important not only by what it says, but what it presupposes. Whatever date we may ascribe to it, many generations of thinkers must have passed before such questions possibly could have been asked and answered".

Let us see what are the contents of the *Nasadiya Sukta* that have made Materlink and Max Muller pen the above words.

१०. न असत् आसीत्, नो सत् आसीत् तदानीम्, न आसीत्
रजः, नो व्योमा परोः यत्। किम् आवरीवः, कुह कस्य
शर्मन्, अम्भः किम् आसीत् गहनं गभीरम्॥ १ ॥

भावार्थ–तब, अर्थात् सृष्टि के आदि-काल में "असत्" नहीं था, परन्तु "सत्" भी तो नहीं था। जब कुछ नहीं था, उसको ढकने की क्या जरूरत थी, किसे ढका जाता, कौन, क्या, किसके लिये कुछ करता। जब कहीं कुछ नहीं था तो जल क्यों होता, गंभीर या गहरा जल–समुद्र, कुएँ, नदी-नाले क्यों होते, किसके लिये होते?

इस सूक्त में जो-कुछ कहा गया है, वह चिंतन की चरमसीमा हैं। हम संसार के विषय में जब विचार करते हैं तब दो दिशाओं में विचार करते हैं। एक दिशा संसार के "अस्तित्व" की–अर्थात् यह है; दूसरी दिशा संसार के "अनस्तित्व" की है–अर्थात् यह नहीं है। इन दोनों परिधियों से हम इधर-उधर नहीं जा सकते। यहां ऋषि इन दोनों परिधियों को लांघ कर सृष्टि के आदि-काल में जाकर प्रश्न करता है, और पूछता है कि क्या आदि-काल में सृष्टि की सत्ता नहीं थी? अगर सत्ता नहीं थी तो सत्ता आ कहां से गई, "असत्" से "सत्" कैसे हो गया? साथ ही अगर सृष्टि के आरम्भ में इसकी वर्तमान रूप में सत्ता थी, तो सृष्टि में परिवर्तन कैसे आया? क्योंकि परिवर्तन तभी आता है जब किसी वस्तु के रहते हुए किसी दूसरी वस्तु की सत्ता हो, यह दूसरी वस्तु ही इसके वर्तमान रूप को बदल सकती है। कोई वस्तु अपने-आप, अपने रूप को नहीं बदल सकती। हम देखते हैं कि जो वस्तु है वह नष्ट भी हो जाती है। अगर संसार की वर्तमान रूप में सत्ता है, और अगर वर्तमान रूप नष्ट भी हो जाता है, तो यह सत् से असत् क्यों और कैसे हो जाता है। अगर संसार के प्रारम्भ में न पृथिवी थी, न द्यौ था, उससे परे भी कुछ नहीं था, तो पर-ब्रह्म की सत्ता भी क्यों थी? अगर तब भी यह सब-कुछ तो नहीं था, परन्तु वह था, तो वह क्या कर रहा था? इस सत्-असत् के झमेले से निकलने के लिये कई टीकाकार

"असत्" का अर्थ "अस्तित्वहीन" न कर "अस्तित्वहीन- सरीखा" कर देते हैं, परन्तु यह तो सिर्फ़ बाल-की-खाल उतारने का यत्न है। वास्तव में यह एक विचारक की सृष्टि को देखकर आश्चर्यान्वित होकर विचारमग्न हो जाना है। संसार जो आज दीखता है, कल नहीं है, जो कल दीखता है, वह परसों नहीं है। इन विचारों के ऊहापोह में पड़कर ऋषि फिर कहते हैं :

The non-existent was not then, nor was the existent; the earth was not nor the firmament, nor that which is beyond. (When there was nothing then) what could cover what, and where, and in whose care? Did the waters and the bottomless deep sea (then exist)?

This is the height of speculative thinking. We think of the world either as existing or as non-existing; we do not go beyond these two alternatives. Here the speculator goes beyond and speculates—was the world non-existent in the beginning? If so, how could the existent come out of the non-existent? Alternatively, did it exist in the beginning in the present form? If so, how did it change, for change is the essence of existence? All that exists lapses into non-existence. Is it not a fact that in the beginning the earth did not exist, nor did the firmament and that which is beyond? When nothing existed, how could there be a super-existence which could account for all existence? If super existence existed, then what was it doing, where did it exist, what for did it exist? Not only the solid earth, even about the waters and the deep sea the same is the query of one who indulges in speculation. Some commentators who are not prepared to accept this sort of speculation have tried to interpret 'Asat' not as non-existent but something as approaching non-existent. But this is only a semantic in words and hair-splitting. The *mantra* speaks of the speculative imagination of a poet who is wonder struck at what he sees of the world before him. He asks to himself: I see the world changing, it is not what it was yesterday, it will not be so tomorrow what it is today, does it exist or does is not, if it does not exist then how it came into existence—all these

are speculative thoughts. After all these speculations the *Sukta* proceeds :

११. न मृत्युः आसीत्, अमृतं न तर्हि, न रात्र्याः अह्नः आसीत्
प्रकेतः। आनीत् अवातं स्वधया तत् एकम्, तस्मात्
ह अन्यत् न परः किंचन आस॥ २॥

भावार्थ–तब, न मृत्यु थी, न अमृत था, न रात्रि का कोई संकेत था। वह इकला ही अपने स्वभाव से बिना सांस के जी रहा था, उससे परे भी कुछ नहीं था।

सृष्ट्युत्पत्ति का वर्णन करते हुए जैसे पिछले मंत्र में कहा कि दिन-रात नहीं थे, वैसे ही इस मंत्र में कहा कि न मृत्यु थी, न जीवन था, जो-कुछ था अपने स्वभाव से ही था। पिछले मंत्र में कहा कि सृष्टि के प्रारम्भ में जीवन नहीं था। यह स्पष्ट है कि अगर जीवन नहीं था, तो मृत्यु भी नहीं थी। जीवन-मृत्यु दोनों नहीं थे तो अमरता भी नहीं थी। जीवन-मृत्यु- अमरता-कुछ नहीं था तो दिन-रात भी नहीं थे, दिन-रात नहीं थे तो समय भी नहीं था, क्योंकि दिन-रात को मापने का नाम ही समय है, जब कुछ नहीं था, तो क्या था। मंत्र कहता है कि जो-कुछ भी था वह अपने-आप बिना प्राण-वायु के जी रहा था, वह इकला ही था, उसके बिना कुछ नहीं था। ऐसा लगता है कि यह सब वाक्-प्रपंच है, परन्तु नहीं-सत्-असत् के विषय में जो भी कल्पना की जा सकती है, वह यही है। आखिर, कुछ तो होगा ही। अगर कुछ नहीं होगा तो स्पेस होगा। स्पेस में कुछ नहीं होगा तो बिना जीव के जीवन होगा जिसे मंत्र में "आनीत अवातम्" या "स्वधा" कहा गया है। कल्पना की जहाँ तक उड़ान की जा सकती है, वह इन मंत्रों में की गई है। 'स्वधा' का अर्थ है—अपने-आप होना। संक्षेप में, मंत्र का कहने का अर्थ यह है कि प्रारम्भ में सृष्टि अपने-आप थी, इस "अपने-आप-पन" को वेदमंत्र में "स्वधा" नाम दिया गया है। "स्वधा" का अर्थ है-"अपने-आप-पना"। इसी तरह का एक शब्द-"स्वयं भूः"-है, अपने-आप होने वाला, अर्थात् वह है, परन्तु उसका कोई कारण नहीं है।

There was no death nor immortality then; there was no sign of night, nor of day. That one breathed without extraneous breath with his own nature. Other than Him there was nothing beyond.

As in the beginning of creation, the world as we see did not exist, so life also did not exist. If life did not exist, naturally death also could not exist. If both life and death did not exist, then immortality too could not exist. Without life, without death, without immortality, how could day and night exist? It is only the events and the happenings in life that give awareness of time—past, present, and future, or of day and night. This is the tenor of the *Mantra*.

If there was no existence nor non-existence, no life nor death, no day nor night, no time, then what was there? How did the world come into being? Who was the author of it all? The *mantra* says: It was He. He breathed without breath. He was life itself. Without breath, He breathed by His own nature—*Swadhaya* (स्वधया). He was alone, there was none else besides Him.

१२. तमः आसीत् तमसा गूढं अग्रे, अप्रकेतम् सलिलं सर्वं
आ इदम्। तुच्छ्येन आभु अपिहितम् यत् आसीत्,
तपसः तत् महिना अजायत एकम्॥ ३ ॥

भावार्थ—हमने देखा कि सृष्टि के आदि में सत् भी नहीं था, मृत्यु भी नहीं थी, अमरता भी नहीं थी; दिन भी नहीं था, रात भी नहीं थी; जो-कुछ था, अपने-आप था। अपने-आप क्या था? वेद कहता है कि सृष्टि का जब विलय हुआ तब सब-कुछ मिट जाने पर अन्धकार-ही-अन्धकार रह गया; चारों तरफ़ "तमस्"-अन्धेरा ही रह गया; अन्धेरा या "तम" बढ़ता गया, "तम" बढ़ता गया, "गूढ़" हो गया; इतना गूढ़ हो गया कि "अप्रकेत" की अवस्था आ गई। "अप्रकेत" की अवस्था क्या है? "प्रकेत"-शब्द "किति संज्ञाने" धातु से बना है। जब हम एक वस्तु का दूसरी वस्तु से, दूसरी वस्तु का तीसरी से भेद नहीं जान सकते तब "अप्रकेत" की अवस्था आ जाती है। जब गूढ़ अन्धकार की अवस्था आ जाती है उस अवस्था को "अप्रकेतावस्था" कहा जाता है। तब सारा जगत् "सलिल" हो जाता है। मैग्डोनैल ने सायण का सहारा लेकर, "सलिल" का अर्थ "जल" किया है, परन्तु यहां "सलिल" का अर्थ जल नहीं बैठता। "सति लीयते इति सलिलम्"—इस प्रकार सलिल का अर्थ है—"सत् अर्थात्,

अपने कारण में लीन हो जाना"। सृष्टि की उत्पत्ति प्रकृति से होती है। प्रलयावस्था में जब प्रगाढ़ अन्धकार हो जाता है तब सारी सृष्टि कार्यावस्था से कारणावस्था में आ जाती है, उसी को यहां "सलिल" कहा गया है। वेद का कथन है कि प्रलयावस्था में सर्वत्र अन्धकार-ही-अन्धकार छा जाता है, और कार्यावस्था का जगत् अपने कारण–प्रकृति–में चला जाता है। उसी को यहां "सलिल" कहा है। उसी कारणावस्था प्रकृति को वेद ने "तुच्छ्य" कहा है। इसे तुच्छ्य इसलिये कहा है क्योंकि यह कारणावस्था-प्रकृति-सृष्टि से भी तुच्छ है, बेकार है। जब सृष्टि कार्यावस्था से प्रलय-काल में कारणावस्था में चली जाती है तब यह किसी काम की नहीं रहती, परन्तु सृष्टि का जो-कुछ बचा रहता है उसे अपिहित रखती है, ढके रहती है–"**तुच्छ्येन अपहितम् यद् आसीत्**"। यह सारा वर्णन प्रलय-काल की अवस्था का है। सृष्टि के इस प्रलय के बाद फिर सृष्ट्युत्पत्ति-क्रम चलता है जिसे भगवान् की महिमा कहा है। प्रलय के बाद सिर्फ़ "एक" भगवान् द्वारा सृष्ट्युत्पत्ति का क्रम फिर से चल पड़ता है, यह इतना भारी उपक्रम है कि इसे वेद ने "तप की महिमा" का नाम दिया है।

In the beginning there was darkness, intensified darkness, indistinguishable darkness, all this (visible world) was reduced to its primordial nature. This primordial world which was enveloped by the all-pervading power of One before whom the world of matter is a trifle became one (that is, came into existence) through the force of His intense activity—*Tapas*.

In this *mantra* some important statements are made. The first statement is that in the beginning when the world was not in its present manifest form, there was utter darkness. This means that all effects which later on had to manifest themselves were in the beginning unmanifested, indistinguishable. This is quite a reasonable proposition. The second statement is that though nothing was manifest, every thing was present in a seed form in the primordial nature of the original cause of the world—that is, *Prakriti* (प्रकृति). The word used in the *mantra* for the primordial nature of

the cause—*Prakriti*—is *Salilam* (सलिलम्)—from 'सति लीयते लीनं वा इति सलिलम्'—that which is reduced and lies latent in the original cause. MacDonell and others translate the word *Salilam* (सलिलम्) as water, bat we think *Prakriti* is more appropriate and is to the point as the description in the Sukta is of the creation of the world. The third statement is that the world which was latent in the primordial cause in the beginning of creation became patent through the grace and intense activity—*Tapas*—of the fundamental Life-Force.

What happened when the unmanifested stirred to move on to become manifest? This is answered in the next *mantra:*

१३. कामः तत् अग्रे सम् अवर्तत अधि, मनसः रेतः प्रथमं यत् आसीत्। सतः बंधुं असति निः अविन्दन् हृदि प्रतीष्य कवयः मनीषा ॥ ४ ॥

भावार्थ–जब कुछ नहीं था, न जन्म था, न मृत्यु थी, तो सृष्टि कैसे हुई--इसका उत्तर देते हुए वेद कहता है कि सृष्ट्युत्पत्ति कामना से उत्पन्न होती है, इसलिये विराट्-पुरुष में सृष्टियुत्पत्ति की कामना उत्पन्न हुई, इसी को "**कामः तत् अग्रे समवर्तत**"–जैसे सन्तान उत्पन्न करने के लिये मनुष्य में कामना उत्पन्न होती है, वैसे विराट्-पुरुष में "काम" उत्पन्न हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि जब कुछ नहीं था तब "काम" था। जैसे पुरुष में मानसिक कामना का भौतिक रूप रेतस् या वीर्य होता है, वैसे काम क्या था, काम या कामना ही उसका वीर्य था। बुद्धिमान् लोगों का कथन है–"**कवयः मनीषा प्रतीष्य**"–कि उन्होंने मन और हृदय से यह देखा कि यद्यापि उन्होंने कहा था कि सृष्टि के आदि में न "सत्" था, न "असत्" था, तो भी मन को हृदय में डालकर देखा कि सत् तथा असत् दोनों बंधु–"**असति सतः बंधुं**"–हैं, एक-दूसरे के साथ बंधे हुए हैं--अर्थात्, सत् और असत् मिलकर ही सृष्ट्युत्पत्ति कर सकते हैं। इसका भावार्थ यह हुआ कि मन और हृदय दोनों को मिलाकर सोचने से यह स्पष्ट हो जाता है कि असत् में सत् विद्यमान रहता है जैसे असत्-सदृश बीज में सत-सदृश वृक्ष विद्यमान रहता है।

इस सूक्त का प्रारम्भ इस शंका से हुआ है कि सृष्टि के

प्रारम्भ में क्या था? क्या आदि में सत्ता थी, या न थी। सत्ता से संसार चला, या असत्ता से संसार चला? तीसरे मंत्र में कहा कि संसार एक महती विराट्-शक्ति से ओत-प्रोत था जिसके सम्मुख यह सृष्टि तुच्छ थी, नाचीज़ थी। गाढ़ान्धकारमय जगत् में यह विश्वव्यापिनीशक्ति तो सब-कुछ असत् या तुच्छ होने पर भी सद्रूप में विद्यमान थी। इस सद्रूपाशक्ति में सृष्ट्युत्पत्ति करने के लिए "काम" जगा! यह "काम" ही "रजस्" या वीर्य है जो सत् तथा असत् को एक-दूसरे का बंधु बना देता है, और सत् तथा असत् मिलकर सृष्टि का चक्र चला देते हैं। "काम" की व्याख्या करते हुए अगले मंत्र में कहा है।

In the beginning Desire arose. This was the first seed of the mind (of the One who here is supposed to be the Creator). Those who can see beyond by putting their mind in the heart (that is, by putting their mind and heart together), found the binding link of the existent in the non-existent (that is, the non-existent existed in the existent).

This *Sukta* begins with the query of what existed in the beginning of creation. Was existence a reality, or non-existence a reality in the beginning? In the third *mantra* it says: that the indistinguishable world of darkness was enveloped by an all pervading power of One before whom the world of matter is a trifle. In the Power, desire arose which served the purpose of a bond between the non-existent and the existent. The world as it is apparent to our senses did not exist in the beginning, it was non-existent. But something made it existent as it appears to our senses today. This link between the non-existent and the existent is the Desire of the Creator. Desire is the seed—*Retas*—रेतस्—out of which this whole universe has arisen.

Describing the aspects of Desire, the next *mantra* says:

१४. तिरश्चीनः विततः रश्मिः एषाम्, अधःस्वित् आसीत्
उपरिस्वित् आसीत्। रेतोधाः आसन्, महिमानः आसन्,
स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्॥ ५ ॥

भावार्थ—जब "विराट्-पुरुष" में सृष्ट्युत्पत्ति की कामना

उत्पन्न हुई तो वह सारे जगत् में आगे-पीछे हर वस्तु में ऐसे फैल गई जैसे सूर्य की किरणें सूर्योदय पर सब जगह फैल जाती हैं–"विततः"। यह उत्पादन की प्रक्रिया नीचे भी चली, ऊपर भी चली। हर वस्तु रेतस् या वीर्य को धारण किये हुए थी–"रेतोधा"–थी, वीर्य से महान् वस्तु को उत्पन्न करने की शक्ति भी मौजूद थी–"महिमानः"। इस उत्पादन-प्रक्रिया में "स्वधा" अर्थात् प्रकृति का स्थान नीचे (अवस्तात्) रहा, और "प्रयतिः" अर्थात् प्रयत्नशील विराट्-पुरुष का स्थान ऊपर (परस्तात्) रहा।

इस मंत्र में सृष्टिकर्ता की कामना का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जब सत् तथा असत् के बंधुत्व या मेल से सम्पूर्ण सृष्टि जाग उठी और हर वस्तु उत्पादन की कामना में ओत-प्रोत हो गई तब जड़-चेतन सब मे उत्पादन-प्रक्रिया भर गई। जड़ मे पृथिवी, नदी, नाले, पहाड़, समुद्र उत्पन्न हो गये चेतन में पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, मनुष्य आदि उत्पन्न हुए। संसार का जीवनी-शक्ति या 'काम' से भर जाना और जगह-जगह, वस्तु-वस्तु में उत्पादन होना–यह भी एक युग था। इस मंत्र में प्रकृति को "स्वधा" तथा विराट्-पुरुष को "प्रयतिः" कहा गया है। "स्वधा" का अर्थ है–"स्वस्मिन् धीयते"–जो अपने निजी स्वभाव में हो–(आप्टे की संस्कृत-हिन्दी-कोश से उद्धृत)। प्रकृति अपने स्वभाव में काम करने लगी। "प्रयतिः" का अर्थ है–प्रयत्न; "प्रयत्न" का आप्टे ने संस्कृत-हिन्दी-कोश में अर्थ दिया है–नियन्त्रित। अर्थात्, विराट्-पुरुष प्रकृति का नियन्त्रण करने लगा। और, इस प्रकार सृष्टि-चक्र "सत्"–"असत्" होते हुए भी चलने लगा।

The rays of Desire spread across (the whole world), it was spread below and was spread above. The result was that the small organisms bearing seeds were born, and big organisms bearing seeds were born. As the earth was dependent on the Desire of the Creator, hence the position of Matter was lower than the position of the Spirit which acted (with Desire). This was far above.

The *mantra* speaks of Desire which was the instrument of the Creator, the offshoots of Desire which have been spoken of as its rays spread in all directions of the world.

The world was full of life and reverberated with Desire which went on producing small and big organic and inorganic things. Organic such as living things and inorganic such as the Sun, the Moon, the Stars, the Mountains, etc.

Swadha which means *Prakriti* (स्वस्मिन् धीयते धार्यते वा–selfcontained) is lower with reference to creation and *Prayati* (प्रयत्न or effort generated by the Desire of the Supreme Conscious Energy) is higher with reference to *prakriti* or matter.

Having made this positve statement, the *mantra* takes us back once again into speculation when it mounts questions upon questions and says :

१५. कः अद्धा वेद कः इह प्रवोचत्, कुतः आजाता, कुतः इयं विसृष्टिः। अर्वाक् देवाः अस्य विसर्जनेन, अथ कः वेद यतः आबभूव॥ ६ ॥

भावार्थ–सृष्ट्युत्पत्ति विषयक जो समाधान था वह देकर संसार के मूर्धन्य विद्वानों की तरफ से, अर्थात् विराट्-पुरुष की तरफ से, घोषणा होती है कि तुम में से कौन निश्चयपूर्वक जानता है और यहां इस सृष्टि में उत्पन्न होकर घोषणा कर सकता है कि यह सृष्टि कहां से और किसलिये आती है और कहां और किसलिये विस्तार अर्थात् बिखर जाती है। जो कोई भी इस विषय में चर्चा करते हैं वे इस सृष्टि के उत्पन्न होने और विसर्जित होने के पीछे ही पैदा हुए हैं, इसलिये उन लोगों के लिये यही कहा जा सकता है कि वे क्या जानते हैं कि यह सृष्टि कहां से उत्पन्न हुई–अर्थात् वे कुछ नहीं जानते।

Who truly knows, and who can declare whence it cometh and whither it vanisheth. The Divine people (who can offer a solution were born) much after the creation came into being. (Under the circumstances) who, then, knows whence it has come about.

In this *mantra* we find the word *'Visrishtih'* which some have translated as 'Creation'. We have translated it as 'Dissolution of Creation'—the vanishing of the creation. In fact, *'srishti'* means creation, *Visrishti* must mean the opposite of creation, that is, dissolution of the creation. Looking to the text, our interpretation appears to be more appropriate though both translations can be correct.

The *mantra* says : Who knows, and who can declare. Declaration is always after knowing. Both are inter-connected and hence there is great logic in this statement. Similarly, whence it came and whither it vanishes—both these are inter-connected and are in keeping with the tenor of the speculative inquiry which runs throughout these *mantras*. Hence, the *'Visrishti'* meaning disappearance which is interlinked with appearance is more to the point.

Then, the *mantra* says that even the *Devas* cannot say whence creation comes and whither it goes, because the *Devas*—men of learning—were born after the creation. How could they know of events prior to their birth? The nett result is that nobody knows whence creation cometh, whither it goeth—it is all enveloped in darkness and the unknown.

Or, *Kah* (कः) in the *mantra* may mean the blissful Supreme Existence. In that case, it means that God alone knows whence the world cometh and whither it goeth.

१६. इयं विसृष्टिः यतः आबभूव, यदि वा दधे, यदि वा न। यः अस्य अध्यक्षः परमे व्योमन् सः अंग वेद, यदि वा न वेद॥ ७॥

भावार्थ–यह "विसृष्टि" जहां से आयी वहां यह सृष्टि पहले से मौजूद थी या न थी, व्योम के परे भी अगर कोई स्थान है, उसका भी अगर कोई अध्यक्ष है, हे प्रिय, उसे भी इस सबका ज्ञान है या उसे भी इस सबका ज्ञान नहीं है–इस सबके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता।

उपसंहार

इस मंत्र में अज्ञेयवाद की पराकाष्ठा है, जिसे देखकर मैटरलिंक तथा मैक्समूलर जैसे विद्वान् चक्कर में पड़ गये और विवश होकर आश्चर्य से कह उठे कि क्या इस युग में हम सोच सकते हैं कि आदि-काल का मानव हमारी तरह उस अज्ञान में से निकलने का प्रयास कर रहा था जिसमें से निकलने के लिए

हम लोग प्रयत्नशील हैं। मैटरलिंक के लिये आश्चर्य की बात यह थी कि अज्ञानी इस बात को जान जाय कि वह अज्ञानी है। संसार में देखा तो यह जाता है कि अज्ञानी भी अपने को ज्ञानी ही समझता है, यहां वेद-मंत्र में हम ज्ञानी को भी अपने को अज्ञानी कहते देखते हैं। शंका भी वही कर सकता है जो कुछ जानता हो, जो व्यक्ति कुछ जानता ही नहीं वह शंका क्या करेगा।

Whence this creation has come; Who holds or does not hold; He who is its surveyor in the highest heaven; Oh my dear, He alone knoweth, and yet doth He know?

EPOLOGUE

This *Sukta* is a masterpiece of speculative imagination. Did the world exist in any form in the biginning of creation? Did it not exist and there was no existence? If anything existed, then what was it? Who set the creation into going? Did the one who created the world Himself also exist or He also existed not? If He existed, did He know that He existed?

Could speculation go any further than that what is depicted in these *mantras*? But, does it mean that the Vedic Rishi who chants these *mantras* indulges in such speculation in awe and wonder? Yes, he does, and rightly so, because everything in the world is so mysterious and wonderful that the miracle-maker Himself stands stunned at His miracles. In poetic language, this enhances the wondrous nature of the creator of the universe which, in a way, is the only answer to the queries with which the *Sukta* begins. The answer is that the riddle of the universe is unknown and unknowable.

We end this epilogue with a quotation from Max Muller's 'Six Systems Indian of Philosophy:'

"Nor must we forget that these always have been privileged individuals whose mind was untrammelled by the thoughts of the great mass of the people, and who saw and proclaimed as if inspired by a power not themselves, truths far beyoond the reach of their fellow men." (Ist Vol, p.49).

हिरण्यगर्भ-सूक्त—Hiranyagarbha Sukta

[Creation By—Nebula]

हमने पिछले प्रकरण में ऋग्वेद के अग्नि-सूक्त का वर्णन किया। अग्नि-सूक्त के वर्णन के बाद उसी प्रकार के सूक्त का वर्णन प्रकरण-संगत होगा। यह सूक्त है—'हिरण्यगर्भ-सूक्त'। यह सूक्त ऋग्वेद के 10वें मंडल का 129वां है। इसमें प्रार्थना के 10 मंत्र हैं जो "हिरण्यगर्भ"-शब्द से इस प्रकार प्रारम्भ होते हैं—

In the last *Sukta* we have undertaken to translate the *Angi-Sukta* of *Rigveda* which describes, in short, the genesis of creation. It would be in fitness of things if hereunder we try to translate a similar passage from Rig Veda. This passage is as follows :

१७. हिरण्यगर्भः समवर्तत अग्रे भूतस्य जातः पतिः एकः आसीत्। सः दाधार पृथिवीं उत द्यां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ १॥

भावार्थ—जब सृष्ट्युत्पत्ति प्रारम्भ हुई तब सबसे पहले सब भूत-मात्र का वही एक स्वामी था। वह इतना शक्तिशाली था कि द्यु-लोक तथा पृथिवी-लोक उसी के सहारे टिके हुए थे। इतनी शक्तिशाली दैवीय-सत्ता के प्रति हम अपने को अर्पित करते हैं।

At the beginning of creation the whole world—the Earth as well as Heavens—were upheld by a mighty power, That Power was alone and by Himself. We surrender ourself unto that Power.

The word *Hiranyagarbha* means one whose interior is golden, that is, which is lustrous from within like the lustre of gold. This is particularly a Vedic expression to denote the effulgence and the brightness of the nebula which was the first product of creation. In the *Purush Sukta* also there is a mention of the *Virat* which means a substance shining and bright. The twin words *Hiranyagarbha* and *Virat* sound alike. Who knows, bright may be a derivation of *Virat*. Manu, while describing the evolution of the material world says: 'तदंडं समभवत् हैमं सहस्रांशु सम प्रभम्–that is, in the beginning of creation came into being an egg-shaped substance glittering like gold, and as bright as one thousand Suns. All these descriptions point to a nebular structure described as *Virat* in the *Purush Sukta* and as *Mahat* in the *Sankhya* philosophy—*Prakriteh Mahan* (प्रकृतेः महान्). This nebular structure (by the Supreme Being) was the master of creation, that is, Heaven and Earth. The devotee says: Whom else shall we offer prayers if not to this *Hiranyagarbha*—whose very core is lustrous and who is so magnificent and bright.

Hiranyagarbha can also refer to the Supreme Divine Being Himself as he is lustrous by his very nature. That Supreme Being upholds the heaven and the earth. Whom should one offer prayers if not to Him?

We have tried to explain *Hiranyagarbha* both as the Nebula and as the Divine Supreme Being. Similarly, the word *Kasmai* (कस्मै) may have two meanings. One meaning has been explained by us in our translation—Whom should we offer prayers if not to Him. Some translators have rendered *Kasmai* as an ablative of the word 'K'—meaning God, the Blissful. But in simple Sanskrit the word *Kasmai* means 'For whom'. Hence, after extolling the amazing powers of the Supreme Being in upholding the heaven and the earth, it is but appropriate and natural for one to proclaim: Should one not offer prayers to Him who is so mighty and great. In the same vein the prayer continues:

१८. यः आत्मदा, बलदा यस्य विश्वे उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य च्छाया अमृतं, यस्य मृत्युः, कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ २॥

भावार्थ–वह देव जो द्यु-लोक तथा पृथिवी-लोक को इकला धारण कर रहा है, जिससे हमें आत्मिक बल प्राप्त हो रहा है, जिसकी सभी उपासना करते हैं, जिसकी प्रशंसा में देव-गण भी गुण-गान करते हैं, जिसकी शरण में आने से अमरत्व प्राप्त होता है, जिसकी शरण में न जाने से जीवन मृत्यु- समान बन

जाता है, उसके प्रति हम अपने को अर्पित करते हैं।

यहां जिसकी "छाया"-शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि जिसका अमरमय हाथ हमें आशीर्वाद देने के लिये हमारे सिर पर छाया दे रहा है।

The Omnipotent God who alone upholds the Heavens and the Earth; who is the source of strength to us; whom reveres the whole world; who is praised by one and all; whose shelter signifies life and whom when we forget means death: To such a one we surrender.

The word used in the mantra is *Chhaayaa* (छाया) which means shade or shadow. Here it means the hand of blessing. To be under His blessing is immortality, to be without it, is death.

१९. यः प्राणतः निमिषतः महित्वा एक इत् राजा जगतः बभूव। यः ईशे अस्य द्विपदः चतुष्पदः, कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ३॥

भावार्थ–जो अपनी महिमा से जगत् के सब प्राणियों का इकला ही नियंत्रण करने वाला है, दो-पायों और चार-पायों वालों का स्वामी है, हम उस देव के सम्मुख अपने जीवन को हवि के रूप में अर्पित करते हैं।

Who, by His greatness, is verily the master of this world that breathes and winks; who is the Lord of the two footed and the four-footed creatures; whom else shall we offer prayers if not to Him.

२०. यस्य इमे हिमवन्तः महित्वा यस्य समुद्रं रसया सह आहुः। यस्य इमाः प्रदिशः यस्य बाहूः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ४॥

भावार्थ–जिसकी महिमा का ये हिमाच्छादित पर्वत, नदी-नालों सहित ये समुद्र गान करते हैं, जिसकी ये दिशाएं लम्बी-लम्बी भुजाओं के समान हैं, उस देव के लिये हम अपने को हवि के रूप में बलिदान करते हैं।

Whose grandeur these snow-clad mountains proclaim; Whose grandeur proclaims the ocean along with the rivers; Whose grandeur proclam all the directions as if His arms. Whom else shall we offer prayer if not to Him.

२१. **येन द्यौः उग्रा पृथिवी च दृढा, येन स्वः स्वभितं, येन नाकः। यः अन्तरिक्षे रजसः विमानः, कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ५ ॥**

भावार्थ–जिसके प्रकोप से द्यु-लोक कभी-कभी उग्र हो जाता है; जिसकी कृपा से यह पृथिवी वेग से चलती हुई भी अचल है, दृढ़ है; जिसके कथन मात्र से द्यु-लोक तथा सौर-मंडल अपने निश्चित मार्ग पर घूम रहे हैं; और जिसके कारण सब नपा-तुला है; उस देव की महिमा का गान हम न करेंगे तो किसका करेंगे।

By whom the sky was made profound and the earth steady; by whom the heaven and the solar sphere were held high; the One who holds (the planets and the stars) as particles of dust in the firmament; whom else shall we offer prayers if not to Him.

The *mantra* says that it is due to Him that the earth is *Dridh* (दृढ़), steady and fixed. The implication is that other wise the earth cannot be fixed due to its constant rotation. Rotating and yet fixed, moving and yet unmoving—this is due to Him who is the Supreme Being.

A very poetic but significant and realistic expression has been made in this *mantra* when it says that the Supreme Being holds the planets and the stars as particles of dust in the firmament. Are they not as particles of dust in this vast, vast universe? Could the imagination of a poet and the realism of a scientist go any further?

२२. **यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने। यत्र अधि सूरः उदितो विभाति, कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ६ ॥**

भावार्थ–जिसे द्युलोक और पृथिवीलोक मानो प्रदीप्त (राजृ दीप्तौ) मन की आंखों से थरथराते हुए रक्षा के लिये चिल्ला रहे हैं कि कहीं गिर न पड़ें, जिसकी कृपा से उदित होकर सूर्य शोभा

से चमक रहा है, उस देव की हम अभ्यर्थना करते हैं।

Whom, Heaven and Earth, shining brightly, safe and secure, look (as if) by their mind (in amazement) for protection; In whose domain the risen Sun shines in glory; unto Him we offer our oblation.

२३. आपः ह यत् बृहतीः विश्वम् आयन्, गर्भं दधाना
जनयन्तीः अग्निम्। ततः देवानां समवर्तत असुः एकः,
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ७॥

भावार्थ—जब विश्व में महान् शक्तिधारी जलों का आगमन हुआ उनके भीतर अग्नि विद्यमान थी। उस अग्नि के भीतर, अपने गर्भ में धारण करते हुए और आवश्यकता आने पर उसे उत्पन्न करते हुए (जनयन्ती) जलों को जिसने उत्पन्न किया, और जिन जलों से प्राणधारी एक जीव प्रकट हुआ, उस देव की हम वन्दना करते हैं।

इस मंत्र में कई बातें बड़े महत्व की कही गई हैं। पहली बात तो यह कि विश्वकर्मा का यह चमत्कार है कि उसने जलों में अग्नि को छिपा दिया है; दूसरी बात यह कि जलों में महती शक्ति है; तीसरी बात यह कि जलों से देव-दिव्य-गुणवाला प्राणी उत्पन्न होता है-**"असुः एकः समवर्तत"**।

जलों से अग्नि उत्पन्न होती है-यह तो सभी जानते हैं, आज के युग का "हाइड्रो-इलेक्ट्रिक"-शब्द इस बात का साक्षी है। जलों को "बृहतीः"-महान् शक्तिवाला कहा गया है-यह भी सर्वविदित है। तीसरी बात जल का "असु" या प्राण-शक्ति से संबंध है-यह प्रत्येक व्यक्ति की जानकारी में है। ऐसी शक्ति की हम वन्दना करें-यह स्वाभाविक है।

'Aapah' (आपः) means the primordial matter. The root is 'आप्लृ व्याप्तौ'—meaning that which is spread all over. The primordial matter or the nebula which is spread all over the universe in the beginning of creation contains in itself the germs of generating *Agni*—fire, (which at other places has been termed as *Hiranyagarbha*). From that *(Hiranyagarbha)* was born the unique life of the *Devas*. Whom else shall we offer prayers if not to Him.

The central idea of this *mantra* is the same as of the first *mantra.* In the first *mantra* only one word is used—*Hiranyagarbha* (हिरण्यगर्भ:)—primordial substance lustrous inside. In this *mantra* instead of one word, many words are used—*Garbham dadhaanaa janyantih agnim* (गर्भं दधाना जनयन्ती: अग्निम्) containing and generating the lustrous fire—but the meaning in both the cases is the same. Hence, as in the first *mantra* the reference is to the beginning of creation, similarly, here also the reference is to the beginning of creation when the nebula was brought into existence by the Divine Force.

We have stated that *Aapah* (आप:) in the text of the *mantra* means the primordial matter or the nebula or *Prakriti* in evolution. The *mantra* says that *Aapah* (आप:) generates the *Agni* (अग्नि:). Here *Agni* represents the lustrous substance or the nebula. But, *Aapah* may also mean waters. In that case, the meaning of the *mantra* would be: water, bearing it within generates fire. In the *Prithivi Sukta* also it is said: 'अग्निं आप: विभ्रती'–that is, the water holds fire within. All hydro-electric activity points to the truth contained in the *mantra* that water is impregnated with fire. This prayer is addressed to the Supreme Being eulogising His wondrous operations which can harmonise such contradictory elements as water and fire exsiting together.

२४. यः चित् आपः महिना पर्यपश्यत् दक्षं दधाना
जनयन्तीः यज्ञम्। यः देवेषु अधि देवः एकः आसीत्
कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ८ ॥

भावार्थ–ऐसा देव जिसने जलों की महिमा को देख लिया और जलों की यह "दक्षता"–निपुणता–देख ली कि जलों में अपनी विरोधी वस्तु–अग्नि को जनन करने की शक्ति है, जिस शक्ति को "यज्ञ" कहा जा सकता है, जो दिव्य-गुण की शक्तियों में एकमात्र, अद्वितीय दैवी-शक्ति है, उसके लिये हम अपने को आहुति बना रहे हैं, उसकी महिमा का वन्दन करते हैं।

इस मंत्र का मुख्य तात्पर्य यह है कि भगवान् में ऐसी "दक्षता" का गुण है कि उसकी रचना में सब प्रकार के विरोधी

गुणों का समन्वय हो जाता है। उसी की रचना में जल के साथ अग्नि है, अग्नि के साथ जल है। जीवन का प्रत्येक मार्ग संसार में विरोध की तरफ़ न जाकर समन्वय की तरफ़ जा रहा है।

One who by His might beheld the primordial material substance which contained in itself dexterity or skill to create sacrifice—*Yajna.* That Being who is Supreme amongst the *Devas;* Whom else shall we offer prayers if not to Him.

The import of this *mantra* is that the Lord while initiating the task of creation of the world sees to it that the primordial substance *(Prikriti)* is so dexterously planned that ultimately it generates the spirit of sacrifice *(Yajna)* which means offering. Offering oneself at the altar of the Lord is not destruction, it is *Yajna,* sacrifice—for the sake of regeneration. The world in which every self-effacement leads to a new creation is a living testimony to the constant *Yajna* going on in every particle of the cosmos. Effacement is the foundation of creation—this is the essence of the *Yajna.*

२५. **मा नः हिंसीत् जनिता यः पृथिव्याः, यः च दिवं**
सत्यधर्मा जजान। यः च अपः चन्द्राः बृहतीः जजान,
कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ९॥

भावार्थ–जिस भगवान् ने पृथिवी को उत्पन्न किया, जिस भगवान् ने इस दिव्य-लोक में सत्य-धर्मों को उत्पन्न किया, जिस भगवान् ने पृथिवी में शीतल जलों को और दिव्य-लोक में शीतल चन्द्र को उत्पन्न किया, ऐसे भगवान् के प्रति हम अपने को हवि रूप में समर्पित करते हैं।

May He not destroy us who is the Progenitor of the Earth; or He who is possessed of the eternal verities; who created the vast and delightful waters and the moon; to such a one we offer obeyance. Whom else shall we pray, if not Him.

२६. **प्रजापते न त्वत् एता नि अन्यः विश्वा जातानि परि**
ताः बभूव। यत् कामाः ते जुहुमः तत् नः अस्तु वयं
स्याम पतयः रयीणाम्॥ १०॥

भावार्थ–हे प्रजाओं के पति, विश्व में जो चर-अचर, जड़-चेतन पदार्थ उत्पन्न हुए हैं, उन सब में आप व्याप्त हो। जिन पदार्थों की हम आपसे कामना करते हैं, आपकी कृपा से वे हमें प्राप्त हों और हम और हमारा घर धन-धान्य से पूर्ण हो।

Oh *Prajapati* : Lord of Creation, there is no other than Thou who envelopes all that has been created. Thou art the master of all that has been created by Thee. We beseech Thee, Oh Lord, please grant us all that we beg of Thee.

उपसंहार

इस सूक्त का नाम हिरण्यगर्भ-सूक्त है। जैसे हम अनेक स्थानों में वर्णन कर चुके हैं–"हिरण्यगर्भ" का अर्थ है–जिसके गर्भ में, बीच में, सुवर्ण सम प्रकाश हो। इसी को वेद में अन्यत्र "विराट्" कहा गया है। "विराट्" का अर्थ भी–"विशेषेण राजते"–अर्थात् तीव्र-प्रकाशमान–यह है। इस प्रकार "हिरण्यगर्भ" तथा "विराट्" का एक ही अर्थ है। सृष्टि के आदि में जो-कुछ हुआ वह प्रकाश का पुंज था–यह सृष्ट्युत्पत्ति के विषय में वैदिक सिद्धान्त है। वर्तमान युग में सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में "नैब्युला" का सिद्धान्त माना जाता है। "नैब्युला" भी प्रकाश का पुंज ही है। इस दृष्टि से "हिरण्यगर्भः" "विराट्" तथा "नैब्युला" का एक ही अर्थ है। संसार की उत्पत्ति के विषय में "हिरण्यगर्भ"-सूक्त बड़े महत्व का है क्योंकि इसमें तथा विज्ञान में एकरूपता पायी जाती है।

EPILOGUE

The nebular hypothesis postulates that the solar system was developed from the nebula. The nebula is the luminous substance of the cluster of the solar stars. The *Sukta* under discussion speaks of the creation having been preceded in the begining by the *Hiranyagarbha*—a substance which is lustrous and bright like gold (हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे). In the *Purush Sukta* also there is a mention of the universe having been originated from the *Viraat* (ततः विराट् अजायत). The etymological meaning of *Hiranyagarbha* and *Viraat* is practically the same. Both mean lustrous, brilliant, bright. The *Rig Veda* says that the beginning of the world started

with the *Hiranyagarbha* or the *Viraat*. Modern astronomical investigations also speak of the luminous substance which was the first creation. This is called nebula. *Vedas* call it *Hiranyagarbha* or *Viraat*, and *Saankhya* philosophy calls it *Mahat* ('प्रकृतेः महान्–महत्').

Sir James writes about the nebula in The "Mysterious Universe" : "A nebula whose light takes ten million years to reach us has a speed of about 900 miles a second." The distance and the speed of the nebula itself is enough to inspire one to proclaim in ecstacy, as the *mantra* has done: "Whom shall one offer prayers if not to Him who is behind all this wonderful creation".

इन्द्र-सूक्त--Indra Sukta

[Indra—The Almighty God]

ऋग्वेद के 2 या मंडल का 12वां सूक्त "इन्द्र-सूक्त" कहलाता है। "इन्द्र"-शब्द "इदि परमैश्वर्ये" धातु से निष्पन्न होता है। इस शब्द का अर्थ है-परमैश्वर्यवान्। वेदों में देवताओं के सूचक जितने नामों का उल्लेख मिलता है उनमें सबसे अधिक नाम "इन्द्र" का ही मिलता है। "इन्द्र" का नाम इतना अधिक देखकर ए०ए० मैक्डौनल का कहना तो यह है कि यद्यपि "इंडिया"-शब्द का अन्तिम तौर पर मूल खोजकर पाना कठिन है, तो भी उनका विचार है कि "इण्डिया"-शब्द का मूल "इन्द्र" से है। इंद्र से "इन्दु" बना होगा, "इन्दु" से "इंदिया", "इंदिया" से "इण्डिया" बना होगा। उनके कथनानुसार इस शब्द का यह मूल बनता दीखता है। हर हालत में वे "इण्डिया"-शब्द का "इन्द्र" से साम्य (सम्बन्ध) अनुमान करते हैं। इस सब के बावजूद इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वेदों में परमात्मा या देवता के वाचक नामों में "इन्द्र"-शब्द का सब नामों से अधिक प्रयोग हुआ है।

देवता के लिये "इन्द्र"-शब्द का भारत से बाहर भी प्रयोग मिलता है। पारसियों के धर्म-ग्रन्थ का नाम ज़िन्दावस्था है। ज़िन्दावस्था में भी इन्द्र देवता का नाम है। वहां भी वह बड़ा भारी देवता है। "हिन्द" और "ज़िन्द" शब्द भी कुछ-कुछ मिलते-जुलते हैं, परन्तु ज़िन्दावस्था में "इन्द्र" किसी देवता का नाम न होकर राक्षस का नाम है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी समय भारतीय-आर्य तथा पर्शियन-आर्य-ये दोनों एक थे, सिर्फ आर्य थे, पर्शिया में कहीं रहते थे। वहां वे दो भागों में बंट गये। किसी बात पर भारी झगड़ा हुआ होगा। दोनों में से एक शाखा "हिन्दी" कहलायी, दूसरी शाखा "ज़िन्द" कहलाई, और पर्शिया में बस जाने वाले आर्यों ने अपनी दूसरी शाखा वालों को मार भगाया और उनके देवता "इन्द्र" को राक्षस मान लिया। एक शाखा ने "इन्द्र" को राजा माना, दूसरी ने उसे राक्षस माना, थे दोनों आर्य।

उक्त सारे विवेचन से यह स्पष्ट है कि वेदों में जिस "इन्द्र"-शब्द का बहुत अधिक नाम आता है वह एक अति

महत्वशाली देवता है, इसलिये उस सूक्त का उल्लेख करना आवश्यक है जिसे इन्द्र-सूक्त कहा जाता है।

The second *Mandal,* 12th *sukta* of the *Rig Veda,* is styled as the *Indra Sukta.* What is the meaning of *Indra*? The word is derived from the root—'इदि परमैश्वर्ये'—one who is of the highest might. The mightiest one is *Indra.* Among all the names of deities mentioned in the *Vedas,* this is the most frequently occuring name. A. A. MacDonell suggests that though the etymology of the word is doubtful, its radical portion *'ind'* may be connected with *"ind-'u,"* being dropped, thus indirectly connecting *Indra* with *Indu,* and *Indu* with *India.* However, there is no denying the fact that *Indra* is not only one of the most, but the most important of the names we come across in the *Vedas.*

The word *Indra* also occurs in the *Zend-Avesta* of the Persians, where it is mentioned not as a deity, but as a demon. As the Indian and the Persian *Aryans* lived togther in pre-historic times. it appears that due to some misunderstading a conflict arose between the two branches, and *Indra* and some other deites of the Indian branch came into disrepute with the other branch who used those names as abuses. However, it shows that the Indian branch of the *Aryans* was more dominant, as it is only the dominant who is abused.

As *Indra* is the most important deity of the *Vedas,* we are giving here the translation of the *Indra Sūkta* which will throw light on what is meant in the *Vedas* by the mention of the word *Indra.* Though there is a mention of this word in many *mantras,* the *Indra Sūkta* is an outstanding one which is known by this name.

२७. यः जातः एव प्रथमः मनस्वान् देवः देवान् क्रतुना
परि अभूषत्। यस्य शुष्मात् रोदसी अभ्यसेताम् नृम्णस्य
मह्ना, सः जनासः इन्द्रः ॥ १ ॥

भावार्थ—वह मन अर्थात् ज्ञान वाला इन्द्र सृष्टि में सबसे प्रथम प्रकट हुआ। उस देव ने सृष्टि के हर पदार्थ को अपने कर्म

से–“क्रतुना”–अलंकृत कर दिया–“परि अभूषत्”–उसकी आभा से द्यु-लोक और पृथिवी लोक दोनों कांप उठे–“रोदसी अभ्यसेताम्” और उसकी महिमा से शक्तिमान् हो गये। लोगो! वही तो इन्द्र है। इस मंत्र में इन्द्र के लिये “नृम्णस्य”–शब्द का प्रयोग हुआ है, जिससे पता चलता है कि “इन्द्र” कोई “नृ”–“नर” है–जैसे “नृप”, “नृत्य”, “नृशंस” आदि शब्दों में नर के लिये “नृ”–शब्द का प्रयोग हुआ है जो “नर”–वाचक है।

That one who is possessed of intelligence—“मनस्वान्”—Who ranks first-प्रथम; As soon as he becomes manifest—जातः एव_ He excels the other deities by having adorned the world-परि अभूषत्; with his powerful acts—क्रनूना. Before his strength tremble-अभ्यसेताम्, the Heaven and the Earth-रोदसी. He O men, is *Indra*.

Here *Indra* is defined as that Divine existence wherein lie Wisdom, Intelligence, Power. It governs the Heaven and the Earth. Clearly, the description refers to God as the Divine Power, and not to any mundane deity. He has adorned the world with His mighty work of giving shape to the earth, the sun, the moon, and the stars. He is Indra.

२८. यः पृथिवीं व्यथमानाम् अदृंहत्, यः पर्वतान् प्रकुपितान् अरम्णात्। यः अन्तरिक्षं विममे वरीयः, यः द्यां अस्तभ्नात्, सः जनासः इन्द्रः॥ २॥

भावार्थ–इन्द्र वह है जिसने व्यथित (पीड़ित) पृथिवी को दृढ़ कर दिया, कुपित पर्वतों को शान्त कर दिया, अत्यन्त विस्तृत अन्तराल को माप दिया, अन्तरिक्ष को थाम दिया। ऐ लोगो! वह इन्द्र ही तो है।

Who made steady the distressingly quaking Earth; Who pacified the angry mountains; Who measured out the extended space; Who holds up the firmament; He, O men, is *Indra*.

What is meant by the distressingly quaking earth? It is a poetic expression. When the earth came into existence, it was a split-part of the nebula. That condition is described here as distressingly quaking. What is meant by the angry

mountains? It refers to volcanoes that emit fire and smoke. It is described here as angry mountains. Who pacified them if it was not *Indra*. There is space immeasurable in the universe, there is the firmament where the sun and the stars revolve. There must be someone who has measured the immeasurable; a force, a power which guides and regulates the movements of the planets in the sky. That one, the *mantra* says, is *Indra*.

**२९. यः हत्वा अहिम् अरिणात् सप्तसिन्धून् यः गाः उत्
आजत् अपधा बलस्य। यः अश्मनः अन्तः अग्निं
जजान, संवृक् समत्सु, सः जनासः इन्द्रः ॥ ३ ॥**

भावार्थ–इन्द्र वह है जिसने बादल को (अहिं) मार कर, उसे बरसा कर नदी में पानियों को बहा दिया (अरिणात् सिन्धून्); जो सूर्य की किरणों को नीचे ले आता है, जो पत्थर के भीतर भी आग उत्पन्न कर देता है और जो युद्ध में शत्रुओं को मार गिराता है। ऐ लोगो! वह इन्द्र ही तो है।

The one who destroying the clouds lets the waters flow—अरिणात् सिन्धून्—in fast-running streams; the one who is the holder—(अपधा) of strength—(बलस्य); who lets the rays of the sun—गाः, come from above—उत् आजत्; the One who generated—जजान, fire in the stone; the one who destroys the enemies—संवृक, in battles; that one, O men, is *Indra*.

The *mantra* describes the wonderful workings of nature and ascribes them to *Indra,* which means the powerful entity behind all such phenomena. It is due to that power that the clouds pour forth rains resulting in the rapidly-running—सप्त; rivers—सिन्धून; It is due to that power that the strong rays—गाः; of the sun come from above; It is due to that power that fire can be generated out of stones. That one, the *mantra* says, is *Indra.*

**३०. येन इमा विश्वा च्यवना कृतानि, यः दासं वर्णं अधरम्
गुहा अकः। श्वघ्नी इव यः जिगीवान् लक्षम् आदत्
अर्यः पुष्टानि, यः जनासः इन्द्रः ॥ ४ ॥**

भावार्थ–इन्द्र वह है जिसने "च्यवन" या टूटने अर्थात् भंग होने वाले ये सब पदार्थ रचे हैं या बनाये हैं, जिसने मारने-पीटने या हिंसा करने के व्यवसाय को सबसे नीचे अर्थात् अन्धकार में दर्जा दिया है; जो हिंसक पशु को मारने में निशाना लगाकर लक्ष-वेध में जीत जाता है; जो शत्रुओं का पुष्टिकारक सामान छीनकर ले सकता है, ऐ लोगो! वह प्रतापी व्यक्ति इन्द्र ही तो है।

By whom all unstable things of the world have been created; Who sends—अकः (from अकरोत्), to the low-lying den—अधरम् गुहा, the destructive—दासं (from दसु उपक्षये), class of men—वर्णम्; like the hunter—श्वघ्नी, who successfully wins—जिगीवान्–his aim; who forfeits—आदत्, the substantial possessions—पुष्टानि of his enemies—अर्थः (from अरेः). He O men is *Indira.*

३१. यं स्मा पृच्छन्ति कुह सः इति घोरम्, उत ईम् आहुः न एषः अस्ति इति एनम्। सः अर्यः पुष्टीः विज इव आ मिनाति, श्रत् अस्मै धत्त, सः जनासः इन्द्रः ॥ ५ ॥

भावार्थ–यह बड़ी घनघोर बात है कि कई लोग पूछते हैं कि वह कहां है, और यह उससे भी गम्भीर बात है कि ऐसे भी कई लोग हैं जो कहते हैं कि वह है ही नहीं। ऐसे लोगों का वह पोषण ही सीमित कर देता है। हे लोगो, उसमें श्रद्धा धरे रहो, वही तो इन्द्र है।

It is a terrible thing—*Ghoram* (घोरम्) that they ask: 'Where is He'; It is also a more terrible thing that they say of Him—He is not. He diminishes—आ मिनौति—the substantial possession—पुष्टिः–of such an enemy—*aryah*—अर्यः (from अरिः), as if by shaking him up—*vijah*—विज इव. Have faith in Him—(श्रत् अस्मै धत्त), O men, he is *Indra.*

३२. यः रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य, यः ब्रह्मणः नाधमानस्य कीरेः। युक्तग्राव्णः यः अविता सुशिप्रः सुतसोमस्य, सः जनासः इन्द्रः ॥ ६ ॥

भावार्थ–जो इन्द्र, धनी व्यक्ति को और कृश व्यक्ति को प्रेरणा देता है; और जो ब्रह्म के गान या कीर्तन करने वाले का भी प्रेरक है; जो ज्ञान का रस निचोड़ लेता है–"सुत-सोम"–जो

सोम-रस पी लेता है; जो ज्ञान को क्रिया में ले आता है-जो "युक्त ग्राव"-है; जो इन सबका रक्षक "अविता" है; ऐ लोगों वही तो इन्द्र है।

Who is the furtherer of the rich; of the poor; and of the suppliant Brahman of devotional songs; the saviour—अविता-of those who sing impart knowledge—सुत सोमस्य; of those from whom *Soma,* i.e., knowledge flows (*Suta*—सुत); and apply that knowledge to life—युक्त ग्राव्णः; that one, O men, is—*Indra.*

Here *'Indra'* is defined that one who is the inspirer of the rich, the protector of the poor, the shelterer of the devotees, the saviour of the intellectuals as well as of men of action. Economically mankind is classified into two classes—the rich and the poor; Intellectually and spiritually men are divided into three categories—men of emotion, (भक्ताः), of intellect, (ज्ञानी) and men of action; (कर्मी). O men! *Indra* is one who protects and gives shelter to them all.

३३. यस्य अश्वासः प्रदिशि, यस्य गावः, यस्य ग्रामाः यस्य विश्वे रथासः। यः सूर्य, यः उषसं जजान, यः अपां नेता, सः जनासः इन्द्रः ॥ ७ ॥

भावार्थ-जिसके घोड़े चारों दिशाओं में चक्कर काटते हैं, जो सब गौओं का, सब ग्रामों का, सब वाहनों का मालिक है, जो सूर्य और उषा का स्वामी है, जो जलों का मालिक है-ऐ लोगों, वही तो इन्द्र है।

Whose horses are in all directions; Whose the kine; Whose the villages; Whose all the chariots; Who created the dawn; Who owns the waters; He, O men, is *Indra.*

The horse—अश्वः, represents all fast-moving objects and creatures. Wherever there is speed-the horses, the rivers, the thunderbolt, all these are under the control of *Indra.* The kine—गावः, represents all objects and creatures who yield something as the cow yields milk. Our senses are also called cows—गावः, as they yield the milk of knowledge. They are under the control of *Indra.*

The Village-ग्रामः, represents a group of people. They are under the control of *Indra.* Chariots—रथासः—represent a luxurious way of living. This is also under the control of *Indra.* The sun, the dawn, the waters—all are controlled by some power. That power, the *mantra* says, is *Indra.*

३४. यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते, परे अवरे उभया अमित्राः।
समानं चित् रथं आतस्थिवांसौ, नाना हवेते सः जनासः
इन्द्रः ॥ ८ ॥

भावार्थ–जिसे मुसीबत में फंसी एक-दूसरे से लड़ने वाली दोनों सेनाएं–इधर की तरफ़ की और उधर की तरफ़ की–विव्हल होकर रक्षा या सहायता के लिये पुकारती हैं और एक ही तरह के रथों पर नाना भांति से रक्षा की पुकार करती हैं, वह इन्द्र ही तो है।

Whom the two—उभया, bewailing—क्रन्दसी; and unfriendly—अमित्राः; armies cry for help-विह्ययेते; one army on the other side—परे, and the other army on this side—अपरे; and if the two have mounted on the similar chariots and invoke the Lord separately—नाना हवेते, that, O men, is *Indra.*

Here the scene depicted is that of a battle of two armies in similar conditions—both are in distress. In desperation they bewail and cry for help. The one whom they address their prayer for succour and for help is *Indra.*

३५. यस्मात् न ऋते विजयन्ते जनासः, यं युध्यमानाः अवसे
हवन्ते। यः विश्वस्य प्रतिमानं बभूव, यः अच्युतच्युत्,
सः जनासः इन्द्रः ॥ ९ ॥

भावार्थ–जिसके बिना लोग जीत नहीं सकते, युद्ध करते हुए लोग जिसे रक्षा के लिये पुकारते हैं, जो विश्व की रक्षा के लिये आदर्श रक्षक है, जो न-च्युत् हो सकने या न डिग सकने वालों को भी अपने बल से डिगा देता है, जो "अच्युत्-च्युत्" है, ऐ लोगो! वही तो इन्द्र है।

Without—ऋते—whom men cannot conquer—न

विजयन्ते; whom, while fighting—युध्यमानाः, they call for help—अवसे हवन्तें; who has been an ideal—प्रतिमान, for everyone—विश्वस्य; who overthrows—च्युत्, the unconquerable—अच्युत्–He, O men, is *Indra.*

३६. यः शश्वतः महि एनः दधानान्, अमन्यमानान् शर्वा जघान। यः शर्धते न अनुददाति शृध्यां, यः दस्योः हन्ता, सः जनासः इन्द्रः ॥ १० ॥

भावार्थ–जो शत्रुहन्ता भगवान् (शर्वा) लगातार (शाश्वतः), महान् पाप (महि एनः) करने वालों को, (दधानान्) अर्थात्–पाप धारण करनेवालों को आश्रय या शरण नहीं देता, उन्हें शरण देने योग्य (शृध्य) नहीं मानता, और जो अपने दोष मानने के लिये उद्यत नहीं है (अमन्यमानान्) इसलिये उन्हें मार देता है (जघान), और उक्त कारणों से उन्हें शरण नही देता (न अनुददाति), जो दस्युओं का (हन्ता) है, हे लोगो! वही तो इन्द्र है (सः जनासः इन्द्रः)।

Who slays—(जघान), with his arrow or with his destructive power—शर्वा (यः शृणाति शत्रून); those who do not confess—(अमन्यमानान्); their continuing (शश्वतः) in great sin—(महि एनः); who do not give strength (shelter)—शृर्ध्यां–to one who is seeking shelter—शर्धते (from शरुः वज्रः तेन युक्तः); who slays the slayer; He, O men, is *Indra.*

The idea in the *mantra* is that if one commits a sin, one must confess it, but if one goes on committing sin, then a time comes when *Indra* punishes him. *Amanyamaanam*—(अमन्यमानम्) means those who do not confess their sin. The second idea is that if one confesses and seeks shelter, then he who refuses shelter will be at fault. Not to confess after committing sin is wrong, and not to forgive a person who has confessed is wrong too.

३७. यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्याम् शरदि अनु अविंदत्। ओजायमानं यः अहिम् जघान दानुं शयानं, सः जनासः इन्द्रः ॥ ११ ॥

भावार्थ–ऐ लोगो! इन्द्र वह है जिसने 40 वर्ष शरद् ऋतुओं

तक पर्वतों में सोते हुए शम्बर को जा पकड़ा और उस अहि या दानु को जो वहां सो रहा था और फुंकार रहा था, उसे जा मारा।

ऊपर जो अर्थ दिया गया है वह मैक्डौनेल ने किया है। परन्तु यह अर्थ नहीं, अनर्थ है। इस सूक्त का जो प्रकरण है उसे देखते हुए इस प्रकार की बात कहने की कोई तुक नहीं बैठती। इसके अलावा सांप या अजगर के 40 साल इस प्रकार पड़े रहने की कोई विशेषता नहीं। सांप 40 साल क्या सैकड़ों साल जीवित रहते हैं। इस मंत्र में शम्बर, पर्वत, 40 वर्ष और अति–ये चार शब्द आये है जो महत्व के हैं और जिनको ठीक समझने पर मंत्र का ठीक अर्थ समझ में आ सकता है। जो लोग यह समझते हैं कि वेदों में ऊल–जलूल बातें भरी पड़ी हैं, उनके लिये यह अर्थ सार्थक हो सकता है परन्तु जो वेदों की गहराई में जाते हैं उनके लिये मैक्डौनल का किया गया अर्थ वेद की जान–बूझकर टांग मरोड़ना है।

इस मंत्र का विवेचन करते हुए डॉ० पावगी अपनी पुस्तक "दि वैदिक फादर्स ऑफ जियोलोजी" में लिखते हैं कि यहां 'शंबर' से अभिप्राय "ग्लेशियर" से है। ग्लेशियर पहाड़ों में बनता है। पहाड़ों की खाइयां सांप की तरह टेढ़ी–मेढ़ी होती हैं। सर्दियों में उनमें बरफ़ जम कर इकट्ठा हो जाता है। चालीस साल तक लगातार बरफ़ पड़ते–पड़ते और वहां उसके जमते–जमते वह कड़ा होकर ग्लेशियर बन जाता है। कभी–कभी कड़ी धूप पड़ने से बरफ़ गलती है, तब गलने के कारण बर्फ़ पिघल कर आगे सरकने लगती है और किसी नदी में या समुद्र में जा गिरती है। यह सारी प्रक्रिया ग्लेशियर बनने में आज–दिन तक हो रही है।

इस प्रकरण में "अहि"–शब्द भी आया हैं "अहि" के निरुक्तकार के अनुसार दो अर्थ हैं–सांप और बादल। बादल से वर्षा होती है, और सर्दियों में यह वर्षा का पानी बरफ़ बन जाता है। इस प्रकार यह सारा प्रकरण ग्लेशियर–युग का वर्णन करने के स्थान में पाश्चात्य–विद्वानों ने एक ऊल–जलूल अर्थ में इसलिये लगा दिया है क्योंकि "अहि" का अर्थ सांप भी है। वे यह भूल जाते हैं कि "अहि" का अर्थ बादल भी है जिसको इन्द्र मार कर वर्षा करके उसको बरफ़ बना देता है। इस अर्थ में "इन्द्र"–शब्द का अर्थ–"सूर्य"–करना होगा जैसा कि अगले मंत्र से स्पष्ट हो जाता है।

MacDonell translates this as follows :

Who in the fortieth autumn found out *Shambar* dwelling in the mountains; who has slain the serpent as he showed his strength, son of *Danu* (दानव) as he lay; He, O men, is *Indra*.

This meaning makes no sense. Dr. Pavagi refers to this *mantra* in *'The Vedic Fathers of Geology'* and translates *'shambaram'* as 'glacier'. The glacier is a mass of ice formed by the accumulation of snow in the valleys of mountains. It takes several winters for their formation when snow upon snow is accumulated and by pressure it becomes hard. This period is referred to in the *mantra* as forty years. It has to be investigated if the formation of a glacier takes forty years. The accumulated formation of the glacier is referred to in this *mantra* when it says that the glacier lies in the mountain as a demonic serpent. It is compared to a serpent because the glacier is formed in the valleys of mountains which are generally of serpentine shape. The snow does not melt but gets deeper with every winter. The whole glacier which is named here as *'Shambaram'* looks like a serpent—(अहिः) When with pressure it moves on like a river of snow it is something like a demonic serpent moving. *Indra* is said to have killed it when it moves away into a river or into the ocean. Thus its disappearance amounts to killing it. The *mantra* describes a geological phenomenon and ascribes it to the power of *Indra*. In this context, *Indra* may be understood as the sun, as is suggested by the next *mantra* :

३८. यः सप्तरश्मिः वृषभः तुविष्मान् अवासृजत् सर्तवे
सप्तसिन्धून्। यः रौहिणम् अस्फुरत् वज्रबाहुः द्यां
आरोहन्तं, सः जनासः इन्द्रः ॥ १२ ॥

भावार्थ–ए लोगो! "इन्द्र" वह है जिसकी सात किरणें हैं–"सप्त रश्मिः", जो बलवान् है–"तुविष्मान्", जिसने सात नदियों को बहने के लिये छोड़ दिया है–इत्यादि, इत्यादि।

इस मंत्र में "सप्त रश्मि" शब्द आता है जिसका अर्थ है, सात किरणें। परन्तु इसके साथ ही इसी मंत्र में "सप्त सिन्धु" शब्द भी आता है जिसका अर्थ है–सात नदियां। पूर्वापर सम्बन्ध जोड़ते हुए किसी भी तरह इन शब्दों से–"अहि" का अर्थ सांप नहीं निकल सकता जो पहले मंत्र में मैक्डौनल ने किया है। सांप के साथ सात शब्द तो किसी तरह भी जोड़ नहीं खाता। सप्त-रश्मि का अर्थ सात किरणें तो स्पष्ट है, क्योंकि सूर्य की किरणों के सात रंग तो माने ही जाते हैं। मैक्डौनल ने इस मंत्र का अर्थ करते हुए मक्खी-पर-मक्खी मारी है, यह जानने का यत्न नहीं किया कि वेद ने कोई अक्ल की वात भी कही है।

"इन्द्र" के विषय में जो बातें इस मंत्र में कहीं हैं वे हमारे किये अर्थ में तो खपती हैं, पाश्चात्य विद्वानों के किये अर्थ में नहीं खपतीं।

In this *mantra, Indra* is used for the sun. Sun has seven rays—'सप्तरश्मिः'. 'They are: red, orange, yellow, green, blue, indigo, and violet. MacDonell translates this word as 'seven-reined' (hard to restrain), meaning that the sun is mounting on a chariot drawn by seven horses. But, wherever there is a mention of seven horses of the sun, only the seven rays of the sun are meant. MacDonell translates the second stanza as: "Who armed with the bolt spurned, *'Rauhinam'*—'रौहिणम्'–as he scaled heaven. Here MacDonell says that *'Rauhina'*—"रौहिण"–is a demon who is ascending the heaven to attack *Indra.* This is only a figment of imagination. The simple meaning of the *mantra* is that *Indra*—the sun—has seven rays, is mighty strong like a bull, causes the rivers to flow, spreads out the rising clouds in the sky. That powerful force is *Indra.* MacDonell bases his translation on *'Saayan'*, and in this, both are chips of the same block.

३९. द्यावा चित् अस्मै पृथिवी नमेते, शुष्मात् चित् अस्य पर्वताः भयन्ते यः सोमपाः, निचितः वज्रबाहुः, यः वज्रहस्तः, सः जनासः इन्द्रः ॥ १३ ॥

भावार्थ–जिसके सामने द्यु-लोक और पृथ्वी-लोक दोनों

नमते हैं, जिसके पराक्रम के सामने पहाड़ भी झुक जाते हैं, जो शान्ति का रक्षक है, चेतन है, जिसके बाजू तथा हाथ वज्र के समान हैं–ऐसा, ऐ लोगों वह इन्द्र है।

Even the Heaven and the Earth prostrate before Him. Before His strength even the mountains are afraid. He is the protector of peace—सोमपा:; He is all consciousness निचित:. He is the holder of the thunderbolt in his arms—वज्रबाहु:; and the holder of the thunderbolt in his hand—वज्रहस्त:; He, O men, is *Indra*.

Holding the thunderbolt in his hand means that he comes down with a heavy hand in the execution of his laws.

४०. यः सुन्वन्तम् अवति, यः पचन्तम्, यः शंसन्तम्, यः शशमानं ऊती। यस्य ब्रह्म वर्धनम्, यस्य सोमः, यस्य इदं राधः, सः जनासः इन्द्रः ॥ १४ ॥

भावार्थ–उत्तम विचारों को जो लोग जन्म देते हैं उनकी जो रक्षा करता है, उन्हें सहारा देता है; ऐसे उत्तम विचारों का जो लोग पचा लेते हैं, क्रिया में परिणत कर लेते हैं और पचा ही नहीं लेते, जो लोग उन विचारों को शासन में भी लागू भी कर देते हैं; सारा समाज उन विचारों के अनुसार चलने लगता है और उन चालू विचारों या नियमों की जो प्रशंसा भी करने लगते हैं–उन पर अगर आलोचना हो तो उन सब की जो रक्षा करता है–"शशयानं ऊती", जो इन नियमों को आगे बढ़ाता है और खूब बढ़ाता है, परन्तु आगे बढ़ाता हुआ भी शान्ति से बढ़ाता है; ऐ लोगों वही इन्द्र है।

Who with his aid—ऊती; protects—अवति; the people who give rise to new thoughts—सुवन्तम्; People who assimilate those thoughts—पचन्तम्; And People who praise those thoughts—शसन्तम्; And People who praise those thoughts—शशमानम्; Whose is the propagation—वर्धनम्–of the *Spiritual knowledge*—ब्रह्म; Whose is the *wordly knowledge*—सोम:; Whose is the knowledge coming out of the happy blend of these two 'Worldly' and 'Spiritual'—राध: (राध साध संसिद्धौ)—He, O men, is *Indra*.

MacDonell following *Saayan* applies this *mantra* to

the *Soma Rasa* (सोम रस). He translates it as follows :

Who with his aid helps him that presses *'Soma'*; Him that bakes; Him that has offered praise; Him that has prepared the sacrifice; Whom prayer, Whom Soma, Whom this gift strengthens; He, O men, is *Indra.*

४१. यः सुन्वते पचते दुध्रः आ चित् वाजं दर्दर्षि, सः किल असि सत्यः। वयं ते इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासः विदथम् आ वदेम ॥ १५ ॥

भावार्थ—जो उत्तम विचारों को जन्म देने वालों और पचाकर उन्हें क्रिया में परिणत करने वालों को सहारा देता है, सहारा ही नहीं उन्हें बल भी देता या दर्शाता है, अस्ल में वही सच्चा आदमी है। हे इन्द्र! हम अपनी प्यारी सन्तान के साथ दिन-दिन आपकी प्रशंसा करते हैं। यह सारा सूक्त एकजुट है।

He who grants—दुध्रः, the desires of those who give rise to new thoughts—सुन्वते; And those who assimilate those thoughts—पचते; And even gives strength—वाजं दर्दर्षि—to those thoughts; That, thou, to be sure, art true—सः किल असि सत्यः, O Indra, we ever, always—(विश्वह विश्वेषु अहःसु) dear to thee—प्रियास; along with our brave sons—सुवीरास; utter praise—विदथम् आवदेम—to thee.

In the fourteenth *mantra,* the refrain of the song is : He, O men, is *Indra.* In this last *mantra,* the devotee says : To such a deity we wish our children offer prayers. The whole of this *Sukta* is a composite construction.

उपसंहार

इस सूक्त के संबंध में कई बातें अत्यन्त विचारणीय हैं। विशेष तौर पर 3रे, 4थे तथा 11वें मंत्रों में अनेक ऐसे शब्द आये हैं जिनके संबंध में वैदिक-विद्वानों में मतभेद है। उदाहरणार्थ, पहले हम तीसरे मंत्र पर विचार करते हैं।

(क) "अहि"-शब्द तथा "सप्त-सिन्धु"-शब्द—इस मंत्र में मैक्डौनल के अनुसार इन्द्र द्वारा "अहि" को मारने का उल्लेख है। इसी तरह का ज़िक्र 11वें मंत्र में भी है। इसके अतिरिक्त इसी सूक्त में "सप्त-सिन्धु" शब्द का भी उल्लेख है। मैक्डौनल के

अनुसार "अहि" का अर्थ सांप और "सप्त-सिंधु" का अर्थ सात दरियाओं वाला पंजाब देश है। "अहि" का अर्थ सांप के अतिरिक्त बादल भी है। प्रश्न यह है कि अगर इस जगह "अहि" का अर्थ सांप की जगह बादल कर लिया जाय और वह यहां अधिक ठीक बैठे तो ऐसा क्यों न किया जाय; इसी प्रकार "सप्त" शब्द अगर "सृप सर्पणे" धातु से बना हो और इसका अर्थ पंजाब की जगह सर्पण या बहने वाली नदी कर लिया जाय और वह यहां अधिक ठीक बैठे तो वह क्यों न कर लिया जाय। इस जगह प्रकृत-स्थल पर बादल द्वारा बरस कर नदी बहना भाव को अधिक स्पष्ट करता है, इसकी अपेक्षा कि "अहि" का सांप अर्थ हम अलग करें, और "सप्त-सिन्धु" का पंजाब अर्थ हम अलग करें।

(ख) दासं वर्ण–इसी सूक्त में 4थे सूक्त के "अहि" तथा "सप्त-सिन्धु" की तरह एक शब्द "दासं वर्णम्" आया है जिसका मैक्डोनल ने शूद्रों के काले रंग का उल्लेख करते हुए रंग की जात-पात का उल्लेख किया है। संस्कृत में शब्दों का निर्माण धातुओं से हुआ है। वर्ण का अर्थ "रंग" भी है और वृञ् वरणे धातु से "प्रोफ़ेशन" भी है। प्रकृत-स्थल में "वर्ण" का अर्थ प्रोफ़ेशन अधिक युक्त प्रतीत होता है।

(ग) इन्द्र-सूक्त तथा बायबल की कथा–वेदों में "इन्द्र"-शब्द का अत्यधिक प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में तो जगह-जगह यह शब्द मिलता है। लगभग एक-चौथाई मंत्र तो इन्द्र को लक्ष्य में रखकर कहे गये हैं। प्रस्तुत-सूक्त तो कहाता ही "इन्द्र-सूक्त" है। प्रत्येक मंत्र की टेक ही–"सः जनासः इन्द्रः"–यह है। वैदिक संस्कृत में 'जनाः' को 'जनासः' कहा गया है। लौकिक-संस्कृत और वैदिक-संस्कृत में बहुवचन में यह भेद प्रायः लक्षित होता है। प्रश्न यह है कि "इन्द्र" देवता को इतना महत्व क्यों दिया गया है। इस प्रश्न के समाधान के लिये एक कथानक गढ़ा गया है। कहते हैं कि गृत्समद नाम के एक ऋषि थे। उन्होंने बड़े पैमाने पर एक यज्ञ किया । इन्द्र भी उसमें शामिल हुए। इन्द्र तथा गृत्समद में शत्रुता थी। गृत्समद इस ताक में थे कि इन्द्र सामने पड़े तो उसे मार डालें। इन्द्र देवताओं के, और गृत्समद असुरों के राजा थे। चुपके-चुपके यज्ञ में बैठे इन्द्र ने गृत्समद का रूप धारण कर लिया और वहां से निकल भागा।

राक्षसों ने उसे गृत्समद समझकर छोड़ दिया। कुछ देर बाद जब वे वहां से निकल रहे थे तो पहचान लिये गये, पकड़े गये, पूछने पर कहने लगे कि मैं तो वह दन्द्र हूं जिसने उसको, मारा, अहि को मारा, उसने किसको नहीं मारा–उसने यह किया, वह किया, जो-कुछ सूक्त में लिखा है, वह सब किया, मैं वह इन्द्र हूं।

यह तो कहानी घड़ी गई है, असल में इन्द्र के विषय में और उसके अर्थ को जानने के लिये तीन बातें जानना आवश्यक हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से इन्द्र परमात्मा का नाम है–परमैश्वर्य होने के कारण; मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन्द्र जीवात्मा का नाम है–ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों की दृष्टि से; भौतिक-दृष्टि से इन्द्र सूर्य का नाम है। अगर इन तीन दृष्टियों से सोचा जाय, तो इन्द्र इन सभी अर्थों में सूर्य के अर्थ में सार्थक हो जाता है।

बायबल के सैमेटिक कथानक में तीन ऐसे शब्द हैं जिनका मूल इन्द्र-सूक्त में है और जिनसे सृष्ट्युत्पत्ति का बायबल का कथानक उत्पन्न हुआ है। वे शब्द हैं–परमात्मा, शैतान (सांप) तथा ज्ञान-वृक्ष। बायबल का कथानक यह है कि परमात्मा ने ऐडम और ईव को अदन के बग़ीचे में छोड़ दिया; वहां ज्ञान-वृक्ष (ट्री आफ़ नालेज) लगा दिया और इस जोड़े को वृक्ष का फल खाने से रोक दिया। शैतान–'सांप' ने ईव को बहकाकर फल खिला दिया। खुदा को जब पता चला कि उसकी आज्ञा का उल्लंघन हुआ है, तो स्वर्ग से उन तीनों को नीचे धकेल दिया, सांप बिना हाथ-पैर के पेट पर चलने लगा। यही किस्सा इन्द्र-सूक्त का है जिसमें "अहि" (बादल) का वर्णन है, उसे 'अहस्तपाद' कहा गया है। सूर्य की किरणों से बादल छिन्न-भिन्न होकर भूमि पर आ बरसते हैं–इस साधारण-सी बात को सांप के साथ जोड़ कर, "इन्द्र-सूक्त" के आशय को न समझकर बायबल का आदम-ईव-सांप का मनघड़न्त किस्सा बना है। इन्द्र-सूक्त का सबसे ज़्यादा यही महत्व है जिसे समझ लेने पर ईसाई धर्मों की नब्ज़ पकड़ में आ जाती है। इस किस्से का मूल 'अहि'-शब्द है।

EPILOGUE

The word *Indra* occurs very frequently in the *Vedas*, particularly in the *Rig Veda*. One-fourth of the hymns in the *Rig Veda* are addressed to *Indra*. The special feature of

this *Sukta* is that every *mantra* ends with the refrain : 'सः जनासः इन्द्रः'–He, O men, is *Indra.* Why this proclamation? To explain this a story was coined. It is said that one *Rishi* by name Gritsmad (गृत्समद) performed a *Yajna* on a grand scale. *Indra* attended the function. The *Asuras*—(असुराः)–demons—were on the lookout for Indra to attack him as he was their enemy. When *Indra* got scent of it, he escaped, in the disguise of *Gritsmad.* The demons took him for *Gritsmad* and let him go. Later on, *Gritsmad* was passing that way. The demons caught hold of him insisting that he was *Indra* in disguise. On this *Gritsmad* uttered the *mantras* of the *Indra Sukta* proclaiming : He, O men, is *Indra*—not I. In describing this, he mentioned the attributes of *Indra.*

On reading the *mantras* of the *Indra Sukta* one can understand that there is nothing in them to justify the coining of the story. The *mantras* are independent assertions of the nature of *Indra.* Who is *Indra? Indra* is one who, as soon as he manifests himself, excels other divine forces by adorning the world with his powerful acts; one who makes the distressingly quaking earth steady; one who pacifies the smoke-emitting volcanoes; one who lets the waters flow in the rivers; one who generates fire from stones; one who creates all that we see in the world; one who looks after the rich as well as the poor; one who controls the movements of the earth, the sun, the moon, and the stars; one whom people call in distress. Having been told all this, can any one question as to what is the meaning of *Indra.*

This description points out to three aspects of *Indra.* Spiritually, in microcosm he is the Soul and in macrocosm he is God. Physically, he is the Sun. Most of these descriptions fit in with *Indra* either as God, or as the soul, or as the Sun. There is nothing in the *Sukta* to suggest that *Indra* is an Anthropomorphic deity, as made out by some scholars.

The *Sukta* contains three words that have given rise to a great myth in Semitic religions—the myth of God, the

Satan (Serpent), and the Tree of Knowledge. The Biblical myth is that God stationed Adam and Eve in the garden of Eden and forbade them to eat the fruit of the Tree of Knowledge. The Satan in the form of Serpent came and beguiled them to have a taste of the fruit of the Tree of Knowledge, which they ate. When God came to know of it, He cursed the Serpent to fall on the Earth and to go upon his belly, Which means that he was deprived of hands and feet.

The three words responsible for this myth are—*Indra* (इन्द्र), *Ahih* (अहिः) and *Soma* (सोम). *Indra,* as we have pointed out, means Almighty God; *Ahih* means Serpent; *Soma* means Knowledge. Let us see how the Biblical myth arose from the *Indra-Sukta.*

The third *mantra* says : 'यः हत्वा अहिम्'–Who having killed *Ahih*—the Serpent. Again in the eleventh *mantra* it is said: 'यः अहिम् जघान–Who killed *Ahih*—the Serpent—सः जनासः इन्द्रः–He is *Indra*—the Lord. Again, it is said that *Indra* is *Somapah*—सोमपाः–that is, He is the drinker of *Soma*—Knowledge. So, piecing these bits together, the myth formed is that God *(Indra)* fought with the Serpent *(Ahih)* and drank the knowledge himself *(Sompah),* throwing the Serpent from the Heaven on the Earth hurling at him the curse: Upon thy belly shall thou go.

But this myth originated because of some words of the text, and particularly because of the word *Ahih*—"अहिः"–Serpent. For *Ahih*—अहिः–Serpent—there is another word used in the text (*Rig* 1, 32, 7) which is its synonym : अहस्तपादः अपृतन्यत् इन्द्रम्–Having no hands and feet, he attacked *Indra.* And, really, the Serpent has neither hands nor feet, This strengthened the myth in so far as it related to the Serpent. Further, another text (*Rig,* 1, 32, 5) says : 'अहिः शयत उपपृक् पृथिव्या':–Having been disabled, the Serpant fell down on the Earth. All these fragments of the *Veda* went to create a Semitic Myth with which the Bible starts its narration of the creation.

But this confusion was due to the misunderstanding of the meaning of the word *Ahih*—'अहि:'. *Ahih* means *serpent* as well as *cloud.* The cloud also has no hands and feet. It also, being killed, falls on the ground and in streams of water goes upon its belly. A physiological phenomenon described in the *Veda* has given rise to a Myth which has no meaning. Ungarbed from its mythical guise, the pure form of the Vedic text is that *Indra* is he who creates thunders in the clouds and torrents of waters pour forth on the earth transforming them into fast-running rivers—*Sapt Sindhu*—सर्तवे सप्त सिन्धुन.

Not only in Semitic religions, in the *Zenda-Avestha*—a religious book of the Parsis—also, the words *Indra, Ahih,* and *Soma* have given rise to myths where also these words are mentioned in the *'Avasthic'* texts. There Indra is mentioned not as a deity but as a demon; *Ahih* is mentioned as *Vritraghna*—Vedic *'Vritraghna'* (वृत्रघ्न)—which is the synonymn of *Ahih* in *Veda,* and *Soma* is mentioned as *'Homa'* in the *Zenda-Avestha.*

As *Veda* itself explains what is meant by a particular word, There remains no room for interpreting it in another way.

संवनन-सूक्त–Samvanan Sukta

[Vedic Socialism]

यह सूक्त ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त है। इसमें सामाजिक भ्रातृभाव की अद्‌भुत प्रार्थना है। भक्त भगवान् से प्रार्थना करता है कि मानव-मात्र भ्रातृ-भाव से प्रेम के बंधन में बंधे हों। हमारा विचार एक हो, उद्‌देश्य एक हो। इस मंत्र में सामाजिक एकता का इतना ऊंचा आदर्श प्रस्तुत किया गया है कि 12-3-1983 को भारत की प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की अध्यक्षता में दिल्ली में जब सब देशों की "ऑल-अलाइड मूवमेन्ट" की सातवीं कान्फ़रेन्स हुई तब पानामा के वाइस प्रेज़ीडेंट श्री जोर्ज इल्लूसिया ने ऋग्वेद का उक्त मंत्र पढ़ते हुए कहा कि संस्कृत-साहित्य का यह मंत्र संसार को समाजवाद की देन का सबसे पुराना प्रयत्न है। उन्होंने जो मंत्र सुनाया उसका अंग्रेज़ी में उन्होंने निम्न अनुवाद किया :

"Common be our prayer, Common be our end,
Common be our purpose, Common be our deliberations,
Common be our distress, Common be our hearts,
United be our intentions, perfect be the union among us."

संवनन-सूक्त (ऋग्वेद 10-191) समाजवाद का प्रतिपादन करने वाला सूक्त है। इस सूक्त का अनुवाद हम नीचे दे रहे हैं।

Samvanan Sukta is the last *Sukta* of *Rigveda.* It is a unique prayer of Social Brotherhood in which the devotee invokes the Lord of the world to inspire mankind with a feeling of love. In this there is also a response from the Lord in the form of a command that all of us should be bound together with a common aim, common thought and common will. The *mantra* says :

४२. सं समित् युवसे वृषन् अग्ने विश्वानि अर्य आ।
इडः पदे समिध्यसे सः नः वसूनि आ भर॥ १॥

भावार्थ–हे आशीर्वादों की वर्षा करने वाले (वृषन्) तथा वर्षा के जल के साथ अग्नि रूप (अग्ने) भगवन्! आप हम आर्य-युवाओं के लिये (अर्यः, युवसे) उपदेश दे रहे हो कि हम

सब (विश्वानि) मिलकर (सं समित्) रहें। इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि आप हम सबको एकता के सूत्र में पिरो रहे हो–**"विश्वानि संयुवसे"**–आप हममें तेजस्विता तथा महत्ता की आग उत्पन्न कर रहे हो। जैसे इन्धन प्रदीप्त होता है वैसे हमें प्रदीप्त कीजिये और धन-धान्य से समृद्ध कीजिये। आर्यसमाजों के सत्संगों में इस मंत्र को गाते हुए हिन्दी में इसे इस प्रकार गाया जाता है :

हे प्रभो! तुम शक्तिशाली हो बनाते सृष्टि को।
वेद सब गाते तुम्हें हैं कीजिये धन-वृष्टि को॥

God is addressed here as Vrishan (वृषण)–One who showers blessings on one and all. He is also addressed as Agni—(अग्नि)–One who possesses the qualities of fire—gives spiritual light, reduces evil to dust, and has the dazzling light of a thousand Suns. Further, He is addressed as Aryah—(अर्य:)—One who is Lord of Creation. He is adressed as one who unites all Creation—विश्वानि संयुवसे–as God is love, and love unites. God here is addressed as अर्य:–Master—'अर्य: स्वामी वैश्ययो:'. It is the man who brings in hatred that divides. Such are the qualities of the Lord who shines on the face of the earth—इड:पदे–with splendour and brilliance. One who possesses these qualities, He alone can fill our empty selves with prosperity.

४३. सं गच्छध्वम् सं वदध्वम् सं वः मनांसि जानताम्।
देवाः भागं यथा पूर्वे संजानानाः उपासते ॥ २ ॥

भावार्थ–मानो भगवान् हमारी प्रार्थना का उत्तर देते हुए कहते हैं: अगर सुख-समृद्धि चाहते हो, तो एक-साथ चलो, एक-साथ बोलो, एक-साथ सोचो, एक-साथ काम करो–जैसे—तुम्हारे बड़े रहते, सोचते-विचारते, एक-साथ हैं और अपने भिन्न मार्गों में नहीं भटकते–इस बात को जानकर तुम्हारे हिस्से में जो कार्य दिया गया उसे करते रहो। आर्यसमाज के सत्संगों में हम इस मंत्र को गाते हुए इसे इस प्रकार गाते हैं:

प्रेम से मिलकर चलो बोलो सभी ज्ञानी बनो।
पूर्वजों की भांति तुम कर्त्तव्य के मानी बनो॥

The response of the Creator to our prayer given in a *mantra* is: If you want Prosperity and Happiness then do move together, speak together and apply yourself seriously to the duty allotted to you.

४४. समानः मन्त्रः समितिः, समानी, समानं मनः, सह चित्तम् एषाम्। समानं मंत्रम् अभिमन्त्रये वः समानेन वः हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

भावार्थ–मानो भगवान् हमारी प्रार्थना का उत्तर देते हुए कहते हैं: तुम्हारा चिंतन एक-साथ हो। इसका यह अर्थ नहीं है कि चिंतन एक-जैसा हो। "एक-जैसा" तथा "एक-साथ" इन दोनों में बहुत भेद है। मंत्र में "एक-समान"-शब्द का प्रयोग "एक-साथ" की भावना से किया गया है। "समान"–"समानी"– इन शब्दों का प्रयोग करते-करते मंत्र में "समान" की जगह "सह"-शब्द का प्रयोग कर दिया गया है। तुम लोग साथ मिलकर मंत्रणा करो तो वह मंत्रणा किसी समान निर्णय पर पहुंचने के लिये हो ताकि तुम्हारे विचार-विनिमय के बाद अन्त में तुम एक निश्चय पर पहुंच जाओ। भगवान् कहते हैं कि विचारों की जो भिन्नता हो उसे "हवि" बनाकर अग्नि में भस्म कर दो। आर्यसमाज के सत्संगों में इस मंत्र को गाते हुए हिन्दी में इस प्रकार गाया जाता है :

हों विचार समान सबके चित्त, मन सब एक हों।
ज्ञान देता हूं बराबर भोग्य पा सब नेक हों॥

After consultations and discussions, your decision to be followed by one and all should be one and the same. There should be no reservation. Whatever differences there be, they should be extinguished by throwing them in the Agni-Yajna in the form of oblation—हविः–ultimately. Unity should prevail.

४५. समानी वः आकूतिः, समाना हृदयानि वः। समानं अस्तु वः मनः यथा वः सु सह असति ॥ ४ ॥

भावार्थ–"आकूतिः" का अर्थ है–इरादा। भगवान् का आदेश है कि जब समानता की बात कही जाती है तो इसका भी अर्थ यह है कि इरादा सबका एक-सा होना चाहिये। यह न हो कि

दिल में कुछ और हो और करने में कुछ और हो–कथनी और करनी में एकात्मता होनी चाहिये। इसीलिये कहा–हृदय में भी वही बात हो जो करो वही सोचो, और मन में भी वही हो जो सोचो वही करो। तभी कहा जा सकता है कि बात ठीक है–'सु सह असति'। वैदिक "असति"–शब्द का प्रयोग लौकिक-संस्कृत के–"अस्ति"–इस शब्द के लिये किया जाता है।

आर्यसमाज के सत्संगों में इस मंत्र को हिन्दी में गाते हुए इस प्रकार गाते हैं :

हों सभी के दिल तथा संकल्प अविरोधी सदा।
मन भरे हों प्रेम से जिससे बढ़े सुख-सम्पदा।।

Common be your Intention—आकूति:; Common be the desire of your Heart—हृदयानि; common be your Thoughts—मन:–so that there may be the live-together-existence among you—सु सह असति.

उपसंहार

इन मंत्रों की मुख्य बात यह है कि मनुष्य की कथनी तथा करनी में समानता होनी चाहिये, यह न हो कि दिल में कुछ हो और दिमाग में कुछ हो। प्राय: देखा जाता है कि हम जो कहते हैं वह करते नहीं। इसी को ध्यान में रख कर कहा गया है–'समानं मन:' तथा 'सह चित्तम्'–'मन' सोचता है और 'चित्त' या हृदय करता है। 'मन' और 'चित्त' में एकता का अर्थ है–'सोचने' और 'करने' मे एक-रसता होना। इस एकता का न होना ही ढोंगीपन कहलाता है। समाज की मानसिक समस्याओं का कारण यह ही है।

EPILOGUE

Most of our problems originate from our duplicity—we say something but do the reverse. In personal life as well as in social and political affairs there is always a wide gulf which some time or the other creates personal, social, political and economic problems. The only solution, as suggested by the *mantra* is to remove this gulf between 'कथनी' and 'करनी' which Swami Vidyanand Videh has put in a small सूक्ति 'स्वेन क्रतुना संवदेत्'–'Example is better than precept'.

मन-आवर्तन-सूक्त–Man Avartan Sukta

[Calling Back the Mind to the Centre]

जिस सूक्त पर हम लिखने लगे हैं, वह ऋग्वेद के 10वें मंडल का 58वां सूक्त है, जिसका नाम 'मन-आवर्तन-सूक्त' है। इस सूक्त का अन्तर्गत-भाव यह है कि "मन" दुनिया भर का चक्कर काटता फिरता है, किसी एक बिन्दु पर टिक कर नहीं बैठता। जीवन की सार्थकता और सफलता इस बात में है कि हम किसी एक लक्ष्य को केन्द्र बनाकर उसे जीवन में सिद्ध करें। इसी को ध्यान या मन का केन्द्रीकरण कहते हैं। मन इधर-उधर भटकता न रहे। इस सूक्त में बार-बार दोहराया गया है कि मेरा जो मन दुनिया भर में भटक रहा है उसे खींच कर मैं अपने केन्द्र में लाता हूं ताकि मेरा मन भटकन को नष्ट कर मेरे यहां आकर जीवन बिताये। बारह बार लगातार साधक अपने को आत्म-निर्देश (ऑटो-सजेश्चन) देता है कि ऐ मेरे मन क्यों तू भटकता है, आ, अपने घर में आ, और जो मेरा जीवन का लक्ष्य है उसे प्राप्त करने में मेरी मदद कर।

This is the 58th *Sukta* in the 10th *Mandal* of the *Rig Veda*.The theme of the *Sukta* is that it is the nature of the mind to wander all over the world. It does not stay at one point. For a meaningful life it is essential that the mind develop the faculty of concentration. The *Sukta* goes on repeating that your mind which runs about hither and thither has to be brought back to one point so that you concentrate on the problems of life and solve them rather than fritter away its vital force. The *Sukta* is of 12 stanzas *(Mantras)* in each of which is repeated that I bring back the mind under control and restrain it from wanderings.

४६. यत् ते यमं वैवस्वतं मनः जगाम दूरकम्।
तत् ते आ वर्तयामसि, इह क्षयाय जीवसे॥ १॥

भावार्थ–तेरा मन जो वैवस्वत-यम के पास जीवन से दूर चला गया है, जो जीवन से निराश हो गया है और मृत्यु को चाहने लगा है, निराशा के कारण आत्महत्या का विचार कर रहा

है, उसे मैं निराशा से लौटा लाता हूं ताकि तू इस लोक में जीने की इच्छा करे। (आप्टे के "संस्कृत-हिन्दी-कोश" के अनुसार "वैव"-शब्द का अर्थ है-"यम")।

That mind of yours which has gone far away to *Yama*—यम–Death—the son of *Vivaswan;* I bring it back—आ वर्तयामसि–for it to stay—क्षयाय–here, so that you may live—जीवसे.

The *mantra* is addressed to one who is so much depressed in mind that he is thinking of committing suicide. His mind is so much unhinged that he yearns to meet *Yama*—God of Death. To such a one it is said: Let not the mind run away with the depressing emotions; Call it back; Life is not to be thrown away like that. The ordinance from God—the Almighty—is: Come back and live, and live in this body. It is often found that due to physical or mental strain or illness, a person gets so much dejected that he thinks of nothing but getting rid of his troubles by committing suicide. If at that critical moment he is saved, then life opens out new avenues to him and his precious life is not wasted. The *mantra* is a call on how to save those whose mind is failing them and to inpsire them to come back to face the struggles of life.

४७. यत् ते दिवं, यत् पृथिवीं, मनः जगाम दूरकम्।
तत् ते आ वर्तयामसि, इह क्षयाय जीवसे॥ २॥

भावार्थ–तेरा मन जो द्यु-लोक और पृथिवी-लोक में दूर-दूर भागता फिरता है, अक्रियात्मक बातें करने लगा है, असंभव बातों में उलझ रहा है, उसे मैं इस लोक में लौटा लाता हूं ताकि तू क्रियात्मक विचार करने लगे।

That mind of yours which has gone far away to the heaven and to the earth, I bring it to stay here, so that you may live practical life.

A wandering mind thinking of heaven and earth means an impractical mind. Instead of thinking of issues on hand, it flies in imagination and builds castles in the air. To such a mind the *mantra* says: come to the world of flesh and blood and do things practical so that life may be worth living. Either a man may be so much sick of life that he thinks of running away from it, or so much fascinated with life that he lives in imagination. Such people are far away from the stern realities of life and are advised by these *mantras* to view it not as a fiction but as a matter of factual existence.

४८. यत् ते भूमिं चतुर्भृष्टिं मनः जगाम दूरकम्।
तत् ते आ वर्तयामसि, इह क्षयाय जीवसे॥ ३॥

भावार्थ–तेरा मन जो चारों तरफ़ से भ्रष्ट या टूटती हुई मट्टी के समान भूमि की तरफ़ हर तरह से क्षीण या टूटता जा रहा है, उसे मैं इस तरफ़ लौटा लाता हूं ताकि यह मन क्षीण होने या जीवन से निराश होने के स्थान में जीवन के प्रति उत्साह से पूर्ण हो जाय।

That mind of yours which has gone far away to the earth decaying on all four sides, I bring it back, for it to stay here, so that you may live.

That the mind going away to the earth decaying on all four sides is a significant expression. How is the earth decaying on all four sides? This expression points to the materialistic life pervading every nook and corner of the earth. There are many lanes and bye-lanes for the mind to wander about; two have already been noted; the third is rank materialism. The mind has lost itself in the material pleasures of life. Indulgence in material pleasures leads to decay. Hence, the *mantra* says that if your mind strays away to the material life which spells disaster both for the body and for the mind, then I will bring it back to you so that you may live the real life and be saved from decay which is the inevitable destiny of those who stick to the pleasures of flesh.

४९. यत् ते चतस्त्रः प्रदिशः मनः जगाम दूरकम्।
तत् ते आ वर्तयामसि, इह क्षयाय जीवसे॥ ४॥

भावार्थ–तेरा मन जो चारों दिशाओं में भरमता फिरता है उसे मैं यहां जीने के लिये खींच लाता हूं, सब दिशाओं में भरमते रहने से क्या लाभ, मनुष्य को एक केन्द्र बनाकर उसी में सफलता प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये।

That mind of yours which has gone far away to all the four quarters of the earth, I bring it back to the centre for it to stay here, so that you may live.

In the previous *mantra* mind's reach is limited to one's nearabouts; in this *mantra* the range visualised is unlimited; all the directions of the earth are the area for the mind to wander about. If the mind strays away in any direction it has to be brought back and here to stay for concentration on issues that matter for life.

५०. यत् ते समुद्रं अर्णवं मनः जगाम दूरकम्।
तत् ते आ वर्तयामसि, इह क्षयाय जीवसे॥५॥

भावार्थ–जो तेरा मन इस पृथिवी से दूर समुद्र तथा अर्णव की तरफ़ भागता-फिरता है, वहां से खींचकर इस धरा पर लाता हूं ताकि तू धरा पर जीवन व्यतीत करे। यहाँ "समुद्र" तथा "अर्णव"–इन दो शब्दों का प्रयोग किया गया है यद्यपि इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ में प्रयोग किया जाता है, परन्तु प्रायः प्रयोग एक साथ होता है। उदाहरणार्थ–"ऋतं च सत्यं च" मंत्र में "समुद्रादर्णवात्"–इन दो शब्दों का एक-साथ प्रयोग है। आप्टे के "संस्कृत-हिन्दी-कोश" के नपुंसक लिंग के "अर्णव"-शब्द का अर्थ जल या बादल दिया है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि "ऋतं च सत्यं च" मंत्र में जहां "ऋत" और "सत्य" का भेद किया गया है, वहां "समुद्र" और "बादल" का भी भेद किया गया है।

"ऋत" का अर्थ कई लोग "सामाजिक नियम" और "सत्य" का अर्थ "सनातन नियम" करते हैं, कई इसके विपरीत करते हैं; इसी तरह "समुद्र" का अर्थ सागर तथा "अर्णव" का अर्थ बादल, नदी, नाले या जल से किया जा सकता है। तेरा मन, निरुत्साहित होकर समुद्र में या नदी-नाले में डूब मरने को कर रहा है, मैं तेरी निराशा को दूर कर जीवन के लिये इस धराधाम में आनन्दमय जीवन बिताने के लिये खींच लाता हूं।

The mind of yours which has gone far away to the watery ocean, I bring it back, for it to stay here, so that you may live here.

The *mantra* takes the wanderings of the mind as far as the ocean. The mind may go anywhere in its unsettled state. Its salvation lies in settling down for concentration. Then only does it help one to reach the destination of life.

५१. यत् ते मरीचीः प्रवतः मनः जगाम दूरकम्।
तत् ते आ वर्तयामसि, इह क्षयाय जीवसे॥ ६॥

भावार्थ–तीव्रगामी किरणों के समान तेरा मन, जो अत्यन्त दूर-दूर भटकता फिरता है उसे मैं यहां खींच लाता हूं ताकि वह इधर-उधर भटकने की जगह यहीं पर रहे।

That mind of yours which has gone far away to the fast-moving rays of light, I bring it back, for it to stay here, so that you may live here.

What is meant by the fast-moving—'प्रवतः.'–rays of light—'मरीचीः'. The rays of light move at the speed of 186,000 miles per second. The speed of the mind is greater than that of the rays of light. The mind has to be brought under control so that life may have its goal achieved; unless it is brought back to the centre of its objective, it leads the man nowhere; like a truant child it will always be on the run and never at the task.

५२. यत् ते अपः, यत् औषधीः, मनः जगाम दूरकम्।
तत् ते आ वर्तयामसि, इह क्षयाय जीवसे॥ ७॥

भावार्थ–तेरा मन जो दूर-दूर के जलों तथा औषधियों की तरफ़ भागता-फिरता है, उसे मैं इसी धरातल पर खींच लाता हूं ताकि तू यहीं रहे।

That mind of yours which has gone far away to the waters, to the medicinal plants, I bring it back, for it to stay here, so that you may live here.

५३. यत् ते सूर्य, यत् उषसं, मनः जगाम दूरकम्।
तत् ते आ वर्तयामसि, इह क्षयाय जीवसे॥ ८॥

भावार्थ–जो तेरा मन सूर्य की तरफ़, उषा की तरफ, दूर-दूर भागता-फिरता है, उसे मैं इसी धरातल पर खींच लाता हूं ताकि तू यहीं रहे।

That mind of yours which has gone far away to the sun, to the dawn, I bring it back, for it to stay here, so that you may live here.

५४. यत् ते पर्वतान् बृहतः मनः जगाम दूरकम्।
तत् ते आ वर्तयामसि, इह क्षयाय जीवसे ॥ ९ ॥

भावार्थ–तेरा जो मन पर्वतों की तरफ़ भागता फिरता है, उसे पकड़ कर मैं यहां धराधाम में ले आता हूं ताकि तू यहीं रहे।

That mind of yours which has gone far away to the great mountains; I bring it back, for it to stay here, so that you may live here.

५५. यत् ते विश्वं इदम् जगत्, मनः जगाम दूरकम्।
तत् ते आ वर्तयामसि, इह क्षयाय जीवसे ॥ १० ॥

भावार्थ–जो यह सारा जगत् तेरे मन से दूर हो गया है, उस जगत् को तेरे मन में ला बसाता हूं ताकि तू इस जगत् में जी सके।

As the world as a whole has gone far away from your mind I bring this world back to your mind to enable you to live here.

५६. यत् ते पराः परावतः मनः जगाम दूरकम्।
तत् ते आ वर्तयामसि, इह क्षयाय जीवसे ॥ ११ ॥

भावार्थ–तेरा वह मन जो दूर-दूर से भी दूर, अत्यन्त दूर चला गया है; उस तेरे मन को खींच कर यहां लौटा लाता हूं ताकि तू इस जगत् में जी सके।

That mind of yours which has gone far, far away, farthest to the farthest—पराः परावतः, I bring it back, for it to stay here, so that you may live here.

५७. यत् ते भूतं च भव्यं च मनः जगाम दूरकम्।
तत् ते आ वर्तयामसि, इह क्षयाय जीवसे ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो तेरा मन भूत-काल तथा भविष्य-काल की तरफ़ भागता फिरता है, उसे मैं वर्तमान को सोचने के लिये यहां लौटा लाता हूं।

The mind of yours which has gone far away to the past and to the future, I bring it back here, for it to stay here, so that you may live here and think of the present.

उपसंहार

मानव की सब समस्याएं मन की समस्याएं हैं। अगर यह कहा जाय कि अनेक शारीरिक रोगों का बीज भी मन ही होता है—"मन चंगा तो कठौती में गंगा"—तो कोई ग़लत बात नहीं होगी। अस्वस्थ मन में स्वस्थ शरीर और अस्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन नहीं होता। अगर मन आत्मा के अधीन काम करे तो मनुष्य की सब समस्याओं का हल जो जाता है। इस सूक्त का सारा बल मन को स्वस्थ रखने पर है। मन की स्थिति यह है कि यह एक जगह टिक नहीं सकता, भौरे की तरह फूल-से फूल पर उड़ता रहता है। एक केन्द्र पर टिक कर बैठना इसके लिये मुसीबत है। मन के लिये सबसे बड़ा चैलेन्ज ध्यान का केन्द्रीकरण है। इसीलिये योग की व्याख्या करते हुए योग-दर्शन में कहा है—**"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः"**। मन एक दिशा में तो नहीं घूमता, इसके घूमने की सैकड़ों दिशाएं हैं, इसीलिये इस सूक्त में भिन्न-भिन्न दिशाओं का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि मैं—अर्थात् "आत्मदेव"—इसे हर दिशा से खींचकर लाता हूं। सोचा-समझा जाय, तो मन आत्मा का दास है। आत्मा का मन पर शासन होना चाहिये, परन्तु मन का आत्मा पर शासन होता है। यह प्रक्रिया पलटनी चाहिये। इसी उद्देश्य से मंत्र में बारह बार कहा गया है कि आत्माराम इस युद्ध में बारह बार मन को पटकने का यत्न कर रहे हैं। मन ने आत्मा को इस कदर पकड़ रखा है कि आत्मा को बार-बार दोहराना पड़ता है कि अब तुझे खींचकर केन्द्र में लाता हूं, अब लाता हूं, अब लाता हूं। इस प्रकार बार-बार दोहराना ऑटो-सेजेश्चन है।

EPILOGUE

All the problems of man are the problems of the mind. In fact, most of the physical illnesses can be traced to an

unhealthy mind. If the mind is under control of the soul, all the problems are solved. The *Sukta* lays emphasis on controlling the mind. The difficulty with the mind is that it continues to stray away and does not stay for long at one point. It defies concentration. There are several directions in which it wanders. It wanders in all directions and at such a speed that even the speed of the rays of light are slow in comparison. It flies far away farthest than the fastest. While being in the present, in a moment it goes back to the past, and in no time it flies to the future. After all, the mind is the servant of the soul. The soul should sway over the mind and not the other way. The *mantra* says that, unfortunately, it is the mind that dominates the soul. The process should be reversed. To that end it is repeatedly said in the 12 *mantras:* I bring the mind back to its master—the soul from whose grip it is struggling to get out. Only when the mind is brought back to its moorings can one solve the problems of life. Repeating these *mantras* as auto-suggestions is the education of the mind in concentration.

The text says; I bring the mind back here—*Kshayaaya Jeevase*—क्षयाय-जीवसे–so that you may live here. The words can also be interpreted as: I bring the mind back from its vagabondage for extinction so that you may live. The word *Kshaya*—'क्षय'–means extinction. The mind's running about has to be extinguished so that one may live.

It is a very significant and pragmatic expression implying that one must die so that one may live-die for the present, live for the future. Unless one dies to the ignominious past, one cannot expect a brilliant future. *Kshayaaya Jeevase*—क्षयाय जीवसे–means: O mind, die to thy fickleness to enjoy the immortality of the soul.

श्रद्धा-सूक्त–Shraddha Sukta
[Devotion, Dedication]

संसार के सब धर्म श्रद्धा पर बल देते हैं। "श्रद्धा" का अर्थ है कि मनुष्य अपने पर इतना भरोसा नहीं रखता जितना किसी आध्यात्मिक-शक्ति पर रखता है। वह आध्यात्मिक-शक्ति अपनी हो सकती है या बाहरी। बाहरी शक्ति भी दो प्रकार की है–किसी आध्यात्मिक-व्यक्ति की या स्वयं भगवान् की। व्यक्ति की आध्यात्मिक-शक्ति भगवान् की दी हुई होती है, इसलिये आध्यात्मिक-शक्ति अपनी या भगवान् की दी हुई शक्ति ही हो सकती है। श्रद्धा का अर्थ है–भगवान् पर भरोसा। भगवान् पर भरोसे का अर्थ है–अपने को भगवान् के प्रति सौंप देना। या तो मनुष्य यह सोचकर जीता है कि जो उसके अपने कर्म हैं उन्हीं पर उसे अपने को छोड़ देना चाहिये, या यह सोच कर जीता है कि जो भगवान् चाहेगा वह होगा, इसलिये भगवान् पर ही सब-कुछ छोड़ देता है। इसी विचार-धारा पर वेद का श्रद्धा-सूक्त 151 मंडल 10, मानव को शान्ति प्रदान करता है।

All religions lay emphasis on the efficacy of faith. Faith means reliance on the Divine Power and surrendering to it in all earnestness. One may rely on one's own efforts or surrender to the dispensation of the Supreme Being who alone guides the destiny of individuals, societies, and the world at large. Where effort fails, faith prevails. Incurable diseases which defy remedial measures disappear under faith-cure. One may not be able to reason out the why of it, but faith works wonders where all other means prove futile.

Faith in Sanskrit is called *Shraddha*. The 151 *Sukta* of the *Rig Veda Mandal* 10 deals with *Shraddha*—श्रद्धा–Faith.

५८. श्रद्धया अग्निः सभिध्यते, श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥१ ॥

भावार्थ–श्रद्धा से अग्नि उद्दीप्त होती है, श्रद्धा से आहुति दी जाती है, श्रद्धा से ही भाग्य का निर्णय होता है, श्रद्धा से ही

वचन बोले जाते है। श्रद्धा से यह सब-कुछ होता है-इसका क्या अर्थ है? जब किसी व्यक्ति की किसी कार्य में श्रद्धा होती है तब उसमें उस कार्य को पूर्ण करने के लिये उत्साह उत्पन्न हो जाता है, उसमें मानों आग लग जाती है। देश-भक्तों की देश के प्रति श्रद्धा का ही परिणाम होता है कि उनमें देश के प्रति या धर्म के प्रति जो आग धधक उठती है, वे फांसी की रस्सियों में झूल जाते हैं, प्राण तक दे देते हैं। उनके भीतर की श्रद्धा आग की सूचक है। उनका जीवन यज्ञमय हो जाता है। श्रद्धा की आग में जल जाना यज्ञ ही हवि है, इसी से उनका भाग्य बनता है, उनकी श्रद्धा से, उनकी वाणी से जो निकलता है वह उनकी श्रद्धा का ही परिणाम होता है।

Agni—अग्नि:-Fire is enkindled by *Shraddha*—Faith; By *Shraddha* is the *Havi*—हवि:-oblation offered; I declare—वेदयामसि-with my speech—वचसा, that Faith is at the head of Success (*Bhag*—भग, भाग्य) in life.

The *mantra* says: *Agni*—Fire—is enkindled by Faith. How is fire enkindled by faith? To understand this we must appreciate that in this context *Agni* does not mean the physical fire. The word *Agni* is symbolic of the fire of enthusiasm that burns in the heart of a man of faith, prompting him to dedicate his life to a noble cause. Next, the *mantra* says: By faith is oblation offered. Offering of oblation is also symbolic of the sacrifice one makes for one's religion, or country, or ideal. Lastly, the *mantra* says that faith is at the head of success or achievement in life. There is no denying the fact that even the hardest situations are met with faith within and God overhead.

५९. प्रियं श्रद्धे ददतः, प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वसु, इदं मे उदितं कृधि ॥२॥

भावार्थ-हे श्रद्धे देवि! जो देता है उसका भला करो, जो देने की इच्छा रखता है उसका भी भला करो; जो संसार का यज्ञ भावना से उपभोग करता है उसका भी भला करो। मैं जो याचना कर रहा हूं उसे स्वीकार करो ताकि मेरा उदय हो।

O Goddess of Faith, do good to him who gives—ददतः;

Do good to him who even wishes to give—दिदासतः; Do good to him who enjoys the world—भौजेषु—with a feeling that his enjoyment is a sort of *Yajna*—यज्वसु; Please grant what I have said—उदितं (and work for my rise or uplift).

The Vedic conception is that the instinct of possession and hoarding is at the root of all economic ills of the society. The *Upanishad* says : तिस्रः गतयः वित्तस्य—Money has three destinations—'दानम्, भोगः, क्षयः'—Either it is given to the needy (*Danam*—दानम्); or it is enjoyed (*Bhogah*—भोगः); or it goes waste (*Kshayah*—क्षयः). Giving to the needy is the best use of money, enjoyment comes next. If neither given nor enjoyed, then it goes waste. Of what use is it? Very few people give, but those who give do so out of faith—*Shraddhaa*—in higher values of life. The *mantra* addressing the Goddess *Shraddhaa* invokes the Goddess requesting her that all may be blessed: The giver; the one who intends to give: as well as the one who at least enjoys with a sense of non-attachment and does not let the wealth of the country go waste.

६०. यथा देवाः असुरेषु श्रद्धां उग्रेषु चक्रिरे ।
एवं भोजेषु यज्वसु अस्माकं उदितं कृधि ॥३ ॥

भावार्थ—जैसे दिव्य-गुणों के व्यक्ति असुरों या निकृष्ट-व्यक्तियों में भी बदलने की आस्था रखते हुए संसार का निस्संकोच भोग करते हैं और यह जानते हुए भी कि वे लोग कुपथगामी हैं उनसे घृणा नहीं करते जिससे वे सुधर जाते हैं, इसी भावना को हे श्रद्धा-देवी हमें प्रदान करो ताकि उनके प्रति हमारी प्रतिक्रिया देखकर वे सुधर जायें।

All the men of noble qualities—*Devaah*—देवाः—have faith in the worst of men; So, inspite of our enjoying the world we do so treating it as a *Yajna*. Please work for our rise, our upliftment.

The idea conveyed in this *mantra* is that if you have faith in the goodness of man, you will find nobility even in the worst of mankind. Enjoy the pleasant things of the world, but while enjoying them treat life as a *Yajna*—यज्ञ.

It means that our enjoying the world is with a feeling of nonattachment. In this way, O Lord, inspire us to work for our betterment.

६१. श्रद्धां देवाः यजमानाः वायुगोपाः उपासते।
श्रद्धां हृदय्यया आकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥४॥

भावार्थ—जो दिव्य गुण वाले भक्त लोग हृदय से श्रद्धा तथा भावनापूर्वक प्रतिदिन प्राणायाम (वायुगोपाः) करते हैं वे स्वस्थ रहने के कारण धन-सम्पत्ति प्राप्त करते है।

The devotees—यजमानाः, of Divine qualities—*Devaah*—देवाः, performing *Pranaayaam*—वायुगोपाः, worship the Lord with *Shraddhaa.* With an intense feeling of *Shraddha* in the heart one achieves prosperity by means of *Shraddhaa*—Faith.

One who has intense faith in one's heart, does *praanaayaam* and worships God with genuine faith, he is blessed by God and is never in want. His rise and betterment are assured.

६२. श्रद्धां प्रातः हवामहे, श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि, श्रद्धे श्रद्धापय इह नः ॥५॥

भावार्थ—हम श्रद्धा-देवी का आव्हान प्रातः, मध्याह्न, तथा सायंकाल प्रतिदिन करते हैं। हे श्रद्धा देवी आप हममें श्रद्धा को स्थिर रूप से स्थापित कर दो।

We invoke *Shraddhaa* in the morning, at mid-day, we invoke *Shraddhaa* at the setting of the sun. O *Shraddhaa,* inspire us with faith in thee.

उपसंहार

"श्रद्धा" शब्द का अर्थ है—विश्वास या भरोसा। मूल रूप में इसका अर्थ है—सत्य पर भरोसा, सत्य में विश्वास। सत्य हमारे जीवन का मूल आधार है। हमारा सम्पूर्ण सामाजिक विधान सत्य पर टिका हुआ है। असत्य बातों पर विश्वास श्रद्धा नहीं कहला सकता। श्रद्धा होने के लिये पहले यह जानना आवश्यक है कि जिस बात पर हम श्रद्धा करते हैं उसका आधार सत्य है या नहीं।

असत्य पर श्रद्धा नहीं हो सकती, वह अन्ध-विश्वास कहलाता है। जहां असत्य पर आस्था रखकर हम चलते हैं, वहां यह भी देखते हैं कि उस बात का स्वयं खंडन हो जाता है। तभी कहा है–**"सत्येनोत्तभिता भूमिः"–"सत्यमेव जयते"**–भूमि सत्य पर उठी है, सत्य पर ही स्थिर है।

इस सूक्त के चौथे मंत्र में "वायुगोपाः"-शब्द आया है जिसका अर्थ हमने प्रतिदिन "प्राणायाम" करना लिखा है। "वायु" का अर्थ हमने प्राणवायु किया है, "गोपाः" का अर्थ "गुपु रक्षणे" धातु से रक्षण किया है। शरीर में प्राण-वायु का रक्षण प्राणायाम से ही होता है जो स्वास्थ्य का सर्वोत्तम साधन है, इसलिये इस शब्द का अर्थ "प्राणायाम" करना संगत समझना चाहिये।

EPILOGUE

Shraddhaa is derived from the word *Shrat*—श्रत् which means Truth—सत्य. Truth is the basic principle of life. It is on the Truth that the whole of our social structure rests. *Shraddhaa* does not mean blind faith. *Shraddhaa* means an implicit faith in the ultimate triumph of the Truth in personal and social affairs of men and societies. It may take time, but the human experience is this.In the long run the Truth and nothing but the Truth prevails. To have faith in such a thing is *Shraddhaa.* Besides this meaning of *Shraddhaa,* the other meaning of the word is to have faith in the Supreme Power that presides over the universe. What am I in this vast universe? It is the Will of the Supreme Power that counts. That Power which regulates the movement of the tiniest and the biggest—the Will of that Power prevails. Man in his impudence vaunts to be the arbitrator of his destiny, but there are moments when he finds himself crest-fallen. Then, he realises that it is not he, but some other power before whom one has to surrender. That is Faith, that is *Shraddhaa.*

This *Sukta* invokes *Shraddhaa*—morning, noon, evening, and night—to be the guide of one's life so that one may leave oneself in the hands of that Power Supreme with Faith in the kindness of the Lord.

There is another word which needs explanation. We have translated the word *Vaayugopaah* (वायुगोपा:) as those who perform *Praanaayaam* (प्राणायाम). Why so? *Vaayu* (वायु) means air or breath we breathe in or *Praan*—'प्राण'. *Gopaah* (गोपा:) comes from the root 'गुपु रक्षणे'. *Gopa* (गोप) means to protect. Thus *Vaayugopaah* (वायुगोपा:) means those who protect the breath of life—which means *Praanaayaam* 'प्राणायाम'. *Vaayugopaah* (वायुगोपा:) are those who preserve their life by means of controlling their life energy inherent in the air we breathe in. This Science is called *Praanaayaam*—प्राणायाम–which is a special invention of Indian culture. *Praanaayaam* does not mean Deep Breathing only. No doubt, it does mean that also, but culturally it is a scientific cultural process, full of technique invented by the Rishis of old. We have dealt with this technique in this book else-where also.

मृत्यु-सूक्त–Mrityu Sukta

[About Death]

ऋग्वेद के 10वें मंडल का 18वां सूक्त "मृत्यु-सूक्त" है। इसमें मृत्यु को संबोधित किया गया है। मृत्यु को व्यक्तित्व प्रदान करके उसे एक शरीरधारी देवता मान कर जिसके देखने को आंखें और सुनने को कान हैं कहा गया है कि रास्ते से हट जाओ और हमें नाचने, गाने, हंसने और आनन्द मनाने दो। इस आशय से इस सूक्त में मृत्यु को सम्बोधित करते हुए कहा गया है :

The 18th *Sukta* of the 10th *Mandal* of the *Rig Veda* is addressed to Death. Death is personified as a deity with eyes to see and ears to hear. The *Sukta* addresses the Death as a person and asks him to get out of the way and let one enjoy long life of frolic, dance, and laughter. Thus commences the address to Death :

६३. **परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां, यः ते स्व इतरः देवयानात्।**
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि, मा नः प्रजां रीरिषः मा
उत वीरान्॥ १ ॥

भावार्थ–हे मृत्यु! दूर चले जाओ, देवताओं का अमरत्व का जो मार्ग है, हे मृत्यु तुम्हारा मार्ग उससे इतर है, भिन्न है। तेरी आंखें हैं या नहीं, तेरे कान हैं या नहीं। आंखें फाड़कर और कान खोलकर सुन ले, जो मैं कह रहा हूं उसे सुन ले कि हमारी प्रजा को और हमारे वीर-युवकों को दुःख मत दे।

O Death! Depart to a distant path; go to the path that is thy own—'यः तेस्वः'. Go the path which is other than the path of the *Devaas*—'इतरः देवयानात्'. I speak unto thee: look with thine eyes and hear with thine ears. Do not harm our offsprings nor do harm our menfolk.

"देवयान" से इतर मार्ग "पितृयान" कहलाता है। "देवयान" वह मार्ग है जो देवताओं का कहा जा सकता है, "पितृयान" वह मार्ग है जो साधारण माता-पिता का, जीवन का मार्ग है। इस प्रकरण का यह अर्थ संभव है कि मृत्यु का भय साधारण लोगों को सताता है, देवत्व वाले लोगों को नहीं। उच्च-कोटि के

व्यक्तियों को मृत्यु से कोई भय नहीं लगता। इस दृष्टि से उच्च-कोटि के व्यक्तियों के लिये मृत्यु की कोई सत्ता ही नहीं है। मृत्यु तो मृत्यु इसलिये है क्योंकि उससे भय लगता है। अगर मृत्यु का भय न रहे, तो मृत्यु भी न रहे। तभी गीता में कहा है कि मृत्यु तो कपड़ों के पुराने होने पर उनके बदलने के समान शरीर का बदलना है।

The *mantra* addressing the Death advises him to go to the path which is not the path of the *Devaas*—that is, of men of divine qualities. This means men of divine qualities, men of virtue, men who are not afraid of death; it is only the wicked, the criminals, who are in constant fear of death.

Other than the path of *Devaas—Devayaan*—'देवयान'—may also mean the path of *Pitriyan*—'पितृयान'—that is, which is not the path of the *Devaas.* which is the path of the ordinary men. In this context the *mantra* may mean that the fear of death may assail the ordinary men, but those who are of higher or divine qualities shall have no fear of death, and hence for them there is no existence of death. Death is death because of the fear attendant with it.

६४. मृत्योः पदं योपयन्तः यदा एत द्राघीयः आयुः प्रतरं दधानाः। आप्यायमानाः प्रजया धनेन शुद्धाः पूताः भवत यज्ञियासः॥ २॥

भावार्थ–मृत्यु के पांव को विशेष योजनाओं द्वारा परे धकेलकर और मृत्यु के "पार" (प्रतर) जाकर जो दीर्घ आयु प्राप्त कर लेते हैं और पुत्र-पौत्र, धन आदि प्राप्त कर बहतर हो जाते हैं, वे शुद्ध और पवित्र हो जाते है। "यज्ञिय" हो जाते है।, मानो उन्होंने जीवन का यज्ञ पूरा कर लिया हो।

If after crossing over the path of death you reach—"ऐत"; longer, larger—"द्राधीय", and better life,—"प्रतर"; then endowed—"आप्यायमानाः", with progeny and prosperity, cleansed and pure, you attain the status of those who perform the *Yajna*—"यज्ञियासः".

What is the status of those who perform the Yajna? Their life is that of sacrifice, self-abnegation, and surrender. One who gets over the fear of death and attains long and better life, as prayed for in this *mantra*, it becomes his duty to live a life of sacrifice and selflessness.

६५. इमे जीवाः वि मृतैः आ आववृत्रन् अभूत भद्रा देवहूतिः
नः अद्य। प्राञ्चः अगाम नृतये हसाय, द्राघीयः आयुः
प्रतरं दधानाः ॥ ३ ॥

भावार्थ–जो लोग मृत्यु को लांघकर "यज्ञीय" हो गये हैं उनका कहना है कि आज यज्ञीय हो जाने के बाद हमारा देवत्व का आह्वान सफल हो गया, हम जीव मृतकों से अलग हो गये, हम लोग देवयान के मार्ग पर चल पड़े। अब मृत्यु से पार होकर, दीर्घ आयु पाकर हम नाचते, गाते, हंसते, दीर्घ आयु का आनन्द उठायेंगे। यज्ञीय होने का अर्थ है–त्यागमय–जीवन।

Today our call for Divine (देव हूतिः) has been worthwhile—अभूत् भद्राः, for the reason that these persons (of Divine qualities) have separated themselves from those who have been called dead. May we, the living ones, move forward, dancing, laughing and possessing long and better life.

The *mantra* extols life of the living who move, dance, and laugh, live long and live better. Death has to be overcome and life has to be lived in all its fullness. Such an active and exuberant life has to be lived for one hundred years. For the next *mantra* says:

६६. इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि, मा एषाम् नु गात् अपरः,
अर्थम् एतत्। शतं जीवन्तु शरदः, पुरूचीः, अन्तः
मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥ ४ ॥

भावार्थ–भगवान् कहते हैं कि मैंने, जो देवयान–मार्ग पर चल पड़े हैं, उनके जीवन की यह परिधि बांध दी है, इस परिधि का उल्लंघन नहीं होना चाहिये, यह पक्की बात है। आगे–आगे जीवन चलाने वाले सौ वर्ष तक जीयें, अगर इस बीच मृत्यु आने का यत्न करे तो अपनी जिजीविषा के पर्वत–समान बल से मृत्यु को परे धकेल दो।

I mark out this limit for the living persons; none should intervene in this limit; this should be accepted as a settled fact—अर्थ एतत्. May they live one hundred years—शतं जीवन्तु,

progressing and moving forward—पुरुचीः. If death intervenes (in this period of one hundred years)., then ward it off by means of your mountaineous strength.

Unlike the Biblical conception of the span of human life being three score years and ten, the Vedic conception of the span of human life is one hundred years—शतं जीवन्तु. Not only that, this *mantra* says that if you find death intervening during this period to cut the life short, then fight it out with the strength of a mountain of Will to Live in this struggle between Life and Death so that Death may not cross over your Will to Live.

To ward off death, the following *mantra* gives illustrations how life should be followed by another life. There should be continouus healthy life, not even illness may be allowed to intervene:

६७. यथा अहानि अनुपूर्वं भवन्ति, यथा ऋतवः ऋतुभिः
यन्ति साधु। यथा न पूर्वं अपरः जहाति, एवा धातः
आयूंषि कल्पय एषाम्॥ ५॥

भावार्थ—जैसे दिन के बाद दिन आगे-पीछे आता है, जैसे नियमपूर्वक ऋतु के बाद ऋतु आती है, जैसे पीछा पहले के साथ जुड़ा रहता है, वैसे ही याज्ञिकों या देवयानियों के साथ आयु भी आगे-पीछे जुड़ी रहती है—एक आयु आती है, उसके पीछे दूसरी आयु आ जाती है।

Just as days follow days; just as seasons follow seasons in order; just as the successor does not abandon his predcessor; so, O Upholder of the Universe, organise the lives of these men.

The idea conveyed in this *mantra* is that life should be so led that there be no room for fear of death. Day follows day, season follows season. So should life follow life. This is the prayer besought of God. It does not mean that death can be banished from the scheme of life. It only means that life, so long as we are living, should be lived in all its fullness. One should think of prolongation of life, rather than dwell upon death which will come when it should come.

Everyday's life should be followed by life—no illness, no depression, nothing that obstructs the smooth flow of life, Even regarding old age it says:

६८. आ रोहत आयुः जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यतिष्ठ। इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषा दीर्घं आयुः करति जीवसे वः॥ ६॥

भावार्थ–वृद्धावस्था तो आती-ही-आती है, उसका खुशी से वरण करो; युवावस्था तथा वृद्धावस्था–ये दोनों अनुपूर्व–आगे-पीछे आती रहती हैं, परन्तु तुम जहां हो वहां यत्न करते रहो, टिके रहो। संसार के रचने हारा–"त्वष्टा"–अगर तुम जहां हो वहां टिके रहोगे और यतमान रहोगे, तो वह तुम्हें अच्छा जन्म देगा, जोशवाला जीवन और जीने के लिये दीर्घ आयु देगा।

Oh Men! embark on life, evenwhile accepting the oncoming old age—जरसम्—striving—यतमानाः—as before; stay where you are—यतिष्ठ Here—इह the Creator—त्वष्टा, who has given you good life—सुजनिमा, with zest—सजोषा, may grant you long life—दीर्घ आयुः.

Here old age is accepted as an inevitable fact of life, but one is asked to remain as active—यतमानाः—as one was before old age came upon him. Not only active, there should be the same zest in life as one had in youth. One should accept chronological old age, but at the same time should continue to work with the same enthusiasm as one had when he was young.

A distinction is made in this *mantra* between the dead and the living. The persons of Divine qualities are called the living ones; others, the dead ones. The Divine people stand apart from the Undivine. It is for the Divine that long and better life is accorded; the Undivine are as good as dead. The same principle applies to women with regard to whom the next *mantra* says:

६९. इमाः नारीः अविधवाः सुपत्नीः आंजनेन सर्पिषा सं विशन्तु। अनश्रवः अनमीवाः सुरत्नाः आरोहन्तु जनयः योनिं अग्रे॥ ७॥

जीवन के प्रति पुरुषों के संबंध में जो दृष्टिकोण पहले मंत्रों में दर्शाया है वही दृष्टिकोण उक्त मंत्र तथा नीचे के मंत्र में स्त्रियों के संबंध में अपनाया गया दर्शाया गया है :

भावार्थ–जो स्त्रियां अविधवा हैं, विधवा नहीं हैं, सुपत्नी हैं, रत्नों से जटित हैं, आभूषण पहने हुए हैं, उबटन लगाती हैं, वे अपने मकान में प्रवेश करें। इन स्त्रियों का पति विद्यमान है, मरा नहीं है, इसलिये ये "अनश्रु" हैं, आंसू नहीं बहातीं, रोग रहित हैं, "अनमीवा:" हैं, रत्न-जड़ित हैं, "सुरत्ना:" हैं, पुत्र-पुत्रियां उत्पन्न कर सकती हैं, "जनय:" हैं।

Let the women, who are not widows—अविधवा:, who are good wives—सुपत्नी:, anointed with unguent and butter, with no tears in their eyes—अनश्रवा:, without any disease—अनमीवा:, decorated with precious jewels—सुरत्ना:, capable of giving birth to children—जनय:, come—आरोहन्तु, and be the first to enter the house—योनिं अग्रे सविशन्तु.

For men who get over the fear of death, the *mantra* says, they should wish for long and better life, a pleasant life of dance and laughter; for women with similar conception of death, it is said that they should anoint themselves with unguent and butter, decorate themselves with jewels, should be free from sorrow and disease. The *mantra* says that such an experience is life, the lack of such an experience is death.

To another woman who loses her husband and is weeping and wailing, the *mantra* advises endurance of the inevitable and facing the reality as it is:

७०. उदीर्ष्व नारी अभि जीवलोकं, गतासुं एतं उपशेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोः तव इदम् पत्युः जनित्वं अभि
संबभूथ॥ ८॥

भावार्थ–यह मंत्र विधवा केलिये कहा गया है, जिसका पति मर गया है। इससे पहला मंत्र अविधवा के लिये कहा गया था। विधवा जो मृत्यु का शिकार हो गई है, जिसका पति मर गया है, जो "गतासु"–प्राणान्त पति को याद कर-करके जीवन से भाग रही है उसे वेद कहता है–ऐ नारी, उठ, जीव-लोक को आ,

अब तो यह उपशेष रह गया है, अब इसका सिर्फ़ नाम रह गया है, वह स्वयं नहीं रहा है। यह ठीक है कि इसने तेरा हाथ पकड़ा था, तेरी पालन का व्रत लिया था, सन्तानोत्पत्ति भी की थी, परन्तु अब जब इसका प्राणान्त हो गया है, तो उठ, जीव-लोक में आकर जीवन-यापन कर। इसके अतिरिक्त मृत-व्यक्ति के पुत्रादि को भी निराश न होकर मनुष्यता के गुणों को निर्वाहने का उपदेश दिया गया है।

Rise, Oh Woman! come unto the world of the living. Why dost thou sleepest near the one who is lifeless Of thy husband who took thy hand (in marriage)—हस्त ग्राभस्य—and offered to support thee—दिधिषोः—his, this much only was the genial—जनित्वं—association with thee.

The woman faces two important situations in life—one that of a married life if the husband is alive, the other that of widowhood, if the husband is dead. In the 7th *mantra* the former situation is dealt with. The married woman should anoint herself with unguent and butter, dance and laugh and play; the widow, on the other hand, though disposed to pessimism, should not weep and wail for the lost husband. She should feel that the period she and her husband lived together was the only period they were destined to live in each other's company. Having realised this, she should rise and prepare herself for the world of the livivg for active life.

Similarly, with regard to the dead man of the family, his successor is asked in the following *mantra* not to weep and wail but to take up the challenge of life and follow the path of the predecessor, leading to victory:

७१. धनुः हस्तात् आददानः मृतस्य अस्मे क्षत्राय वर्चसे बलाय। अत्र एव त्वम् इह, वयं सुवीराः विश्वाः स्पृधः अभिमातीः जयेम ॥ ९ ॥

भावार्थ–अविधवा को कहा कि तुम्हारे घर में कोई मौत हो गई हो तो समझ लो कि मरना तो सब को ही है, फिर जीव-लोक को क्यों भूलें। विधवा को कहा कि आयुभर रोना-धोना

बेकार है; अब मृत व्यक्ति की सन्तान को वेद ने उपदेश दिया है: मृत व्यक्ति के हाथ से धनुष लेकर अब तो यहां तू ही रह गया है जो अपने पिता का ओज और बल से परिवार के क्षात्र-धर्म को निबाहेगा। तुम्हारा कुल वीरों का, स्पर्धा का तथा अभिमानी कुल है। कुल की लाज रखना और जहां जाना विजय प्राप्त करना। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वैदिक-दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति को युद्ध-भूमि में ही उतरना है। वेद के ये सब शब्द उपलक्षणात्मक हैं। कहने का अभिप्राय सिर्फ़ इतना है कि सन्तान का काम कुल की मर्यादा को बनाये रखना है, हाथ-पर-हाथ रखकर बैठे रहना नहीं।

Taking the bow from the hand of the dead man, to maintain our vigour, energy, and strength, we say to the dead: You be here (lie here dead), we along with our heroic children win victory over our arrogant—अभिभातीः—enemies.

The *mantra* says that nothing comes to an end after death. The woman with her husband alive adorns herself, looks after her health, and lives a full life of a woman; with her husband dead she should not weep and wail, but take the event as a stern and solid fact and face life boldly. The man with his wife dead should aspire to live a long life, marching ahead, dancing and laughing. He should plan to live one hundred years. When the elders die, the successors should carry on the fight to advance the cause of their predecessors to mantain the vigour, energy, and strength of the family. There is no room for pessimism anywhere, no shadow of death mars the zest for life of the man and the woman of the Vedic culture.

The successor of the dead is advised hereunder to extend his scope of activity to every nook and corner of the earth, for the earth is his protector and will enrich him with gifts if he puts forth his labour to deserve those riches:

७२. उप सर्प मातरं भूमिम् एताम् उरु व्यचसं पृथिवीम्
सुशेवाम्। ऊर्णम्रदा युवतिः दक्षिणावते एषा त्वा पातु
निर्ऋतेः उपस्थात्॥ १०॥

भावार्थ–मृत–व्यक्तियों के उत्तराधिकारी को लक्ष्य में रखकर यह मंत्र कहा गया है–इस विस्तृत, महती, सम्पत्तिशाली मातृभूमि की तरफ़ कदम बढ़ाओ। यह ऊन की तरह, मृदु तथा दक्ष–चतुर युवती के सान्निध्य के समान तुम्हारी कष्टों से रक्षा करेगी।

This *mantra* is addressed to the successor of the dead. It says: Proceed–उरु सर्प, to this Mother-Earth which is spread far and wide-उरु व्यचसम्, and is delightful—सुशेवाम्. Let this earth, like a virgin—युवतिः, soft as wool—ऊर्ण मुदा, protect you from the proximity—उपस्थात्, of troubles—निर्ऋतेः, You who deserves unsought help—दक्षिणा or who is well-versed in his profession.

Some scholars read in this the idea of entering the dead body into the earth. But that does not fit in with the general tenor of the *Sukta*. The idea running through the *mantra* is that of daring and adventure. In the previous *mantra* it is said that we should overcome our enemies. Our translation is more in keeping with the strain pervading the whole of the *Sukta*.

The same tone continues in the *mantra* that follows:

७३. **उत् स्वञ्चस्व पृथिवि, मा नि बाधथाः, सूपायना अस्मै**
भव, सूपवञ्चना। माता पुत्रं यथा सिचा अभि एनं
भूमे ऊर्णुहि॥ ११ ॥

भावार्थ–हे पृथिवी! उठो, जो युवक तुम्हारी तरफ़ आ रहा है उसे ऐसे साधन–उपाय–प्रदान करो जिससे उसके मार्ग की बाधाएं निरस्त हो जायें। जैसे माता पुत्र को रक्षा से ढक लेती है इस तरह इस पुत्र को आशीर्वादों से ढक दो।

The idea conveyed in this *mantra* is that it is not only the man who has to put forth his effort to ward off death, it is the circumstances also that make one's life a success and enable one to enjoy a situation in which one finds oneself placed. What circumstances? This is mentioned in the next *mantra* :

७४. **उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु, सहस्त्रं मित उप हि**
श्रयन्ताम्। ते गृहासः घृतश्चुतः भवन्तु, विश्वा अहाः
अस्मे शरणाः सन्तु अत्र॥ १२ ॥

भावार्थ–ऊपर उछलती हुई (भूचाल) आती हुई पृथिवी स्थिर हो जाय, इसमें सहस्त्रों व्यक्ति आश्रय लें। वे बसें और उनके घरों में घी की बहुतायत हो, प्रतिदिन विश्व के लोगों को यहां शरण मिले।

May the earth, while heaving up be steady; May thousands upon thousands (of people) find shelter in it; May your houses exude *Ghee;* May every day here be a shelter for him (who is in search of a shelter).

७५. उत् ते स्तभ्नामि पृथिवीं, त्वत् परि इमं लोगं निदधत्,
माउ अहम् रिषम्। एतां स्थूणां पितरः धारयन्तु ते,
अत्रा यमः सादना ते मिनोतु॥ १३॥

भावार्थ–मैं तेरे लिये पृथिवी को स्थिर करता हूं ताकि तू इस जगह रह सके। मैं इस पृथिवी को क्षति (रिष्) न पहुंचाऊं। इस पोल के समान स्थिर इस पृथिवी को स्थिर रखूं। संसार को नियमों में बांधे रखने वाला यम तेरे लिये निवास के लिये स्थान को माप दे–सुरक्षित कर दे।

I make the earth steady for thee, providing for thee this place (for residence) लोगं; I may not injure (any one); Let the elders—पितरः, hold for thee this place for permanent residence—स्थूणा, Let the Ordainer of the universe—यमः–measure out—मिनोतु, this place for residence—सदना–for you.

For safety and security, which are essential for life and deterrent to death, shelter on the earth is necessary. Besides shelter, food is to be provided. This *Sukta* mentions about—गृहासः, food represented by *Ghee* which is the essential substance of nourishment as provided by the Ordainer of life—यम.

H. H. Wilson translates this stanza as under:

I heap up the earth around thee, placing (upon thee) this clod of earth; may I not be injured: may the *Pitris* sustain this thy monument; may *Yama* make thee a dwelling here.

Our translation refers to the living person who has to

overcome death, for whom a place of residence has to be provided. Wilson's translation refers to the dead person whose body has to be consigned to the tomb.

Both meanings are plausible, but as the tenor of the *Sukta* is to overcome and drive death away—'परं मृत्यों: अनुपरेहि'–and live a comfortable life of dance, laughter—अगाम नृतये हासाय–for men and women and to wish for a long life—द्राघीय: आयु: प्रतर:, our meaning is more to the point. Wilson's translation can be accepted if we accept the theory of entombment of the dead as an injunction of the *Vedas*, which it is not.

७६. प्रतीचीने माम् अहनि इष्वाः पर्णं इव आ दधुः ।
प्रतीचीं जग्रभा वाचं अश्वं रशनया यथा ॥ १४ ॥

भावार्थ–जब मेरे दिन प्रतिकूल होते हैं, ऐसे प्रताड़ित करते हैं जैसे पत्ते को बाण आसानी में बेध देता है; तब मैं प्रतिकूल वाणी को संयम में रख लेता हूं, ठीक ऐसे जैसे घोड़े को लगाम प्रतिकूल आचरण करने से रोक लेती है।

When my days are adverse—प्रतीचीनं, (they strike me) as the arrow strikes the leaf. I restrain—जग्रभा, my retaliatory adverse tongue—प्रतीचीं–just as the horse is bridled by the rein.

उपसंहार

पहले चार मंत्रों का देवता "मृत्यु" है, परन्तु संपूर्ण सूक्त मृत्यु-विषयक है, इसलिये हमने इस सूक्त का नाम मृत्यु-सूक्त रखा है। यद्यपि इस सूक्त का नाम "मृत्यु-सूक्त" रखा गया है–मृत्यु का अध्याय–तो भी अगर गहराई से देखा जाय, तो यह जीवन का अध्याय है। प्रारम्भ का मंत्र ही इस ललकार से शुरू होता है–अरे मृत्यु, भागो यहां से, यहां तुम्हारा क्या काम है? इस सूक्त में मृत्यु के साथ आमना-सामना करके उसे ललकारते हुए कहा गया है कि अरे कम्बख़्त मौत! अगर तेरी आंखें देखने को हैं और कान सुनने को हैं तो देख, लोग क्या चाहते हैं। लोग चाहते हैं कि वे शान्ति से और सुख से ज़िन्दगी बितायें। इस सूक्त का मुख्य विषय दीर्घ-जीवन है–द्राघीयः आयुः। परमात्मा के

सन्मुख कामना घोषित की गई है जिसे 'देवहूति' कहा गया है-गाएं, नाचें, हंसें और आनन्द से जीवन बिताएं। विधवाओं को भी उपदेश दिया गया है कि रोना-धोना बेकार है, जो यथार्थ-स्थिति है उसका सामना करो, युवकों को कहा गया है कि मातृभूमि की रक्षा करते हुए उसकी शरण में आओ।

EPILOGUE

Death is the deity—देवता—of the first four *mantras*, but as the whole *Sukta* of fourteen *mantras* deals with death, we have styled it as *Mrityu Sukta*—मृत्यु-सूक्त.

But though it is styled *Mrityu Sukta*—Chapter on Death—it is actually the Chapter on Life. In the very beginning the *mantra* says: Oh Death! "depart to a distant path". In this *Sukta* one calls the death face to face and exhorts him, as if he had eyes to see and ears to hear, to let people live in peace and harmony. The main theme is of longevity—द्राघीयः आयुः—long life, and not of death. There is a divine call—देवहूतिः—to human beings to laugh, sing and dance, and lengthen the days of life warding off the dark shadows of death. Even women are exhorted to take part in the festivities of life. Let the dead bury their dead— is the burden of the song of every stanza. Even the widow is advised not to bewail the loss too long and to accept the death of her husband as a solid fact of life—अर्थ एतत्.

The depressing emotions of death are to be met by the mountain of optimism and life is continued as days follow days and seasons follow seasons. Optimism has been raised to such a pitch that while ending the *Sukta* the *mantra* says that an injured person even though he were struck to the quick as the leaf is pierced through by the arrow should not retaliate even by the use of his tongue and should restrain himself as the horse is restrained by holding up his reins.

अघमर्षण मंत्राः–Aghamarshan Verses

[Smashing of Sin]

नीचे लिखे 3 मंत्र ऋग्वेद के 10वें मंडल के 190 सूक्त के हैं। आर्यसमाजी लोग जो प्रतिदिन संध्या करते हैं, ये मंत्र उसके ही भाग हैं। इन्हें अघमर्षण-मंत्र कहा जाता है जिसका अर्थ है–पाप का मर्दन। "अघ" का अर्थ है–पाप, "मर्षण" का अर्थ है–पीसना या पीसकर साफ़ कर देना। इस दृष्टि से ये मंत्र सृष्टि में जो विकास-क्रम चल रहा है, भक्त को उस क्रम को याद कराकर उसके मन में यह भाव दृढ़ कर देता है कि इस शृखला में सत्य को ही स्थान है, असत्य को–पाप को–कोई स्थान नहीं, इसलिये व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि उसी मार्ग पर चले जो सृष्टिकर्त्ता ने विश्व के लिये बनाया है। इस सूक्त में कई ऐसे शब्द आये हैं जिनका अर्थ समझना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, "ऋत", "सत्य", "तप" आदि ऐसे शब्द है जो वैदिक-साहित्य में जगह-जगह पाये जाते हैं और हम उन मंत्रों का जिनमें ये शब्द आते हैं प्रतिदिन पाठ करते हैं। इस सारे गोरखधंधे का इन मंत्रों के अर्थ को समझकर खुलासा हो जायगा–इसलिये संध्या के इन तीनों मंत्रों के विषय में कुछ लिख देना आवश्यक है।

The following three *mantras* are from the 10th *Mandal,* 190th *Sukta* of the *Rig Veda.* They are a part and parcel of the daily prayer *(Sandhya)* Which every Hindu is expected to offer. They are called *Aghamarshan Mantras* (अघ मर्षण मंत्राः) which means smashing of sin.

In the *mantras* the stupendous process of the origin and the working of the universe is described. How in the beginning of creation the Social, Universal and Moral Laws were set in motion by the Infinite, Divine Power, how Time and Space came into existence, how the cycle of year, month, days and nights started, and how all this is operating under the strict control, vigilence, and regulation—all this is emphasised in this *Sukta* to instil in the mind of the recitor that there is no laxity in the administration of justice in the realm of the divine. One who realises the inevitability of the law of Cause and Effect abstains from evil deeds and does not fall a prey to sin. *Agha* (अघ) means sin, and *Marshan* (मर्षण) means smashing. Hence, these *mantras* are styled as the *Aghamarshan Mantras.*

७७. ऋतम् च सत्यम् च अभीद्धात् तपसः अधि अजायत।
ततः रात्री अजायत ततः समुद्रः अर्णवः ॥ १ ॥

भावार्थ–संसार नियमों के आधार पर चल रहा है। विश्व का संचालन जिन नियमों पर चल रहा है उन्हें वैदिक शब्दावली में दो भागों में बांटा गया है, जिन्हें "ऋत" तथा "सत्य" कहा गया है। कई लोग "ऋत" तथा "सत्य" का एक ही अर्थ करते हैं, परन्तु अगर दोनों का एक ही अर्थ है तो यह कहने का क्या अर्थ है कि "ऋत" और "सत्य"–इन दोनों को भगवान् ने बनाया। इन दोनों के भेद को समझने के लिये देखना होगा कि संस्कृत में ये शब्द किस-किस रूप में प्रयुक्त हुए हैं। ऋतु, ऋत्विज आदि ऐसे शब्द हैं जिनसे उक्त दोनों शब्दों के भेद पर प्रकाश पड़ सकता है। "ऋतु" नियम से एक-दूसरे के बाद आती हैं, 'ऋत्विज" का काम यज्ञ को नियमित करना है। इसका अर्थ यह हुआ कि भौतिक तथा सामाजिक नियमों के लिये ''ऋत'' शब्द का प्रयोग होता है, और अगर संसार के नियम दो प्रकार के हैं–सामाजिक नियम, जिन्हें नैमित्तिक कहा जा सकता है, तथा नित्य-नियम जो अपरिवर्तनशील हैं, तो 'ऋत' और 'सत्य'–इन दो शब्दों का भेद स्पष्ट हो जाता है। वेद का कहना है कि सृष्टि का प्रारम्भ परिवर्तनशील सामाजिक नियमों तथा अपरिवर्तनशील नित्य नियमों से हुआ। इसी को मंत्र में कहा है–"ऋतम् च सत्यम् च अजायत"।

ऋत तथा सत्य से सृष्ट्युत्पत्ति कैसे हुई? उसका उत्तर है–"अभीद्ध तप" से। "तप" से का क्या अभिप्राय है। हमारा जीवन कहने को कुछ और करने को कुछ और होता है? कथनी और करनी में भेद रहता है। यह भेद क्यों रहता है। यह भेद इसलिये होता है क्योंकि कहना आसान होता है, करना कठिन होता है। इन दोनों के भेद को मिटा देना कठिन है, इस भेद को मिटा देना, कठिनाई को दूर कर देना ही इस मंत्र में "तप" कहा गया है। सृष्टि के अन्त में जब नियमों के अनुसार सृष्टि बनी तब

नियमों के अनुसार बनी और उनमें कोई भिन्नता नहीं थी–जो नियम था उसमें कोई अपवाद नहीं था–यही ऋत तथा सत्य का तप से एक-साथ उत्पन्न होने का अभिप्राय है।

इसके अतिरिक्त "समुद्र" और "अर्णव" के भेद को हम पहले ही समझा आये हैं। उक्त मंत्र में ऋत, सत्य, तप, समुद्र, अर्णव के भेद को समझकर हम अगले मंत्रों की व्याख्या करेंगे।

When the Divine Forces worked themselves into an intense cognitional activity (*Tapas*—तपस्), from that activity were born the Social laws (*Ritam*—ऋतम्) and the Moral and Eternal laws (*Satyam*—सत्यम्). Then appeared utter darkness—undifferentiated, homogeneous matter wherein nothing could be distinguished (*Ratri*—रात्री:), And thence was born the ocean (*Samudra*—समुद्र:)—a Nebula which had the potentiality of further development.1

The *mantra* has six important words that call for explanation. They are *Ritam* (ऋतम्) *satyam* (सत्यम्), *Tapah* (तप:), *Raatrih* (रात्री); *Samudrah* (समुद्र:), and *Arnavah* (अर्णव:) It has been stated that the evolution of the world took place in this order. Let us now explain the meaning of these words.

Ritam (ऋतम्) is a rare word of the Vedic Sanskrit. The Latin word *Rectus* seems to have been derived from the Sanskrit word *Ritam*. *Rectus* means right. This significance of the Sanskrit word *Ritam* has been preserved in the meaning of the Latin word *Rectus*. The opposite of *Ritam* (ऋतम्) is *Anritam* (अनृतम्). *Anritam* in Sanskrit means wrong, not right. *Ritam,* thus, in this context, means socially right, which connot be wrong. *Satyam* are Moral and Enternal laws. Universal laws are those to which there can be no exception, they are unalterable right laws. For instance, the physical, chemical, astronomical laws are unalterable; they are the same for all time and climes. The sun gives heat, the fire burns. They cannot do the reverse. The Moral and Universal laws are verities which are to be interpreted according to time, place, and circumstance. The *mantra* says that all these laws are the result of *Tapas* (penance—

तपस्) of the Divine Being.

In the begining of creation, the Social and Moral laws, Right laws (ऋतम्) and Universal Laws (सत्यम्) were the same due to the *Tapas* of God, but later on they separated in the work-a- day world. Therefore it is said : **'ऋतं च सत्यं च अभीद्धात् तपसोऽध्यजायत्'।**

What is *Tapas* (तपस्) of the Divine Being? *Tapas* means cognitional activity—'तस्य ज्ञानमयं तप:'—His activity-oriented knowledge is *Tapas*—penance. Generally our knowledge and action are divorced from each other. We know, but we do not act. The object of knowledge is that it should be translated into action. But there we fail. Knowledge that goes immediately into action is *Tapas* (penance—तप:). The knowledge of the Supreme Being is such that Idea or Thought immediately materialises. There is no gap between His thought and His action. Hence, the *mantra* says: From His *Tapas* were born *Ritam*—social laws and *Satyam*—moral and universal laws. The significance of *Adhi Ajayat* (अधि अजायत) is that whatever was thought of or planned came into action at once. The *Upanishad* says: He saw, He thought and He brought forth—स: ऐक्षत, स: अकामयत, स: असृजत. In the beginning they were one and the same.

The next word to be considered is *Ratrih* (रात्री:). The *mantra* says that after the Social and Right laws and Universal and Moral laws were born, came the birth of *Ratri* (रात्री). This word in plain Sanskrit means night. But here it cannot mean night as in the next *mantra* there is a mention of day and night—अहोरात्राणि—meaning that day and night were born after *Sumvatsar* (संवत्सर)—the year—was born. The day and the night being born after the year was born is right , but how could night be born after *Ritam* and *Satyam* were born?

Then, what is meant by *Ratri* (रात्री-night) which was born after *Ritam* (ऋतम्) and *Satyam* (सत्यम्). In this context *Ratri* means utter darkness, a state in which nothing was distinguishable, the state of homogeneity of the matter.

After all, creation is an evolution from homogeneity to heterogeneity, from potential to actual, from latent to patent. Undoubtedly *Ratri* means night, it means darkness, it means the indistinguishable state of the matter, it means the potential or the latent state out of which the actual has to come, a seed in which are hidden the stem, the branches, the leaves, the buds, the flowers, the fruits. This is *Ratri*—darkness—which has to be followed by light.

After *Ratri* (रात्री)—night or darkness—was born *Samudra* (समुद्र). *Samudra* means ocean. How could the ocean be born out of night or darkness? Hence, here *Samudra* cannot mean ocean. To come to the right conclusion we have to see what the other texts say in such a reference where the matter of first creation is dealt with. In the *Purush Sukta,* the first creation is called *Virat*—ततः विराड् अजायत; in the *Hiranyagarbha Sukta,* the first creation is called *Hiranyagabha*—हिरण्यगर्भः समवर्तत अग्रे; in this *Sukta* the first creation out of darkness is called *Samudra*—ततः समुद्रः Hence, *Samudra* must mean *Virat,* it must mean *Hiranyagargha.* As both these words, according to our earlier discussion, mean Nebula. *Samudra,* in this context, must mean Nebula. The last word to be explained is *Arnavah* (अर्णवः). *Arnavah* means 'in activity'-Hence, the text means that after darkness, that is, after indefiniteness, something definite in the form of Nebula took shape in which there was activity, potentiality, movement towards evolution.

What happened, after the Divine Effort (*Tapas*—तपस) caused the apperance of *Ritam* (ऋतम्-Right laws); *Satyam* (सत्यम्-Moral and Eternal laws); *Ratrih* (रात्रीः-utter darkness bearing in itself all the seeds of the world to be born); and *Samudrah* and *Arnavah* (समुद्रः, अर्णवः-evolving the Nebular structure) is described in the next *mantra* :

७८. समुद्रात् अर्णवात् अधि संवत्सरः अजायत।
अहोरात्राणि विदधत् विश्वस्य मिषतः वशी ॥ २ ॥

भावार्थ–जब तप से जो सोचा था वह हो गया और कथनी

एवं करनी में भेद न रहा तब विश्व की रचना होने लगी और सामाजिक विधान तथा नित्य विधान के अनुसार सृष्टि बनने का सूत्रपात हुआ। परन्तु सृष्ट्युत्पत्ति का भी एक नियम है। वह नियम क्या है? सृष्ट्युत्पत्ति का नियम यह है कि पहले वस्तु अघड़ होती है, फिर विकास के क्रम से गुज़र कर सुधड़ हो जाती है। अघड़पने को मंत्र में 'रात्री' कहा है। रात्री में कुछ दीखता नहीं, सब एक-ही-एक होता है, उसके बाद विकास होता है। जब सब अनिश्चित था, अघड़ था, तब विकास की प्रक्रिया शुरू हुई, सब निश्चित होने लगा, एक से अनेक का विकास होने लगा। विकास होते-होते, एक से अनेक होते--होते स्पेस पैदा हुआ, समय पैदा हुआ, संवत्सर से दिन-रात पैदा हुए। इस प्रकार सृष्टि का चक्र चल पड़ा।

From the evolving Nebula was afterwards produced the year. He the controller of the moving world after that created the days and the nights.

The activity of the world is possible by the assumption of two things—Space and Time. God created the Nebula which is an evolving seed of the world to appear in course of time. The Nebula represents the Space. But the space is not enough for the world to go. There should be the Time during which the space is to be utilised. Hence, the *mantra* says that after the creation of the Nebula which represents the Space, the year was born. *Samvatsar* means year. *Samvatsar* (संवत्सर—year) in this context represents Time.

The order of the progression of creation presented in this *Sukta* is as follows: Law and Order represented by the words *Ritam* and *Satyam;* Homogeneous condition of the matter represented by the word *Ratri;* Space represented by the word *Samudra;* and Time represented by the word *Samvatsar.*

In the next *mantra* it is said that this order of Creation is eternal. It is a cyclic order. There is Creation (सृष्टि) followed by Dissolution (विसृष्टि—प्रलय), and again there is Creation and Dissolution. This cycle is continuous and eternal. The *mantra* says:

७९. सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वं अकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं च अन्तरिक्षं अथो स्वः॥ ३॥

भावार्थ–सृष्टि का यह विकास होते-होते पूर्ण विकास हो गया। जैसे पूर्व सृष्टियां हुई थीं उसी प्रकार प्रलय के बाद यह सृष्टि भी हो गई और द्यु, अन्तरिक्ष, पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, तारकादि यथापूर्व काम करने लगे। इसे अघमर्षण सूक्त इसीलिये कहा गया है कि ऋत और सत्य को आधार बनाकर सृष्टि का निर्माण हुआ है। इसके नियमों का उल्लंघन नहीं हो सकता। सूर्य-पृथिवी आदि भी नित्य तथा नैमित्तिक नियमों में बंधे हैं, फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या। जब पृथिवी आदि भी नियमों को छोड़ते ही क्षति-ग्रस्त हो जाते हैं तब मनुष्य अगर नियमों को तोड़ेगा तो कष्ट पायेगा ही, इसीलिये सामाजिक या आध्यात्मिक नियम तोड़ने के पाप से बचे रहना ही ठीक है।

उपसंहार

(1) समुद्र तथा नेब्युला–

इस सूक्त पर विचार समाप्त करने से पहले दो प्रश्नों पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। अपने आंग्ल-भाषा के विवरण में हमने "समुद्र" का अर्थ "नेब्युला" किया है। प्रश्न हो सकता है कि हमने "समुद्र" का अर्थ "नेब्युला" क्यों किया है? हमने "समुद्र" का अर्थ "नेब्युला" इस आधार पर किया है, क्योंकि सृष्ट्युत्पत्ति की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए वेद मंत्रों में दूसरे स्थानों में जिन संस्कृत शब्दों का प्रयोग किया है उनका अर्थ "नेब्युला" के सिवाय कुछ और हो ही नहीं सकता। उदाहरणार्थ, **ततो विराट् अजायत, हिरण्यगर्भ, समवर्तत्ताग्रे, महतोऽहंकारः**–हत्यादि संदर्भों में सृष्ट्युत्पत्ति विराट् से, हिरण्यगर्भ से या महत् से मानी गई है। विराट् का अर्थ है–विशेषेण राजते इति विराट्, हिरण्यगर्भ का तो अर्थ ही है–सोने की तरह चमकने वाला, महान् का अर्थ है–महान। ये तीनों अर्थ नेब्युला के सिवाय और किसी तत्व पर घट ही नहीं सकते, इन सब का एक ही अर्थ है, जबसे सृष्टि प्रारम्भ हुई है इसी क्रम से हुई, इसलिये स्पष्ट है कि इस सबका उक्त अर्थ ही है।

(2) इसका नाम "अघमर्षण सूक्त" क्यों-

दूसरा प्रश्न यह है कि इस सूक्त का नाम-"अघमर्षण-सूक्त" क्यों है?

इस प्रश्न का उत्तर हम इस सूक्त के प्रारम्भ में दे आये हैं। "अघ" का अर्थ है-"पाप", "मर्षण" का अर्थ है- "मसलना"। इस सूक्त का अर्थ हुआ-"पाप को मसलना"। इस सूक्त पर ध्यान केन्द्रित करने से पाप कैसे मसला जाता है? जब हम सृष्टि की रचना को देखते हैं, जब इसकी महत्ता को देखते हैं, जब यह देखते हैं कि करोड़ों साल से चली अनन्त सीमा की यह जगती समयान्तर में नेस्तोनाबूद हो जाती है, फिर उत्पन्न होती है, और यह चक्र लगातार चलता रहता है; होती है, नष्ट हो जाती है; फिर होती और नष्ट होती है; तब इसमें लगाव कैसे रह सकता है, और तब इसमें पाप क्योंकर हो सकता है? महात्मा बुद्ध और अन्य मनीषी इसी भावना से मुक्त हुए। इसी सृष्टि-चक्र को देखकर इसका नाम "अघमर्षण-सूक्त" रखा गया है।

EPILOGUE

There are two points that require elucidation. The first one is: Why have we translated *Samudra* as Nebula whereas in Sanskrit it means ocean. The second point is: Why this *Sukta* is styled *Aghamarshan Sukta?*

(1) Samudra means Nebula—In common parlance *Samudra* means ocean, but we have rendered it as Nebula. Why? Because in the other *mantras* describing the evolutionary process of creation the first thing created is called *Virat* or *Hiranyagarbha* or *Mahat* which we have translated as Nebula. This we have done so basing our judgement on the etymological meaning of the words which can be interpreted as Nebula only. *Virat, Hiranyagarbha,* and *Mahat* have been said to be the first creation; here also the *Samudra* has been shown as having come into existence from darkness, which means that it is the first creation, for prior to it everything was darkness. Etymologically also *Samudra* means a substance to which or from which everything flows—सं अभिद्रवन्ति यस्मिन् यस्मात् वा. As the cre-

ated world evolves or flows from the Nebula, it can rightly be called *Samudra*. Moreover, due to the similarity in the vastness of space occupied by the ocean with the immensity of space occupied by the Nebula, the latter may be addressed as *Samudra* or ocean or space.

(2) Why this Sukta has been called Aghamarshan (smashing of Sin)—All the *mantras* of the *Sukta* point out to one thing—that is, this vast universe, though created with tremendous force and mighty intelligence of the Divine Being with minutest planning, is ultimately destined to dissolution; there is nothing permanent. When the fate of this enormous world is dissolution and destruction, what is the position of an individual who cannot be compared even with a speck in this boundless space. Nothing lasts, everything vanishes. If so, why to be attached with things we have necessarily to part with, and why to sin for their acquisition by means, fair or foul. When the sense of evanescence of the material objects dawns upon one, the urge to sin is automatically smashed. Hence, these *mantras* are called *Aghamarshan Mantras*—Sin smashing *Mantras*.

उषा-सूक्त–Usha Sukta

[Morning Prayer]

ऋग्वेद के सातवें मंडल के 76वें सूक्त में सात मंत्र हैं। यह उषा देवता का सूक्त कहलाता है। वेद मे और भी उषा-देवता के अनेक सूक्त उपलब्ध हैं। प्रात:काल सूर्योदय से पूर्व और कुछ समय बाद तक पूर्व-आकाश में लालिमायुक्त स्वर्णिम प्रकाश फैल जाता है, उसे "उषा" कहते हैं, एवं उस समय को "उषा-काल" कहते हैं, इसी विचार से प्रभावित होकर पाश्चात्य एवं उनके अनुयायी भारतीय वेद-भाष्यकार यह मानते हैं कि उषा के सूक्तों में आकाशस्थ उषा को लेकर कविता की गयी है। इनमें मनुष्य के लिए किसी अन्य उपयोगी एवं आध्यात्मिक शिक्षा का उपदेश नहीं है। किन्तु उनकी यह धारणा निराधार सिद्ध होती है, जब इन सूक्तों के अर्थों और निहित भावों पर गम्भीरता से विचार किया जाता है। समूचे प्रसंग पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि यह समस्त वर्णन आध्यात्मिक है, उषा-काल का वर्णन तो गौण है। उषा को लाने वाले जिस सविता (सूर्य) का वर्णन यहां है, वह आकाश में उदय होने वाले सूर्य का नहीं अपितु सबको उत्पन्न करने वाले, जीवन-प्राण देने वाले परमात्म-सूर्य का वर्णन है।

यह उषा-सूक्त भक्ति-भावना से ओत-प्रोत है। "उषा" जहां संसार में नव-प्रकाश लाने वाली है, वहां उषा साधक के हृदय में नव-उज्जवल अध्यात्मज्योति ज्योतित कर उसका उत्थान करती है। सूक्त के मंत्रों के अर्थों पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है:

In the 7th *Mandal* of *Rigveda* there are 76 *Sukta.* In the 7th *Suktas,* there is poetic description of the Dawn—*Usha.* Western scholars, and following them the Indian scholars also, interpret it as eulogizing the rays of the rising sun. Actually, the saint is not aglow with the charm of the rays of the sun, he sees in them the glory of the spiritual or the Divine manifesting itself in the brilliance of the physical, He describes this brilliance of the rising sun as the Eye of the Divine—देवानाम चक्षः—the Eye of the *Devas.*

There is no doubt, the Dawn is also praised, but is praised as the manifestation of the Divine The gist of the *mantra* is: Look, how the Eye of the Divine is shining in brilliance. The *Sukta* is brimming with devotion to the Immortal—ज्योतिरमृतम्.

८०. उत् उ ज्योतिः अमृतं विश्वजन्यं विश्वानरः सविता
देवो अश्रेत्। क्रत्वा देवानाम् अजनिष्ट चक्षुः आविः
अकः भुवनं विश्वं उषाः ॥ १ ॥ —ऋक्० ७,७६,१ ॥

भावार्थ—समस्त जगत् में व्याप्त होकर उसका संचालन करने वाले परमात्मा ने—**"विश्वानरः सविता देवो"**, सब की परम हितकारिणी अविनश्वर उषा-ज्योति को—**"विश्वजन्यं अमृतं ज्योतिः उषां"**, निःसन्देह ऊंचा कर दिया है, प्रकट कर दिया है—**"उ उत् अश्रेत्"**। (भक्त कहता है) देवों का कार्य सम्पादन करने के लिए, अर्थात् यज्ञार्थ श्रेष्ठतम कर्म करने के लिए, मेरी हृदय की आंख खुल गयी है—**"देवानां कृत्वा चक्षुः अजनिष्ट"**। (और उस नवोदित ज्योति ने) मेरे लिए समस्त विश्व को नये रूप से प्रकट कर दिया है—**"विश्वं भुवनं आविः अकः"**।

इस मंत्र में सूर्य को नर से उपमा दी गई है। जैसे मनुष्य की आंख खुलने पर न दीखने वाले विश्व को आंख देखती है, जैसे उषा काल के आने पर सब टिमटिमाता विश्व दीखने लगता है, वैसे ज्ञान-चक्षु खुलने पर संसार का अन्धकार ग़ायब होने लगता है, और अज्ञानान्धकार के हट जाने पर ज्ञान की अमर-ज्योति प्रकट होने लगती है।

Here God is visualized as a person with Sun as his Eye of Realization of the Divine Light. The Dawn represents the enlightenment, the realization of Divinity. As the light of the morning spreads all over the world, at the setting in of the dawn it brings message to the Saint that the light of the Divine is similar for Enlightenment.

८१.प्र मे पन्था देवयाना अदृश्रन्नमर्धन्तो वसुभिरिष्कृतासः।
अभूत् उ केतुरुषसः पुरस्तात् प्रतीच्यागादधि हर्म्येभ्यः ॥ २ ॥

भावार्थ—मुझे देवों के चलने के मार्ग स्पष्ट रूप से दीखने लग गये हैं—**"देवयानाः पन्थाः प्र अदृश्रन्"**; चलने वालों के

लिये ये मार्ग भय-शून्य एवं निरापद हैं—"अमर्धन्तः" ये मार्ग सब प्रकार के ऐश्वर्यों से सुशोभित हैं—''वसुभिः इष्कृतासः''। इस आध्यात्मिक उषा का मार्ग दिखाने वाला प्रकाश मेरे सामने आ गया है—**''उषसः केतु पुरस्तात् अभूत्''**; मेरे हृदय मन्दिर से निकलकर उषा की अभिनव ज्योति मेरे सामने आ रही है—**"हर्म्येभ्यः अधि प्रतीची आगात्"**।

Having seen the Light of the Dawn, I clearly see this Path of Light of Divinity as it is treaded along by Persons of Light. It is the Path straight—no fear or doubt. This path is the path of richness, progress and improvement. Dawn is a signal to rise—the devotee says: Seeing the light of the dawn I see the light of the Divine, as the physical signifies the spiritual light.

८२. **तानीदहानि बहुलान्यासन् या प्राचीनमुदिता सूर्यस्य।**
यतः परिजार इवाचरन्त्युषो ददृक्षे न पुनर्यतीव॥ ३॥

भावार्थ—निःसन्देह वे दिन के समान प्रकाशमान तेज अनन्त हैं, **"तानि इत् अहानि बहुलानि आसन्"**, जो स्वतः प्रकाशमान् सूर्य-रूप परमात्मा के शाश्वत स्वरूप को उदित करते हैं, प्रकाशित करते हैं—**"या सूर्यस्य प्राचीनम् उदिता"**। हे उषा! तू सूर्य-रूप जार-पति के चारों ओर चलती हुई दिखलाई देती है—**"यतः जारं इव परि आचरन्ती"** किन्तु चंचल स्वभाव नारी की तरह नहीं—**"न पुनः यतीव"**। चाल 'जार' की है, किन्तु स्वभाव 'यति' का है।

There are many lights in the world, all those lights point to the light of the rising Sun which rises from the East. Those smaller lights are like the lights of a vagabond. but they are lights of a *Yati*—a *Brahmchari. Yati* here means—'like one who controls himself not like one who has no control'. The smaller lights move round the Sun like vagabonds, but they are like one who controls his passions.

८३. **त इद्देवानां सधमाद आसन् ऋतावानः कवयः**
पूर्व्यासः। गूल्हं ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्त्सत्यमन्त्राः
अजनयन्नुषासम्॥ ४॥
—ऋक्० ७,७६,४॥

भावार्थ–वे ही देवों के साथ मिलकर आनन्द भोगते हैं–"**ते इत् देवानां सधमाद: आसन्**", जो ऋत के अनुसार चलने वाले—"ऋतावान:"; तत्वदर्शी विद्वान्, "कवय:"; सब गुणों में परिपूर्ण,—"पूर्व्यास:"; सब को सत्याचरण की सलाह देने वाले,–"सत्यमन्त्रा:"; पिता के समान "पितर:"; और जो छिपी हुई परमात्म-ज्योति को प्राप्त कर लेते हैं–"**गूल्हं ज्योति: अन्वविन्दन्**"। ऐसे ही महापुरुष आध्यात्मिक उषाकाल को प्राप्त कर लेते हैं।

Those only enjoy the light of the hidden pleasure of the Dawn who are Truthtful, Thoughtful and Elders in the family; Here both the words—'ऋत' and 'सत्य'–'ऋतावान:' and 'सत्यमंत्रा:' have been used. This means that for living a pleasant life it is essential to live a life in conformity to the right and moral Laws for as we have mentioned elsewhere 'ऋत' means Right laws and 'सत्य' means Moral Laws.

८४. समाने ऊर्वे अधि संगतास: संजानते न यतन्ते मिथस्ते।
ते देवानां न मिनन्ति व्रतान्यमर्धन्तो वसुभिर्यादमाना: ॥५॥

जिन साधकों के हृदय में पूर्वोक्त उषा जग जाती है, और जिन्हें प्रभुदर्शन हो जाते हैं, उनकी गतिविधियों पर प्रकाश प्रस्तुत ऋचा में डाला गया है :

वे खान-पान के अवसरों पर समान रूप से एकत्र होते हैं–'**समाने ऊर्वे अधि संगतास:**'; मिलकर विचार-विमर्श करते हैं–"संजानते"; वे परस्पर अधिकार के लिये लड़ते-झगड़ते नहीं–"न यतन्ते मिथस्ते"; और वे अहिंसक उपायों से नाना प्रकार के ऐश्वर्य अर्जन कर जीवन-पथ पर चले हुए–"**अमर्धन्त: वसुभि: यादमाना:**"; देवों अर्थात् दिव्य-प्रभु-शक्तियों के शाश्वत व्रतों को कभी नहीं तोड़ते–"**देवानां व्रतानि न मिनन्ति**"।

भावार्थ–असमानता में समान-भाव से रहने वाले (उर्व–असमानता; उरू=बड़ा, असमान, आप्टे संस्कृत-हिन्दी कोश); दूसरों के साथ संगत में बैठने वाले, जो साथ-साथ रहते हैं, आपस में बड़े-छोटे भाव के लिये यत्न नहीं करते, आपस में लड़ते-झगड़ते नहीं। धनादि के लिये टकराते नहीं, वे देवताओं के व्रत तोड़ते नहीं। अर्थात्, प्रेम-भाव से रहते हैं।

Those who live on a footing of equality, keep in harmony with others, sit with them as with brothers, live together, don't quarrel for property, they confirm to the vow of *Devas,* that is, they don't break the Law of Divine Beings.

८५. **प्रति त्वा स्तोमैरीडते वसिष्ठा उषर्बुधः सुभगे तुष्टुवांसः।**
गवां नेत्री वाजपत्नी न उच्छोषः सुजाते प्रथमा
जरस्व ॥ ६ ॥ —ऋ० ७।७६।६

उपासक उषा की स्तुति करता हुआ कहता है—हे सौभाग्यवती उषे! हम तेरे उपासक जिनकी बुद्धि उषा-काल में जाग उठी है—"उषर्बुधः"; हम जो इन्द्रियों को वश में कर चुके हैं—"वसिष्ठाः"; हम जो स्तुति कर रहे हैं—"तुष्टुवांसः", हम स्तुति के गीतों से तेरी महिमा का गान कर रहे हैं—"स्तोमैः त्वा ईडते"। हे उषे! तू वेद-वाणी का उच्चारण कराने वाली हमारी नेता है—"गवां-नेत्री" है, तू हमें ज्ञान और बल देने वाली—"वाजपत्नी" है; प्रातःकाल उठते ही पहले-पहल हमें कार्य-निर्देशिका—"प्रथमा सुजाते" है।

The devotee addresses Usha as follows: Oh Usha, we whose intellect has awakened due to the early rising of the Sun, we who are living a controlled and restrained life, we who are singing songs of your adoration with verses of *Vedas,* we regard you as our leader in learning knowledge and a first guide in life of control.

८६. **एषा नेत्री राधसः सूनृतानामुषा उच्छन्ती रिभ्यते**
वसिष्ठैः। दीर्घश्रुतं रयिमस्मे दधाना यूयं पात स्वस्तिभिः
—ऋक्० ७६,७ ॥
सदानः ॥ ७ ॥

यह उषा हमें सत्य-मार्ग पर चलने के लिये नेता का काम करती है—"**एषा उषा सूनृतानाम् नेत्री**"; हम में जो दुर्गुण हैं उन्हें उखाड़ फेंकती है—"उच्छन्ती"; सत्पुरुषों द्वारा भगवान् की महिमा का गान करती है—"रिभ्यते वसिष्ठैः। हमें देर तक भगवान् का गुणगान सुनने का धन हमें देकर "**दीर्घश्रुतं रयिं अस्में दधाना**"; हे उषे! सदा कल्याणकारी वचनों से हमारी रक्षा करो—"**सदा नः ययं स्वस्तिभिः पात**"।

Let Usha lead us on the Path of Truth; Let Usha uproot all our Evils; Let Usha impel us to hear good songs about the Progenitor of the Universe; Let Usha enrich us for long with our hearing of *Vedas;* Let Usha look after our welfare and protect us.

सोम-सूक्त—Soma Sukta

[Faith in Peace]

८७. **मा प्र गाम पथो वयम् मा यज्ञात् इन्द्र सोमिनः ।**
मा अन्तः स्थुः नो अरातयः ॥ —ऋक्० १०,५७,१ ॥

भावार्थ—हम इन्द्र का सोम, अर्थात् सौम्यता या शान्ति का जो पथ अर्थात् मार्ग है, उस यज्ञीय-मार्ग के परे मत हटें। इसका एक अर्थ तो यह है कि दैनिक-जीवन में हम शान्ति के मार्ग पर ही रहें। इसका आध्यात्मिक अर्थ यह है कि हमारे मन में सदा शान्ति-भाव बना रहे। मंत्र में आगे कहा है कि जो हमारे शत्रु हैं—"अरातयः", वे हमारे भीतर न ठहर सकें। आध्यात्मिक-दृष्टि से कुविचार हमारे अन्तर में न स्थान पायें—यह अर्थ है।

The path of *Yajna* is the path of sacrifice. We pray to God to grant us strength so that we may tread the path of Peace and no internal foe may find a place within us. Spiritually speaking we pray to the Lord that no evil thought may find a lodgement within our mind. Evil thoughts are like enemies. Enemies try to sneak into a country politically and blind the mind morally. The *mantra* warns a person to remain aware of such machinations of a political and moral enemy.

८८. **यः यज्ञस्य प्रसाधनः तन्तुः देवेषु आततः ।**
तं आहुतं नशीमहि ॥ —ऋक्० १०,५७,२ ॥

भावार्थ—यज्ञ का हमने जो प्रसाधन किया है उसमें अगर हमारे शत्रु ने कोई तन्तु (जाल) विछा दिया है, हमें छिन्न-भिन्न करने के लिये ताना-बाना बुना है, उस आये हुए—"आहुत"—ताने-बाने को हम नष्ट करते हैं—"नशीमहि"। इसका देश के शान्तिमय-जीवन में यह अर्थ है कि हम देश की शान्ति को भंग नहीं होने देंगे; इसका आध्यात्मिक अर्थ यह है कि व्यक्ति के जीवन को भंग करने वाले तानों-बानों को हम नष्ट कर देंगे।

We have set everything in order, but if our enemies have continued to enter into our arrangements to disrupt our programme of our country or in the life of our citizens; we destroy it, so that the country may proceed in its progress systematically and the citizens may build their character morally.

८९. मनोन्वा हुवामहे नाराशंसेन सोमेन।
पितॄणां च मन्मभिः ॥ —ऋक्० १०,५७,३ ॥

भावार्थ—हमारे मन मे देश तथा व्यक्ति को प्रशंसित शांति के मार्ग पर चलने के लिये बुजुर्गों द्वारा जो निर्दिष्ट–मार्ग दर्शाया गया है उसके अनुसार चलने का हमारा विचार पक्का है।

We have determination in our mind to proceed on the path of peace appreciated, proposed and recommended by our people and the Elders of our Society. We are determined to carry our country to true goal. Spiritually also the youth of the country will follow the path recommended by the Elders.

९०. आत एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ —ऋक्० १०,५७,४ ॥

भावार्थ—इस मंत्र में "पुनः" शब्द का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है–"फिर–अर्थात्, दोबारा।" इसका अभिप्राय यह है कि जो–कुछ ऊपर कहा गया है उसी को दोबारा कहने की ज़रूरत पड़ गई है। दो कारणों से एक ही बात को दोहराया जाता है–तब यदि उस पर विशेष बल देना हो या तब जब यह कल्पना की जाय कि पहले कही गई वही बात न–कही गई–सी हो गई हो। हम दोनों कल्पनाओं को सामने रख कर के उक्त सूक्त का अर्थ लिखते हैं: पहला यह कि उक्त मंत्र का अर्थ यह है कि हम यह निश्चित मन से फिर दोहराते हैं कि देश तथा व्यक्ति के जीवन को सार्थक करने के लिये बड़ों ने तथा समाज के कर्णधारों ने जो निश्चय हमारे मन में डाला था–"सूर्य की ज्योति को जीवन भर देखने के लिये"–"**ज्योक् च सूर्यं दृशे**" तथा जीवन में कुशल कार्य करने के लिये–"**जीवसे दक्षाय क्रत्वे**" फिर यह निश्चयपूर्वक दोहराते हैं कि "**पुनः मनः एतु**" कि हम जनता की शांति की मांग को–शान्ति की मांग को–"**नाराशंसेन सोमेन**"–अपना ध्येय एवं लक्ष्य बनाते हैं। दूसरा अर्थ यह है कि

हमारा यह 'विचार' ही नहीं, निश्चय है।

The gist of this *mantra* is that knowing the people's voice of peaceful existence we have determined in mind that even if in our first attempt we have not been successful in the achievement of peaceful existence as desired by our Elders and the people at large, we shall continue in our effort again and again till we achieve our end and reach our goal and see the light and brilliance like that of the Sun.

११. **पुनः नः पितरः मनः ददातु दैव्यः जनः ।**
जीवं व्रातं सचेमहि ॥ —ऋक्० १०,५७,५ ॥

भावार्थ—इस मंत्र मे "पुनः" शब्द फिर दोहराया गया है और कहा गया है कि हमारे दिव्य-जन पितरों ने फिर हमारे मन में वह विचार डाला है और उस विचार के पालन का जीवन में हम व्रत लेते हें।

This *Sukta* is very emphatic as regards the protection of the country from its enemies and improvement of the character of the youth. It has repeated again and again that we take a vow in this direction.

१२. **वयं सोम व्रते तव मनः तनूषु विभ्रतः प्रजावन्तः**
सचेमहि ॥ —ऋक्० १०,५७,६ ॥

भावार्थ—हे सौम्य गुण वाले जगदीश! हम अपने शरीरों में आपका मन धारण किए हुए हैं, शरीर हमारा है मन आपका है। आपकी जो इच्छा है वह हमारी इच्छा है। हम अपनी प्रजा तथा पुत्र-पौत्रों के साथ आपकी सेवा करेंगे, आपके आदेश का पालन करेंगे, जो आपका आदेश होगा वह हमारा व्रत होगा।

Oh great peace-maker, Soma! We take oath that we hold your mind in our body; Body is ours, Mind or Thought is Yours. Not only we, but our progeny will also carry out your wishes. As you live with us a peaceful existence. we take an oath that we shall not deflect from this Path of Peace.

द्यूत-सूक्त–Dyuta Sukta

[Away From Gambling]

९३. **प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।**
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षोविभीदको जागृषिः मह्यम्
अच्छान्॥ —ऋक्० १०,३४,१॥

भावार्थ–थरथराने वाले ("वेपृ कंपने धातु से प्रकर्षेण कंपने इति प्रावेपाः) कांपने वाले जुए के पासे–'अक्ष'–मुझे बहुत मद लाते हैं। मूंज वाले बर्तन में विभीतक नामक वृक्ष के फल के रस को पीने से जो जागृति आ जाती है, उस तरह की जागृति का मद इन पासों की थरथराहट को सुनने से मुझे आता है जो मुझे अच्छा लगता है।

The statement made above is on behalf of the gambler. The gambler says that just as a drunkard feels intoxicated by drink, similarly he feels exhilarated when he hears the rattling of the dice.

९४. **न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्यः उत्**
मह्यम् आसीत्। अक्षस्य अहम् एकपरस्य हेतोः
अनुव्रतां अप जायां अरोधम्॥ —ऋक्० १०,३४,२॥

भावार्थ–जुआरी कहता है कि मेरी पत्नी मुझे किसी प्रकार का कष्ट नहीं देती, न क्रोध करती है, अपनी सखियों के साथ शिव-मंगल से रहती है, मेरे साथ भी अब तक प्रेम से बरतती थी। जुआ खेलने के कारण मैं पर-स्त्री के साथ फंस गया, और अनुव्रती-स्त्री से झगड़ बैठा।

The gambler says that due to the vice of gambling he misbehaves with the other man's wife and has renounced his faithful wife.

९५. **द्वेष्टि श्वश्रूः अथ जाया रुणद्धि। न नाथितो विन्दते**
मर्डितारम्। अश्वस्य इव जरतः वस्न्यस्य नाहं विन्दामि
कितवस्य भोगम्॥ —ऋक्० १०,३४,३॥

भावार्थ–जुएबाज़ के सास-ससुर उससे द्वेष करते हैं, उसकी

जाया (स्त्री) उसके हर काम में रोक लगाती है, उसे दुःख में सहारा देने वाला कोई नहीं प्राप्त होता, जैसे बूढ़ा घोड़ा घुड़साल में बंधा हो, उसे खाने को भी न मिले, वैसे जूएबाज़ को भोग भी नहीं मिलता, खाने के भी लाले पड़े रहते हैं।

The closest relations of the gambler hate him. His in-laws, his wife, his friends spurn him. Like a jaded horse confined in a stable, he spends his life unattended and unlooked after. All the advantages of life are denied to him.

९६. अन्ये जायां परिमृशन्ति अस्य यस्य अगृधत् वेदने वाजी अक्षः। पिता माता भ्रातरः एनम् आहुः न जानीमः नयत बद्धं एनम्॥ —ऋक्० १०,३४,४॥

भावार्थ–जुआरी की पत्नी के साथ पराये लोग ही परामर्श करते हैं; जुआरी की बुद्धि और बल को जुए के प्रबल अक्ष (पासे) ग्रहण कर लेते हैं; उसके पिता, माता और भाई कहते हैं कि हम नहीं जानते यह कौन है, पुलिसवालों को कहते हैं, इसे बांध ले जाओ। (वेद में 'पुलिस'-शब्द नहीं है।)

Other people start advising the wife of the gambler when he is overwhelmed by the strong influence of the dice. Father, mother,brother tell the policemen: We know him not, handcuff him and take him away. Even food is not given to him.

९७. यदा आदीध्ये न दविषाणि एभिः परायद्भ्यः अव हीये सखिभ्यः। न्युप्ताः च बभ्रवः वाचं अक्रतं एमि इत् एषां निष्कृतं जारिणी इव॥

—ऋक्० १०,३४,५॥

भावार्थ–जब मैं निश्चय कर लेता हूं कि मैं इन पासों के साथ या इन जुआरियों के साथ कभी नहीं खेलूंगा और इन दोस्तों को अपना न समझकर पराया समझने लगूंगा, तब अगर कोई इन चितकबरे जुए के पासों का खेलने के लिये फेंके तो इनकी आवाज़ सुनकर जारिणी स्त्री की तरह जहां जुआ खेला जा रहा होता है वहां बेबस हुआ चल देता हूं।

When I make a determination that I shall not gamble and shall keep away from these so called friends who are my associates in the gamble, and further resolve that I shall keep these tempters away from me, at that time some gambler friend tempts me by sound of these dice of various hues, then I cannot resist myself and leaving all important work I set out to gambling den for the play.

९८. सभां एति कितवः पृच्छमानः जेष्यामि इति तन्वा शूशुजानः। अक्षासः अस्य वितिरन्ति कामं प्रतिदीव्ने दधत आ कृतानि ।। —ऋक्० १०,३४,६ ।।

भावार्थ–शरीर से सूखा हुआ (शुष्-धातु-सूखना), कमज़ोर जुआरी यह सोचकर कि इस बार मैं जीत जाऊँगा, पूछता-पाछता जुए-घर में जा पहुंचता है। उसके जुए के पासे बिखर जाते हैं, (वह फिर हार जाता है), उसकी कामनाएँ बिखर जाती हैं, प्रतिदिन उसका ऐसा ही करतब रहता है। पूछता-पाछता जुआ-घर आता है, पासे फैंकता है, हारता है, फिर ऐसा ही करता चला जाता है।

The gambler is dry-skinned as he loses what he earns and has very little to eat, but he is always hopeful and thinks that atleast this time he will win, and not only make up for his losses but will gather surplus amount. He never leaves hope. Hoping against hope, he wends his way to the gambling den, and loses again. This becomes his daily routine leading him to utter ruin.

९९. अक्षांसः इदंकुशिनः नितोदिनः निकृत्वानः तपनाः तापयिष्णवः। कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणः मध्वा संपृक्ताः कितवस्य बर्हणाः ।। —ऋक्० १०,३४,७ ।।

भावार्थ–जुए के पासे अंकुश की तरह चुभते हैं, जूआ खेलने की प्रेरणा देते हैं–"तुद् प्रेरणे"–मनुष्य को काट देते हैं, खेलने वाले को तपाते हैं, दूसरे को भी जलाते हैं, खेलने वालों को नष्ट कर देते हैं, अगर कोई जीत भी जाय तो फिर हार जाता है, मधु से सने मालूम होते हैं परन्तु खेल में कुछ बढ़ने के बाद उसे फिर हरा देते हैं।

When the gambler starts gamble he feels the dice smeared with sweetness but ultimately they spell ruin of the gambler. In the end the gambler feels as if he is being pierced with sharp needles, cut with sharp razors and is being utterly ruined. Even if he wins ultimately he loses, sweetness turns into bitterness.

१००. त्रिपञ्चाशः क्रीडति व्रात एषां देव इव सविता सत्यधर्मा। उग्रस्य चित् मन्यवे ना नमन्ते राजा चित् एभ्यः नम इत् कृणोति॥ —ऋक्० १०,३४,८॥

भावार्थ—जुआरियों का "व्रात"—समूह, सत्यधर्मा सूर्य देव के समान अपने से 15 गुणा व्यक्ति को "अशः"—खा जाता है। अर्थात, जैसे सूर्यदेव अपने से कई गुणा पानी को सोख लेता है, वैसे ही जुआरियों का झुंड अपने से भिन्न जुआरी को सोख लेता है, उससे धनादि हरण कर उसे सूखा कर देता है। अगर सामने खेलने वाले भले ही उग्र हों, इन चालबाज़ों से हर किसी को नमना पड़ता है, ये क्या, अगर इन जुआरियों का राजा से भी पाला पड़ जाय, तो इनकी चालों से उसे भी सिर झुकाना पड़ता है।

The group of gamblers is a terrible sucker like the rays of the sun. As the rays of the sun dry up the water, however large its quantity, similarly the gamblers dry up a person of his wealth and strength whatever may be its measure. The word 'अशः' means 'eats up'. If the opposite party is great, it also has to lay aside its possessions in the face of its trickery. Not only this, if they confront a king in this combat he also has to surrender to them.

१०१. नीचा वर्तन्ते उपरि स्फुरन्ति अहस्तासः हस्तवन्तं सहन्ते। दिव्याः अंगाराः इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तः हृदयं निर्दहन्ति॥ —ऋक्० १०,३४,९॥

भावार्थ—जूए के पासे रखे तो नीचे हैं परन्तु जूआ खेलते समय ऊपर फुरफुराते हैं। इनके अपने तो हाथ नहीं, परन्तु ये हाथ वालों को मात देते हैं। जूए की मेज़ पर जब इन्हें फेंकते हैं, ठंडे होते हुए भी अंगारों की तरह हृदय को जला देते हैं।

The dice are lying low on the table but while playing they fly up. They are handless but overthrow those who possess two hands. While in hand, they are icy cold but while playing and thrown on the dice-table they enter the heart like a fire-piece and set it ablaze.

१०२. जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः
क्वस्वित्। ऋणावा विभ्यत् धनम् इच्छमानः अन्येषां
अस्तं उप नक्तं एति॥ —ऋक्० १०,३४,१०॥

भावार्थ—जुआरी की पत्नी अपने को हीन समझने के कारण भीतर-ही-भीतर संताप करती है; उसकी माता सोचती रहती है कि न जाने बेटा कहां-कहां मारा फिर रहा होगा, कमाता नहीं, जुआ खेलकर सोचता है पैसा मिलेगा। वहां पैसा क्या मिलना था, जो पल्ले होता है वह भी झड़ जाता है; फिर जुआरी ऋण लेकर काम चलाता है; ऋण चुका नहीं सकता तो देने के मारे चोरी-डाका डालता है—धन की इच्छा से रात को दूसरों के घर चोरी करता है।

The wife of the gambler suffers from a sense of inferiority. His mother is always anxious of his whereabouts; She does not know where he will be wandering; As he has no money for sustenance, he contracts loan. As he cannot repay the loan. he is always afraid of being arrested. But as he must pay the loan which he cannot pay he starts stealing in the night and enters the house of other people for theft.

१०३. स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च
योनिम्। पूर्वाह्णे अश्वान् युयुजे हि बभ्रून् सः अग्नेः
अन्ते वृषलः पपाद॥ —ऋक्० १०,३४,११॥

भावार्थ—जुआरी दूसरों की स्त्रियों को, उनकी बहू-बेटियों को तथा उनके कृत्यों को और उनकी घर-गृहस्थी को जब देखता है कि वे सब फलते-फूलते हैं और सोचने लगता है कि मैं भी कभी पूर्वान्ह में अपने रंग-विरंगे घोड़ों को गाड़ी मे जोतकर सैर को निकला करता था तब वह जड़-बुद्धि अपनी हालत को देखकर ईर्ष्या की जलन की आग में झुलस जाता है।

When the gambler sees the ladies of other friends, and further sees their achievements, and sees them flourishing in life, then that fool of a man comparing himself with the condition of his friends burns himself in the fire of jealousy.

१०४. यो वः सेनानीः महतः गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमः बभूव। तस्यै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीः तदृतं वदामि॥ —ऋक्० १०,३४,१२॥

भावार्थ—जुए बाज़ जब जुआ छोड़कर सद्गृहस्थ हो जाता है तब उसकी जो मनोवृत्ति हो जाती है उसका वर्णन करते हैं: ऐ जन-समुदाय, आपके महान् समुदाय का और आपके गण का जो सेनानी है, सेनापति है, और उसे सेना के बाद आपके समुदाय में जो सबसे प्रथम स्थान प्राप्त है, मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि जूए की आदत छोड़कर ईमानदारी से धन कमाऊंगा, उसे मैं अपने लिये कभी नहीं रोकूंगा,उसका दसवां हिस्सा (दश अहम्) राज्य के विकास के लिये दूँगा—यह मैं सत्य-सत्य कहता हूं।

When the gambler gives up this evil habit and becomes a good citizen of the state then he declares : Whatever I shall honestly earn I shall set apart one-tenth of my income for the Governors of the State for Administration. This I declare honestly and truthfully.

१०५. अक्षैः मा दीव्यः कृषिं इत् कृषस्व, वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः। तत्र गावः, कितव तत्र जाया, तत् मे विचष्टे सविता अयं अर्यः॥ —ऋक्० १०,३४,१३॥

भावार्थ—जूए के पासों में मत खेल। जूआ अच्छा नहीं; इसे छोड़ दे। खेती कर, अपनी मेहनत से कमा। खेती करने या मेहनत से जो हाथ लगे उसे बहुत समझ। इसी में तेरा भला है। इसी में गौएं, बैल, घोड़े—सब-कुछ है। इसी में तेरे परिवार का भला है। सृष्टि के कर्ता भगवान् का यही तुझे उपदेश है, आदेश है।

Don't play with dice, don't gamble. Ply the fields, depend upon your own labour. Whatever you earn thereby be satisfied treating it as enough. Herein you possess animals for use—cows, bulls, horses; herein you have the satisfaction of having the family. This has been advised to me—विचष्टे—by the distinguished Lord of Creation—सविता अर्यः।

१०६. मित्रं कृणध्वं खलु मृडता नो मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु। नि वो नु मन्युः विशताम् अरातिः अन्यः बभ्रूणां प्रसितौ नु अस्तु॥ —ऋक्० १०,३४,१४॥

भावार्थ–मित्र बनाओ, निश्चयपूर्वक हमें सुख दो, अपने घोर आचरण से हमें ऐसा न बनाओ कि हमें विवश होकर सब-कुछ सहना पड़े या अपने सिर पर धरना ही पड़े। आपका क्रोध हमारे शत्रु में प्रवेश करे, वे आपके क्रोध के भार को भरें।

Create friends which will give you and us happiness; Don't behave in a manner that we may have to bear the burden of your behaviour. If that behaviour is an ignoble one and it makes you angry, then that anger of yours may be directed not towards us, but towards your enemies.

उपसंहार

मनुष्य की सबसे बड़ी समस्या है–रोटी, कपड़ा और मकान। सृष्टि के आदि-काल से इस समस्या को हल करने के उसने कई तरीके निकाले हैं। सबसे मुख्य तरीका है **"परिश्रम करना"**। प्रभु ने हाथ-पैर इसीलिये दिये हैं ताकि इनके माध्यम से परिश्रम करें, और स्वयं सुखी रहें और दूसरों को सुखी रखें। मुश्किल यही है कि मनुष्य इससे बचना चाहता है। बचने का तरीका यही है कि चोरी करे, लूट-पाट करे या जूआ खेले, बिना परिश्रम के सब-कुछ मिल जाय। समाज ज्यों-ज्यों सुशिक्षित होता है वह समझने लगता है कि चोरी, डाका-ठगी, लड़ाई-झगड़ा करेगा तो दूसरे भी ऐसा ही करेंगे जिससे न हमें शान्ति मिलेगी, न दूसरों को शान्ति मिलेगी। इस तरीके के अलावा शान्ति से रोटी, कपड़ा और मकान प्राप्त करने का तरीका जिसमें परिश्रम न करना पड़े वह जूआ खेलने का है। यह तरीका भी सृष्टि के आदि-काल से चला आ रहा है और आज दिन तक चल रहा हैं। इसे लोग भाग्य आजमाना कहते हैं। आज के युग में शेयर बाज़ार खुले हुए हैं, सट्टाबाज़ी चलती है। परन्तु इस रास्ते में भी बड़ा ख़तरा है। शेयर बाज़ारी, सट्टेबाज़ी में कई ऐसे लुटते हैं कि जान से ही हाथ धो बैठते हैं। कमाने का एक तरीका लाटरी का है, परन्तु इसमें अपने नाम की लाटरी खुले या न खुले इसकी दुविधा बनी रहती है।

वेदों का कहना है कि आजीविका के लिये सर्वोत्तम उपाय

अपने हाथ से काम करना है जिससे आजीविका लायक तो मिल ही जाता है। इसी को **"अक्षैर्मा दीव्यः कृषि मित् कृषस्व"** कहा है। हाथ से काम करो, कमाकर बच्चों के लिये धन जोड़कर रखने की फ़िक्र न करो ताकि बड़े होकर वे भी हाथ-पैर चलायें और किसी के भरोसे न रहें-यह इस सूक्त का अभिप्राय है।

EPILOGUE

The greatest problem of man is sustenance in life—bread, butter, clothing, and shelter. This problem is haunting man since the beginning of creation. The best method which involves no risk and leads to certainty is manual labour. But, unfortunately, man tries to avoid labour. He wants an easy method where be shall have not to move his limbs. This method is gambling. In gambling you have to depend only on luck. The risk is very dubious. If you invest one rupee you may win lacs. But how many come in this category, or if the organisers are clever enough they may pocket the whole amount. The *Vedic* conception is that one does not need that much amount he hankers for. There comes a time in the life of many of us when we realize that we have had enough, but we go on risking our life for nothing but for providing for our children as if they were totally worthless. Much of what we earn we leave behind. Hence the *Vedic* conception is that one should not waste one's life in hoarding money. Money or property of any nature is for a decent upkeep of life. More than that is useless. The *Veda* rightly says—Don't gamble, move your hands and feet and be content with whatever you get. There is no wealth better and richer than CONTENTMENT. The *Veda* says: अक्षैः मा दीव्यः—Don't play with dice—कृर्षि इत् कृषस्व—Ply the plough—वित्ते रमस्य बहुमन्यमानः—Enough is Enough, what for More and More?

यजुर्वेद ज्ञान-गंगा-लहरी

(103 मंत्रा:; Verses)

SURGING WAVES OF YAJURVEDA GYAN-GANGA

1. पुरुष-सूक्त (God As Universal Soul)	22 Mantras
2. यजुर्वेद का 32वां अध्याय (32nd Chapter of Yajurveda) : क) न तस्य प्रतिमा अस्ति-(HE HAS NO-IMAGE-MANTRAS) These are Verses मंत्र No. (a); (b); (c); (d); (e) and (f) ख) मेधा-बुद्धि की याचना के कुल चार मंत्र हैं (4 Verses Seeking Intelligence)— मेधा-Mantras are 4 only and are given in the 32nd sukta of Yajurveda at the end of the Sukta.	16 Mantras
3. ईशावास्य मंत्रा: (He is in All)	17 Mantras
4. शिव-संकल्प मंत्रा: (Purification of The Mind)	7 Mantras
5. प्रभात-सूक्त (Morning Prayers)	7 Mantras
6. सरस्वती मंत्रा: (Invoking the Goddess of Knowledge)	3 Mantras
7. मधुपर्क मंत्रा: (Wishing Everything Sweet as Honey)	3 Mantras
8. उपस्थान मंत्रा: (Prayer for Upliftment to God)	4 Mantras
9. यजुर्वेद का 36वां अध्याय (36th Chapter of Yajurveda)	24 Mantras

यजुर्वेद ज्ञान-गंगा-लहरी

पुरुष-सूक्त—Purusha Sukta

[God as a Universal Soul]

"पुरुष-सूक्त" वेदों का बड़ा उत्कृष्ट सूक्त है। यह एक ऐसा सूक्त है जो चारों वेदों में हेर-फेर के साथ पाया जाता है। ऋग्वेद में यह मंडल 10 तथा सूक्त 90 में, यजुर्वेद में अध्याय 31 में पाया जाता है, परन्तु जहां ऋग्वेद में इस सूक्त में 16 मंत्र हैं, वहां यजुर्वेद में इस सूक्त में 22 मंत्र हैं, जिनमें से पहले 16 मंत्र तो दोनों वेदों में एक-समान हैं, 6 मंत्र यजुर्वेद में अधिक हैं। अथर्ववेद में "पुरुष-सूक्त" के ही 16 मंत्र कुछ शब्दों के हेर-फेर के साथ पाये जाते हैं। सामवेद में पहले 5 मंत्रों में शब्दों का कुछ परिवर्तन है, अन्यथा शेष मंत्र वहां हैं नहीं। हम यहां यजुर्वेद में वर्णित पुरुष-सूक्त के 22 मंत्रों की व्याख्या करेंगे।

Purush Sukta is so important that with slight alteration in words it is to be found in every *Veda*. Here we are dealing with it as it is in *Yajur Veda*, where it has 22 in number, but in *Rig Veda* it has 16 in number, in *Atharva Veda* also it has 16 but in *Sama* it has 5 only with slight changes in words. The sum and substance of the *Mantras* is that there is correspondence between Microcosm and Macrocosm. The Man and Superman have been co-related. Man is seen in the world and the world is seen in man. The *Mantra* has gone beyond all thought where imagination can go. Western scholars are dumb founded to see the Seers of *Veda* going in thinking so far beyond.

यजुर्वेदीय पुरुष-सूक्त

१. सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्। सः भूमिं
सर्वतः स्पृत्वा अति अतिष्ठत् दशांगुलम्॥ १॥

भावार्थ—परमात्मा की अगर पुरुष रूप में कल्पना की जाय और उसे एक विशाल-पुरुष समझ लिया जाय तो कल्पना करना होगा कि वह सहस्त्रों अर्थात् अनगिनित सिरों वाला है, अनगिनित

आंखों वाला है, अनगिनित पाओं वाला है। वह इतना महान् है कि अगर वह अपने हाथ से पृथिवी को पकड़े तो वह इतनी छोटी पड़ जाये कि वह उसे हाथ से चारों तरफ़ से छू ले और तब भी उसके हाथ की दसों अंगुलियां खाली-की-खाली रहें।

(God, if He were to be conceived as a *Purusha*— Gigantic Man)—He is perceptible everywhere, as if He had thousands of heads, thousands of eyes, thousands of feet. He, touching the earth on all sides (with the palm of His hand), stands with all the ten fingers (of His hand) outstretched (empty, not touching the earth).

The *Mantra* visualises God in the form of a living creature. The millions of heads, the millions of eyes, the millions of feet are, as it were, His eyes, His feet. All His. The universe is He himself incarnate. He is so much in, through, above, and beyond the earth—in, through, above, beyond the living and the non-living—that the creation forms an insignificant work of the master artificer. To illustrate how much He is above and beyond the earth, the *Mantra* says that if He were to hold the earth in the palm of His hand, the hand will touch the earth in all directions and yet will remain free with all the ten fingers outstretched. The implication is that though the earth will be held in the palm of His hand, the hand enveloping it all around; the palm will still remain empty as He will stand out with all His ten fingers extended as if nothing was held in the hand. Vasudeva Sharan Aggarwal interprets *Dashamgulam* (दशांगुलम्) in a different way. He says that the ten fingers mean the ten digits—fingers of the feet. The *Purusha* enveloping the earth stands beyond the earth on the ten fingers of His feet. It may also mean, as some commentators have tried to explain, that pervading the universe all around He still stands away from it by ten fingers, ten signifying an indefinite distance and fingers signifying a measure. All interpretations, however, point to His immeasurability.

The *Sukta* may also mean that God or the Supreme Entity in the form of a Social Organisation has thousands of heads, thousands of eyes, thousands of feet signifying that the innumerable human beings of the world with their heads, eyes, and feet represent a Social Entity with its own life. Just as a man has his head, eyes, and feet, the Society also is a Collective Entity with all the individual heads. eyes, legs, etc. as a part and parcel of the Social Entity behaving independently as the behaviour of an individual.

The *Purusha* with a thousand heads does not mean a Gigantic Creature. This is made clear in the next *Mantra* :

२. पुरुषः एव इदं सर्वं, यत् भूतम्, यत् च भाव्यम्। उत
अमृतत्वस्य ईशानः, यत् अन्नेन अधिरोहति॥ २॥

भावार्थ–यह जो-कुछ है, जो हो चुका है और जो होगा–वह सब भगवान् का ही किया है या वह करेगा। जो प्रकृति से उत्पन्न हुआ है, या होगा उस सबका स्वामी वह अमर भगवान् ही है, जो है, होगा या रहेगा।

The *Purusha* alone is this all; That what was and that what will be. And He is the Lord of immortality; that which grows with food (that is, which is mortal).

All this world is the manifestation of the *Purusha,* the past and the future, whatever the world has been and whatever will be, is His manifestation. Here, only the past (भूतम्) and the future (भव्यम्) are mentioned, and not the present. The present is half-past and half-future; hence instead of saying the past, the present, and the future, the *Mantra* mentions only the past and the future. Whatever had existed in the past, does exist in the present, and will exist in the future. It is all but a manifestation of the Snpreme Being—the *Purusha.* And whatever there is-mortal and immortal, He is the Lord of it all. To denote "immortality", the word *Amrit* is used; to denote 'mortality', the word *Anna* is used. *Anna* means that which can be eaten (अद्यते इति अन्नम्)—that which can be eaten or destroyed is mortal. The sum and substance of this *Mantra* is that the Divine Being is the Lord of Time, of Immortality, and of Mortality.

Explaining the greatness of the Surpreme Being, the third *Mantra* says :

३. एतावान् अस्य महिमा, अतः ज्यायान् च पूरुषः । पादः
अस्य विश्वा भूतानि, त्रिपाद् अस्य अमृतम् दिवि ॥ ३ ॥

भावार्थ–भगवान् की जिस महिमा का हमने बखान किया उसे पूर्ण रूप से जानने का प्रयास किया जाय, तो उसका पुरुष–रूप इससे भी बड़ा है, 'ज्यायान्' है। यह तो मानो उसके एक पाद की, मानो चौथाई महिमा का बखान है। यह सारी सृष्टि–सब महा–भूत–उसके कुछ भाग की ही झांकी है। उस अमृत रूप भगवान् का तीन–चौथाई हिस्सा तो अत्यन्त महान् है। जितना भौतिक–जगत् में हमें दीखता है, वह तो उसका एक–चौथाई भी नहीं है, उसका तीन–चौथई रूप तो अमरत्व प्राप्त करने, दिव्य गुणों को धारण करने वाले ही जान सकते हैं।

This much is the greatness of the *Purusha,* and He is far greater than this. All the worlds together make only onefourth of His being; three-fourths of His immortality is beyond this-in Heaven.

We are familiar with the world we inhabit. Even this much is so vast that it is beyond measure. The *Mantra* says that whatever world we are acquainted with, is only an insignificant manifestation of the Supreme Being. It is one-fourth of His reality, three-fourths of His existence is beyond our knowledge. Look at the Heavens. Every tiny looking star is a world by itself, and there are innumerable stars in the immeasurable space. All that is His greatness, His glory, His manifestation.

This idea is continued in the next *Mantra* with a slight variation in words :

४. त्रिपाद् ऊर्ध्वः उत् ऐत् पुरुषः, पादः अस्य इह अभवत्
पुनः । ततः विष्वङ् वि अक्रामत्, साशना अनशने
अभि ॥ ४ ॥

भावार्थ–यह सृष्टि जिसमें हम बसते हैं उस भगवान्–रूपी–पुरुष का एकपाद (चौथाई हिस्सा) है। पुरुष–रूपी–सृष्टि का तीन–चौथाई (त्रिपाद्) तो द्यु–लोक है जिसमें सूर्य, चन्द्र, तारे

तथा तारकों की सृष्टियां हैं। भगवान् का आस्तित्व, कृतित्व तथा नियन्त्रण इस त्रिपाद् तक ही समाप्त नहीं हो जाता। जहां वह अपने एकपाद् रूपी सत्ता का अतिक्रमण कर सूर्य, चन्द्र, तारागण आदि त्रिपाद् सत्ता में विद्यमान है, वहां अपनी त्रिपाद्-सत्ता का भी अतिक्रमण कर, जड़-चेतन का भी अतिक्रमण कर संपूर्ण सृष्टि का निर्माण तथा नियमन करता है। यहां "साशने" तथा "अनशने" शब्द आये हैं। अशन का अर्थ है–"भक्षण"। "साशने" का अर्थ हुआ, भक्षण करने वाले–अर्थात् प्राणि-जगत्; "अनशने" का अर्थ हुआ, भक्षण न करने वाले–अर्थात् जड़-जगत्।

With His three-fourths, the *Purusha* arose (i.e., is manifested in heaven in the form of the Sun, the Moon, the Stars, etc.) while His remaining 'one-quarter' is remanifested in the form of creation (on the earth). It is from this one-quarter that the creation has spread in all directions in the from of the living (those who eat) and the non-living (those who do not eat).

These two *Mantras* convey the same idea in different ways. God conceived as a quadruple *Purusha* (चतुष्पाद् पुरुषः), Who with one part manifests Himself on the earth, and with the remaining three parts in the Heaven. One should not take it literally, for God does not exist in parts. The idea conveyed is that the Greatness, the Grandeur, and the Glory of the Supreme Being is far above and beyond the Universe,—beyond the living (the non-material) and the non living (the material). From Him have spread all those who eat (साशना–the living) and all those who do not eat (अनशने--the non-living).

Having established the greatness of the Supreme Being conceived as the *Purusha*—a Giant Man—the next *Mantra* describes the genesis of the earth and the rest of the creation :

५. तस्मात् विराट् अजायत, विराजः अधि पूरुषः। सः
जातः अति अरिच्यत, पश्चात् भूमिं अथो पुरः॥५॥

भावार्थ--तीसरे मंत्र में कहा है–"पादः अस्य भूतानि"–

अर्थात्, संसार के सब भौतिक-पदार्थ उस परम-पुरुष के सृष्ट्युत्पत्ति-सामर्थ्य का एक-चौथाई हिस्सा हैं। उस एक- चौथाई सामर्थ्य से क्या उत्पन्न हुआ? उस एक चौथाई-सामर्थ्य से विराट् उत्पन्न हुआ। "विराट्" का अर्थ है-"**विशेषेण राजते इति विराट्**"-जो अत्यन्त प्रकाशमान वस्तु है, वह प्रकट हुई। आजकल के वैज्ञानिकों का कहना है कि सृष्टि का प्रारंभ "नैब्युला" से हुआ जो प्रकाश का पुंज था। उस "विराट्" का अधिष्ठाता, उसका जनक वही सृष्टिकर्ता "पुरुष" था। पुरुष का अर्थ भगवान् है-"पुरि", अर्थात् इस सृष्टि में जो सत्ता सर्वत्र विद्यमान है वह "**पुरुष**" कहलाता है। "विराट्" जब उत्पन्न हुआ तब वह "अत्यरिच्यत्"-अपने पिंड से विभक्त हुआ। उस पिंड के विभक्त होने पर यह स्पष्ट था कि सृष्टि-कर्ता पहले (पुरः) था, और भूमि पीछे (पश्चात्) हुई। 'अतिरिच्यत्'-शब्द -'अतिरेक' से बना है।

इस मंत्र में हमने "विराट्" का अर्थ "नेब्युला" किया है। "विराट्" या "नेब्युला" से हमारा अभिप्राय "प्रकृति" से है। "विराट्" का अर्थ "नेब्युला" करने के लिये वेद की अन्तः साक्षी है। ऋग्वेद (10.90.5) में लिखा है-"**तस्मात् विराट् अध्यजायत**" और यजुर्वेद (13.4) में लिखा है: "**हिरण्यगर्भः समवर्तत्ताग्रे**"-दोनों स्थलों में कहा गया है कि सृष्टि के शुरू में "विराट्" हुआ, या "हिरण्यगर्भ" हुआ। अर्थात् दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है। "हिरण्यगर्भ" का अर्थ है-"सुवर्णसम"। "विराट्" का अर्थ है-दीप्तिमान्। इन दोनों के एकार्थक होने तथा "नेब्युला" के भी दीप्तिमान होने के कारण तीनों एकार्थक हैं।

From the (one-fourth of) *Purusha* was born the *Virat* (the Nebula, the original primordial matter or the global structure of the universe). The *Purusha* the Supreme Being or the Creator of the universe—was the Lord of the *Virat,* and the *Purusha* (the creator) was above (*Adhi*-above, according to *Sayan*) the *Virat*. When the *Virat* came into being, it expanded, separated and later on the earth was born. Now, know that He-the *Purusha*-the Creator was before it. Below was the earth. and the rest above.

In this *Mantra* we have translated *Virat* as the Nebula

or the Primordial Matter or the original global structure of the universe. By this we mean *Prakriti* (Matter) in Evolution. There is evidence in the *Rig Veda* why the *Virat* should be understood as the Nebula. From a study of the *Mantras* it becomes evident that the *Virat* (विराट्) and the *Hiranyagarbha* (हिरण्यगर्भ) are synonyms. In the *Rig Veda* (10.90.5) we read : तस्मात् विराट् अजायत; in the *Yajur Veda* (13- 4) we read: हिरण्यगर्भः समवर्तत अग्रे; in the *Atharva Veda* we read; विराट् अग्रे समभवत् (19-9)—all these are in the *Purusha Sukta*. As except the words *Virat* and *Hiranyagarbha* the remainder of the words are the same, hence *Virat* must be treated as the synonym of *Hiranyagarbha*. As *Hiranyagarbha* is translated as Nebula by the exponents of the *Vedas, Virat,* must also mean Nebula or Primordial Matter or *Prakriti*.

The Lord of *Prakriti* is the *Purusha*—the Supreme Being. *Adhi* means above. The Supreme Being is over and above the Primordial Matter, which after coming into existence expanded and consequently separated. Is this separation in the splitting up of the Nebula, the planets such as Earth, Mercury, Venus, Mars, Jupiter, Saturn, Uranus, Neptune, Pluto, etc. were born. However, the Creator was prior to them all, and the planets afterwards. Or, the Earth was below and the rest of the planets were above and beyond the Earth.

Mac. Donell translated the *Mantra* in a different way. He says that the word *Purusha* has been used in two senses. First—the prime-evil *Purusha* which may mean the Supreme Being; Second—the evolved *Purusha* which may mean the substance that undergoes evolution and development. If we understand the *Purusha* in these two senses, then the translation of the fifth *Mantra* would be as follows :

From Him, that is, from the *Purusha,* the *Virat* was born, from the *Virat,* the *Purusha* was born. When born. He reached beyond: the Earth behind and He above.

Here *Purusha* means the Supreme Being. *Virat* means great. In this context the *Virat* is the great structure of matter intermediate between the two *Purushas*-the Prime-evil *Purusha* on the one side and the evolved *Purusha* in the form of *Virat* on the other side. The evolved *Purusha* while expanding creates the Earth and all that which is created before the crcation of the Earth. The meaning of Mac. Donell is so confusing that it conveys nothing.

This creation—genesis—of the world through the evolved *Purusha* or through the *Virat*—Primordial Matter or *Prakriti,* is a sort of *Yajna*—a sacrifice, in which at every stage there is sacrifice for further creation, for there cannot be creation without sacrifice. Dilating on the principle of sacrifice operating in the world for the purpose of creation, the next *Mantra* says:

६. **तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः संभृतम् पृषत् आज्यम्। पशून्**
तान् चक्रे वायव्यान्, आरण्याः, ग्राम्याः च ये॥ ६॥

भावार्थ—जब सर्वमेध यज्ञ किया जाता है, सब-कुछ होम कर दिया जाता है जिसे मंत्र ने "सर्वहुत" कहा है, जब यज्ञ अर्थात् त्याग सीमा पर पहुंच जाता है, जब सब-कुछ छोड़ दिया जाता है, तब सब-कुछ मिल जाता है। जब विराट् या हिरण्यगर्भ ने अपने को सर्वहुत कर दिया, तब सृष्टि का चक्र चल पड़ा—तब आज्य उत्पन्न हुआ, आज्य अर्थात् घृत, घृत अर्थात् दुग्ध का सार। कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे दूध को मथने से दूध नहीं रहता, उसका सार—घृत—उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार सृष्टि के त्याग-रूप यज्ञ से सृष्टि का सब-कुछ मिल जाता है। वायु के पशु-पक्षी, अरण्य के जानवर, ग्राम के निवासी—सब प्रकट हो जाते हैं। वेद का कहना यह है कि विराट् या हिरण्यगर्भ या नेब्युला के विकीर्ण होने रूपी यज्ञ से सृष्टि में पशु-पक्षी सब-कुछ उत्पन्न हो गये। यह विकीर्ण-रूपी-यज्ञ न होता तो सृष्टि का चक्र कैसे चलता इसलिये जीवन का गुरु-मंत्र यज्ञ है, त्याग है। मंत्र का दृष्टिकोण, त्याग-परक है, भोग-परक नहीं।

From *Yajna* in which everything was offerd as sacrifice, and out of this total sacrifice were born curd and butter; the *Yajna* created those animals—those that fly in air, live in forests, and are domesticated and live in villages.

In this *Mantra* the real significance of *Yajna* is brought out. *Yajna* means sacrifice, offering oneself to the Supreme Being, self-surrender. When evolving *Purusha*—the Nebula, the *Virat,* the Primordial Material Substance, *Hiranyagarbha*—was sacrificed, the sacrifice did not go waste. Out of the sacrifice was born the whole creation—vegetables, trees, birds, animals—domesticated as well as undomesticated. The significance of *Yajna* is, the more you offer and the more you sacrifice, the more you get or the more you are compensated. As the evolving *Purusha, Virat* or *Hiranyagarbha,* made a total sacrifice *Sarva Hutah* (सर्वहुतः), from that was born the vegetable and animal life for which the *Mantras* symbolically mention the Grass *(Barhi),* Curd *(Prishad),* and Butter *(Ajya).* Continuing in the same strain, the next *Mantra* says :

७. तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात्, यजुः तस्मात् अजायत॥ ७॥

भावार्थ–जब सृष्टि के रचयिता "पुरुष" ने सर्वमेध यज्ञ किया और अपने-आप को ही सृष्टि-रूप में विलीन कर दिया, और पशु-पक्षी-रूप भगवान् से ऋक्, साम, यजुः प्रकट हुए–विकास-मान उस भगवत्-संज्ञा से वेदों का उदय हुआ। इसका अर्थ यह है कि पुरुष-रूपी भगवान् पहले विराट् वा हिरणमय रूप में प्रकटा, हिरण्य-रूप से जड़-चेतन रूप में (अनशन-साशन-जड़-चेतन रूप में) प्रकटा, फिर चेतनों में पशु-पक्षी-प्राणी रूप में प्रकटा, फिर मनुष्य में ज्ञान रूप में प्रकटा। इस विकास की अन्तिम प्रक्रिया-ऋक्, साम, यजुः रूप में हुई।

(Not only vegetables, curd, butter, and animal life) were born out of the *Yajna;* even the *Rig Veda* the *Sama Veda* the metres of the *Yajur Veda* were born out of the evolving *Purusha.*

When the evolving *Purusha* a was sacrificed, not only

physical things such as vegetables and trees, animals of forests, of villages, and of cities appeared, even things of the mind and the intellect became manifest. What was the intellectual manifestation? The *Mantra* says that in this long genesis of creation the *Vedas* (Knowledge)—*Rig, Yajur, Sama* and *Atharva,* which were the storehouse of thought, also appeared.

Detailing the genesis of the domestic animals, the next *Mantra* says :

८. **तस्मात् अश्वाः अजायन्त, ये के च उभयादतः। गावः**
ह जज्ञिरे तस्मात्, तस्मात् जाताः अजावयः ॥ ८ ॥

भावार्थ–इस सूक्त के प्रथम मंत्र में कहा गया है–"**पुरुष एव इदं सर्वं**"–यह जो-कुछ दृश्यमान तथा अदृष्यमान सृष्टि है, वह पुरुष ही है, और द्वितीय मंत्र में कहा गया है कि उस पुरुष के चार हिस्से किये जायें तो हमारी यह सृष्टि उसका सिर्फ़ एक हिस्सा (पादः+त्रिपाद्) है, बाकी सब तीन हिस्सा है। यह जो एक हिस्सा है उसका अतिरेक (अति अरिच्यत) करें तो वह "विराट्" है। "विराट्" का तथा "हिरण्यगर्भ" का हम कह चुके हैं कि एक ही अर्थ है, और वह है–"नैब्युला" या 'प्रकृति'। इस प्रकार "पुरुष" सृष्टि के रूप में विकासोन्मुख होता हुआ–भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौ, रूप में बंट गया । बंटते-बंटते पृथिवी बसन्त, ग्रीष्म और शरद् ऋतुओं में बंटती चली गई। इस प्रकार विकासोन्मुख पुरुष के यज्ञ रूप में प्रकट होते-होते उसके सर्वहुत रूप में पशु-पक्षी-मानव रूप प्रकट हुए। मानव को ज्ञान हुआ जो ज्ञान ऋक्, यजुः, साम रूप में विभक्त हो गया। इसी ज्ञानी मानव के साधन के रूप मे विकास (यज्ञ) करते-करते अनेक प्रकार के पशु उत्पन्न हुए–दीर्घ तथा आशुगामिता के लिये अश्व (घोड़े) हुए, ऊपर के जबड़े वाले, ऊपर-नीचे दोनों प्रकार के जबड़े वाले, गायें, भेड़ें, बकरियां–ये जीवन धारण में सहायक दूध देने वाले जानवर पैदा हुए।

इस मंत्र में सृष्ट्युत्पत्ति के विकास की कल्पना की गई है। सृष्ट्युत्पत्ति एक यज्ञ है जिसमें त्याग तथा आत्म-समर्पण सृष्टि की सत्ता के आधार हैं। पुरुष ने यज्ञ किया, अपने को सृष्टि में मिटा दिया जिसमें विराट् या हिरण्यगर्भ या नैब्युला का निर्माण

हुआ। अपने को मिटाने तथा परिणामस्वरूप सृष्टि के उत्पन्न होने की प्रक्रिया को यहां "यज्ञ" कहा गया है। इस "यज्ञ" से—आत्मोत्सर्ग, आत्महुत होने से पशु-पक्षी-मनुष्य- गाय-घोड़ा-बकरी—ये प्राणी यज्ञ के परिणामस्वरूप प्रकट हुए और इसी सिलसिले में ज्ञान के रूप में ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व आदि वेदों का ज्ञान भी प्रकट हुआ। पुरुष के इस सम्पूर्ण विकास को वेद में "यज्ञ" का नाम दिया गया है।

From the sacrifice - *(Yajna)* of the evolving *Purusha* were born the fast-moving animals (such as horses) and all such animals as have two sets of teeth—the upper and the lower sets. Yes, from that (the sacrificial *Purush*a) were born cows, from that were born goats and sheep.

The genesis of the world has been conceived as the *Yajna,*—sacrifice or the offering of the person of the evolving *Purusha* or of the *Virat* as an oblation in the creation of the world. The *Purusha* that is sacrificed is not the Creator or the Supreme Being. The Creator has been termed here as the *Purusha,* and the creation as the *Virat*. The *Hiranyagarbha* has also been termed as the *Purusha.* The difference is that the first *Purusha* is the sacrificer, the second is the one sacrificed. The first *Purusha* is the eternal, unalterable Being, the second is the Primordial Material Substance or a modification of *Prakriti.* It is from the second *Purusha* or the *Virat* that the evolving process working within it brought out the variagated material and social world.

Now the question is: When the evolution proceeded and the *Purusha* disintegrated into different parts of the material and the social world, which part of it signified the corresponding part of the social organisation? This questfon is asked in the following *Mantra:*

९. तम् यज्ञम् बर्हिषि प्र औक्षन् पुरुषं जातं अग्रतः ।
तेन देवाः अयजन्त साध्याः ऋषयः च ये ॥ ९ ॥

भावार्थ—परमात्मा के द्वारा तथा मनुष्य के द्वारा जो विश्व में

यज्ञ की भावना सृष्टि-यज्ञ तथा जीवन-यज्ञ के रूप में चल रही है उसे आगे बढ़ाते हुए मंत्र में कहा गया है कि यज्ञ या त्याग की उस भावना को उच्च-कोटि के दिव्य-शक्तिधारी विद्वानों ने, साधकों ने, और ऋषियों ने अनुभव किया और यज्ञ की उस भावना को अपने जीवन में ढालने का यत्न किया। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि मानव में ही क्या, जब यज्ञ की "बर्हि" नामक कुशघास में भी यह यज्ञ चल रहा है तब सृष्टि के अग्र-समय में यह त्याग-परक यज्ञ क्यों न चलना चाहिये। संसार में बसन्त आता है, ग्रीष्म-ऋतु आती है, शरद्-ऋतु आती है, और समय-समय पर बर्हि (घास) पनपता है, सूखता है, जल-सिंचन ("प्रौक्ष" से) फिर हरा हो जाता है—सृष्टि का यही त्यागमय-यज्ञ जो घास तक में चल रहा है जीवन का गुर होना चाहिये। (देखो-उक्ष=जल सेचन, आप्टे)।

The evolved *Purusha* or the Primordial Material Substance which sprang up before (and took the form of Spring, Summer, and Autumn) by the process of sacrifice—*Yajna*—became dried as matured grass (as the grass had ripened and dried), so it was besprinkled (with water and it became alive and green). Taking the clue from this, the divine people, the sceptics, and the saints (all these sort of people) took to the principle of Sacrifice, Surrender, Self-efacement–*Yajna.*

The *Mantra* is describing the process of genesis, the process how the world started to evolve in its onward march of creation. This process is styled as *Yajna* or sacrifice. At every stage there is sacrifice when something new is generated. The old is lost and the new is born—this is *Yajna.* When the evolved *Purusha* or the *Virat* sacrificed itself resulting in Spring, Summer, and Autumn. At Autumn, a stage came when everything dried up as it does in a seasonal cycle. This is the stage of *Barhi*—dried grass. The word dried grass is only symbolic. It represents the stage of driedness or lifelessness. To put life into the dried grass one besprinkles it with water. This besprinkling with water is also symbolic of the *Yajna* which enlivens the lifeless.

The *Mantra* says that there is a cycle in creation—Spring, Summer, Autumn and again Spring, Summer and Autumn. Autumn followed by Dryness, Dryness and life, Life and Dryness, Dead and Alive, and Alive and Dead. This is *Yajna* going on in nature, so much so, that even in a trifling thing as grass *(Barhi)* the same principle holds good. This type of sacrifice, which is seen in the evolving *Purusha,* is practised by the *Devas,* the semi-*Devas,* and the *Rishis* referred to in this *Mantra.*

Not only in grass and vegetables, and in animal life too, the process of sacrifice *(Yajna)* is going on. To illustrate this, the next *Mantra* says :

१०. यत् पुरुषं वि अदधुः। कतिधा वि अकल्पयन्। मुखम् किम अस्य आसीत्। किम् बाहू। किम् ऊरू, पादौ उच्येते॥ १०॥

भावार्थ—यह हम देख चुके हैं कि सृष्ट्युत्पत्ति का प्रादुर्भाव "पुरुष" के अपने को "यज्ञ" के रूप में परिणत करने से हुआ जिसे इसी सूक्त के 5वें मंत्र में "अतिरिच्यते" कहा गया है। सृष्ट्युत्पत्ति क्या हुई परमात्म-देव ने यज्ञ रूप में मानों अपने को त्याग दिया, स्वयं सृष्टि रूप हो गया। उसका एक पाद-चतुर्थांश जब सृष्टि रूप हो गया, तब प्रश्न उठता है कि अगर उसकी पुरुष रूप में कल्पना की जाये, तो वह यज्ञ रूप में आकर कितने रूपों में अतिरिक्त हुआ, कितने रूपों में कल्पित हुआ—**कतिधा व्यकल्पयत?** उसका मुख क्या कल्पित हुआ? दोनों बाजू क्या कल्पित हुए? उसकी जांघें क्या कल्पित हुईं, उसके पांव क्या कल्पित हुए?

हम पहले देख आये हैं कि "पुरुष" ने यज्ञ-रूप में जब अपने-आप को सृष्टि के रूप में समर्पित कर दिया, तब उस समर्पण से सृष्टिकर्ता पुरुष स्वयं सृष्टि के ही भिन्न-भिन्न अंग हो गये। इसलिये स्वाभाविक प्रश्न उठा कि विभक्त हुए उस पुरुष के अंगों के समान रूप में बंट जाने पर समाज के कौन-कौन से अंग बने?

पहले मंत्रों में हमने देखा कि "पुरुष"-रूप भगवान् "भौतिक-शास्त्र" की दृष्टि से बसन्त, ग्रीष्म तथा शरद् के रूप में प्रकट

हुए; "जीवशास्त्र" की दृष्टि से पशु-पक्षी-अश्व-गाय आदि के रूप में प्रकट हुए; "मनोविज्ञान-शास्त्र" की दृष्टि से ऋक्, साम, यजुः के रूप में प्रकट हुए। प्रश्न यह है कि "समाज-शास्त्र" की दृष्टि से वे सृष्टि में किस रूप में प्रकट हुए या विकसित हुए? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वेद ने कहा है :

When the *Purusha* was divided (into many parts), in how many parts or in how many ways they conceived of Him? What did they conceive of His mouth. What of His two arms, His two thighs, and His two feet?

We have seen in the previous *Mantras* what the *Yajna* or the sacrifice of the *Purusha* generated in the physical or biological world. We have further seen what it had generated in the intellecual or the psychological world. Now we want to know what it had generated in the sociological world. The answer is—

११. ब्राह्मणः अस्य मुखम् आसीत्। बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तत् अस्य यत् वैश्यः। पद्भ्याम् शूद्रः अजायत॥ ११॥

भावार्थ—पुरुष-ब्रह्म के मुख से ब्राह्मण; दोनों बाजुओं से क्षत्रिय; जांघों से वैश्य तथा पांवों से शूद्र का प्रादुर्भाव हुआ। यह तो वेद-मंत्र का शब्दार्थ है। परन्तु इन शब्दों में गूढ़ अर्थ निहित है। वह क्या है?

वेद में "पुरुष" के आत्म-समर्पण रूपी यज्ञ का भौतिक-रूप वसन्त, ग्रीष्म तथा शरद् है; जीव-शास्त्रीय रूप पशु-पक्षी हैं; मनोवैज्ञानिक रूप ऋक्-यजुः-साम हैं; तथा समाज-शास्त्रीय रूप ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र बतलाया गया है। इस प्रकरण में प्रश्न यह उठाया गया है कि अगर पर-ब्रह्म की सामाजिक शरीर के रूप में आत्म-समर्पण की यज्ञीय-कल्पना की जाती है तो उस समस्त पुरुष का मुख कहां है, बाहु कहां है, उरु कहां है, और पैर कहां हैं? इसका उत्तर देते हुए मंत्र ने कहा कि ब्राह्मणीय सामाजिक-शरीर में अगर मुख को ढूंढा जाये तो समाज-शरीर का मुख "ब्राह्मण", उसकी भुजाएं "क्षत्रिय" हैं, उसकी जंघाएं, "वैश्य" हैं, उसके पांव "शूद्र" हैं। कई लोग इस मंत्र का यह अर्थ करते हैं कि पुरुष-ब्रह्म के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जांघों से वैश्य तथा पांवों से शूद्र उत्पन्न हुए। यह वेद के

अर्थ का अनर्थ करना है। प्राचीन तथा अर्वाचीन समाज-शास्त्रियों को कल्पना रूप में यह तो समझ आ सकता है कि ब्राह्मणों या विद्वानों का स्थान समाज में मुख-स्थानीय है क्योंकि जैसे मुख से ज्ञान निकलता है वैसे ब्राह्मणों से ज्ञान का प्रवाह होता है; क्षत्रियों का स्थान समाज में बाहु स्थानीय है, क्योंकि जैसे भुजाओं से शौर्य निकलता है वैसे क्षत्रियों से बल का प्रवाह होता है; वैश्यों का स्थान समाज में ऊरु-स्थानीय है क्योंकि जैसे पेट से भोज्य-पदार्थों का रस पाचन द्वारा संपूर्ण शरीर को मिलता है वैसे वैश्यों द्वारा समाज की आर्थिक समस्या का हल होता है; शूद्रों का स्थान समाज में पद-स्थानीय है क्योंकि जैसे पांवों का स्थान शरीर के बोझ को धारण करना है वैसे शूद्रों का काम मेहनत-मजदूरी द्वारा समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करना है; परन्तु इस मंत्र का यह अर्थ करना कि ब्रह्म-पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जांघों से वैश्य और पांवों से शूद्र पैदा हुए, वेदार्थ को न समझना है। समाज के विकास के संबंध में यही विचार प्लेटो ने अपनी पुस्तक "रिपब्लिक" में दिया है–

The *Brahman* (ब्राह्मण) was His mouth. His arms were the *Rajanyah* (राजन्यः). His thighs became the *Vaishyas* (वैश्यः). From His feet were born the *Shudras* (शूद्राः) :

Describing the process of Social Development, the *Mantra* explains, the division of society, comparing it to the different organs of the human being. In the human being the function of the head is to think. In the social set-up we have people with intellectual bent of mind. They are called *brahmans,* or philosophers in Plato's phraseology. They represent the head of the Social Being. In the human being the function of arms is to protect. In the social set-up we have people whose main accomplishment is their physical strength. They are called *Rajanyas,* or Soldiers in Plato's language, They represent the arms of the Social Being. In the human being the function of the stomach and the thighs is to store and to distribute. They are called *Vaishyas,* or Traders in Plato's terms. They represent the stomach or the thighs of the Social Being. In the human being the function of the feet is to move, labour, and work. They are called

Shudras, or Labourers according to Plato. They are not capable of serving the society in any way other than by doing labour-work. They represent the feet of the Social Being.

As the function of the head is to think, the *Mantra* says, the *Brahmans* in society represent the head of the sacrificed *Purusha;* as the function of the arms is to protect, the *Rajanyas* in society represent the arms of the sacrificed *Purusha;* as the function of the thighs including the stomach is to store and distribute, the *Vaishyas* in society represent the lower portion of the sacrifiecd *Purusha;* and as the function of the feet is to carry the burden of the weight of the body and to carry the man from place to place doing hard labour, the *Shudras* in society represent the feet of the sacrificed *Purusha. Rajanya* means the *kshatriyas* or the men of arms.

After describing the genesis of the Physical, the Biological, the Psychological, and the Sociological factors of the universe from the sacrifice—the *Yajna* of the evolving *Purusha*—the next *Mantra* makes a mention of the Cosmological evolution from the same source :

१२. चन्द्रमा मनसः जातः, चक्षोः सूर्यः अजायत। मुखात्
इन्द्रः च अग्निः च, प्राणात् वायुः अजायत॥ १२ ॥

भावार्थ–वेद यह प्रतिपादित कर रहा है कि "विराट्-पुरुष" ने जब यज्ञ रूप में अपने को सृष्टि-रूप में मिटा दिया, तब उसके किस-किस अंग से सृष्टि की क्या-क्या वस्तु उत्पन्न हुई। मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य, पैरों से शूद्र तो हुए जिसका शाब्दिक अर्थ न कर आलंकारिक अर्थ हम ऊपर लिख आये हैं। अब उस "विराट्-पुरुष" के अन्य अंगों के प्रश्न के विषय में वेद का कथन है कि उसके मन से चन्द्रमा विकसित हुआ, उस विराट्-पुरुष की आंखों से सूर्य प्रकटा, मुख से इन्द्र (अग्नि) तथा वायु प्रकटे, प्राण से वायु प्रकट हुआ। 12वें तथा 13वें मंत्रों में, विराट्-पुरुष को लक्ष्य में रखकर सृष्टि-रूप में आने पर विराट्-पुरुष के जिस-जिस अंग से सृष्टि का जो-जो भाग प्रकट हुआ उसका वर्णन कर दिया। विराट्-पुरुष तथा सृष्टि

के तारतम्य तथा दोनों का ताल-मेल बैठाकर अब अगले बचे हुए अंगों का ताल-मेल बैठाने के लिये अगले मंत्र में विराट्-पुरुष की नाभी, सिर, श्रोत्र आदि के विषय में कहते हैं :

The moon was born from the mind of the *Purusha;* from His eyes the sun was born; from the mouth were born the *Indra* and the *Agni;* from His breath the *Vayu* was born.

In the cosmos there is the moon. the sun, the fire, the wind. All these and the other constituent factors of the universe were, and are, manifestations of the evolving *Purusha,* that is, of the *Virat* or the *Hiranyagarbha.* The moon has infulence on the mind. The sun influences the eyes. We cannot see unless there is light. Hence, the *Mantra* refers to the relationship between the moon and the mind, between the light of the sun and the eyes. Similarly, the *Indra* or brilliance and the *Agni* or fire are associated with the mouth, and the *Vayu*—the wind—is associated with the breath. The fire eats up everything put into it, as the mouth does; hence the fire is associated with the mouth.

This does not mean that the moon was born out of the mind, and the sun out of the eyes of the *Purusha.* It is only an imagery signifying, that if the world were conceived as a *Purusha,* then these would be His organs. Continuing in the same vein, the next *Mantra* says :

१३. नाभ्याः आसीत् अन्तरिक्षम्, शीर्ष्णः द्यौः सम् अवर्तत।
पद्भ्यां भूमिः, दिशः श्रोत्रात् यथा लोकान्
अकल्पयन्॥ १३ ॥

भावार्थ–"विराट्-पुरुष" की नाभि से अन्तरिक्ष बना, सिर से द्यु-लोक बना, उसके पाओं से भूमि बनी, श्रोत्रों से दिशाए बनीं, इस प्रकार सब लोकों तथा लोकान्तरों की कल्पना हुई। इस स्थल में "अकल्पयत्"-शब्द बड़ा भावपूर्ण है जिसका स्पष्ट अर्थ है कि यह सब "**कल्पना**" है, एक तरह का आलंकारिक तथा काल्पनिक वर्णन है, इसे शब्दार्थ में नहीं लेना चाहिये।

From His navel came the firmament, from His head the heaven came into existence, from His feet the earth. the

directions from His ears, and thus the worlds were constituted.

The idea of the Cosmological Evolution from the sacrifice—the *Yajna*—of the evolving *Purusha* is continued in this *Mantra.* Here the word *Akalpayat* used to denote evolution is significant. *Akalpayat* is derived from the word *Kalp,* meaning to constitute in imagination (कल्पना). The whole concept of the genesis of the constituents of the world from the *Yajna* is symbolic, is imagery; the world is conceived in the form of a *Purusha* whose organs represent the different structures of the cosmos. It is a *Kalpana,* a conception, not a fact, and so it is, in the words of the *Veda, Akalpayat:* The head represents the heaven, the feet represent the earth, the navel represents the firmament or the atmosphere between the heaven and the earth—the basic idea is that man is a micro-cosmic entity corresponding to the *Virat Purusha* who is a macrocosmic entity.

Having propounded the idea that the basic principle in the Physical, Biological, Psychological, Sociological, and Cosmological world is that of the *Yajna*—sacrifice—self surrender, self-abnegation, the next *Mantra* applies the principle to the individual's life :

१४. यत् पुरुषेण हविषा देवाः यज्ञम् अतन्वत। वसन्तः
अस्य आसीत् आज्यम्, ग्रीष्मः इध्मः शरत् हविः ॥ १४ ॥

भावार्थ–देवाः–परमात्म-देव की शक्तियों ने, पुरुषेण–अर्थात् मनुष्य के द्वारा जिस सृष्टि-यज्ञ का–अतन्वत–विस्तार किया–अर्थात् रचा; उस सृष्टि रूपी यज्ञ में बसन्त-ऋतु मानो घृत थी, ग्रीष्म-ऋतु मानो समिधा थी, और शरद्-ऋतु मानों हवि थी, आहुति थी।

इस मंत्र द्वारा सृष्टि को यज्ञ की उपमा दी गई है और कहा गया है कि सृष्ट्युत्पत्ति का उद्भव यज्ञ से–बलिदान से–हुआ है। यहां "पुरुष" शब्द से दो शक्तियों की कल्पना की गई है। एक पुरुष परमात्म-देव है, क्योंकि वे सृष्टि-रूपी पुरी में शयन कर रहे हैं। दूसरे पुरुष ये मनुष्य स्वयं हैं जो देह-रूपी पुरी मे रहते हैं। मंत्र का कहना यह है कि जब परमात्म-देव ने "पुरुष" रूप

में सृष्टि की रचना की तब विराट् उत्पन्न हुआ, नेब्युला या हिरण्यगर्भ प्रकटा, और हिरण्यगर्भ का जब अतिरेक हुआ–अतिरिच्यत्–विखंडन हुआ तब यह भूमि प्रकटी, और भूमि के प्रकट होने के बाद "आज्य", "समिधा" और हवि" प्रकट हुए–अर्थात् सृष्टि एक यज्ञ के रूप में प्रकट हुई। "पुरुष" का दूसरा रूप मनुष्य स्वयं है जिसे सृष्टि के प्रतिबिम्ब के रूप में जीवन को यज्ञ का रूप देना है। सृष्टि-रूपी यज्ञ का "अधि"–अर्थात् अधिष्ठाता परमात्म-पुरुष है, जीवन-रूपी यज्ञ का "अधि"–अर्थात्, अधिष्ठाता स्वयं मनुष्य है। संक्षेप में, मंत्र का अभिप्राय यह है कि परमात्म-पुरुष की तरह मानव को अपने जीवन को सृष्टि-यज्ञ के ताल-मेल में बैठाना है।

When men of divine qualities performed sacrifice by offering the evolved *Prakriti,* (*Virat* or *Prakriti*), the Spring was its melted butter *(Ghee),* Summer its *Samidha* (fuel), and Autumn its oblatioin (आहुति).

According to this *Mantra,* the genesis of the world was due to sacrifice, offering of one's being, surrender—*Yajna.* When the world came into existence, the basic process working in the creation was sacrifice, surrender, *Yajna.* The evolved *Purusha* or the Primordial Matter—*Virat* or *Hiranyagarbha*—sacrificed itself, gave up its individual existence, and became personified as *Yajna.* In the *Yajna* there are three things—melted butter, fuel, and oblation. What were these in the creation of the world? Spring was the *Ghee,* Summer was the fuel, Autumn was oblation. The *Mantra* says that the *Virat*—the Primordial Matter or the Nebula—when further evolved became Spring, Summer, and Autumn—signifying Sacrifice—*Yajna.* Metaphorically speaking, the *Mantra* says that the creation of the world is a continued *Yajna* in which the *Virat*—the Promordial Matter—is sacrificed and is transformed into the three Seasons. The sacrifice does not stop at the creation of the seasons, it continues :

१५. सप्त अस्य आसन् परिधयः, त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवाः यत् यज्ञं तन्वानाः अवध्नन् पुरुषं पशुम्॥ १५ ॥

भावार्थ–इस मंत्र तथा अगले मंत्र में दो यज्ञों का वर्णन किया गया है। एक यज्ञ वह है जो शरीर में हो रहा है; दूसरा यज्ञ वह है जो अग्नि रूप में बाहर हो रहा है। जो शरीर के भीतर हो रहा है उसकी परिधियां या सीमाएं सात हैं। वे सात कौन-सी हैं? सिर, आंखें, कान, जिव्हा, फेफड़े, हृदय तथा पैर। ये सात मानव-पुरुष की परिधियां या सीमायें हैं, जैसे यज्ञ को सीमा में बांधा जाता है, वैसे पुरुष रूपी यज्ञ इन सात सीमाओं में बंधा हुआ है। इस भीतर हो रहे यज्ञ की 21 समिधायें हैं। वे 21 कौन-सी हैं? 5 महाभूत, 5 ज्ञानेन्द्रियां, 5 कर्मेन्द्रियां, 5 प्राण तथा 1 मन–ये 21 इस पुरुष-यज्ञ की समिधायें हैं। एक पुरुष-पशु है जिसका इस यज्ञ में वध होना है। वह पशु कौन-सा है? वह पशु "वासना" है जिसका वध होना है।

Seven were the enclosures of the *Yajna*—sacrifice; thrice seven were the the faggots made (for ignition). The *Yajna* that the *Devas* performed, is that they bound down the animality residing in the *Purusha.*

The world is the outcome of a great *Yajnya*—sacrifice. The *Purusha*—the Supreme Being—is performing this *Yajna.* Similarly, the microscopic *Purusha,* also residing in this body, has to perform a similar *Yajna.* What sort of *Yajna* has he to perform. *Yajna* means sacrifice. What sacrifice has man to perform. He has to bind down the *Pashu*—the animal—in him. This will be a *Yajna,* a sacrifice of the animality in him.

The *Purusha* has seven enclosures in which he is bound down: Head, Eyes. Ears, Tongue, Lungs, Heart, and Feet. All his activities are conditioned by them. These are called seven organs (*Saptanga*—सप्तांगा:) in the *Mandukya Upanishad.* The *Purusha* is cabined, cribbed,and confined in these enclosures. Enclosed or imprisoned in them, he has to perform a *Yajna* of abnegation to get rid of the bondage so that he may be free from the *Vasanas* (cravings) consequent on these bondages. In the *Yajna* one needs fuel for ignition. What is the fuel? The fuel are the 21 faggots that have to take the fire in the *Yajna.* They are: 5 Material

Elements, 5 Senses of Knowledge, 5 Organs of action, 5 Breaths *(Pran, Apan, Vyan, Udan, and Saman)*, and 1 Mind. The 21 faggots keep the man aflame, but they have to be controlled by means of knowledge. When all the seven enclosures and their flame that cause the 21 senses enflame the man, and are reduced to ashes, one attains liberation through the performance of the *Yajna* which is happening all the time in the universe as described in the *Purusha Sukta.*

The *Yajna* in the universe inspires mankind to perform a similar *Yajna* within everybody's mind. The outward *Yajna* should actuate us to perform the inward *Yajna.* Hence the next *Mantra* says :

१६. यज्ञेन यज्ञं अयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त, यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥

भावार्थ–इस वेद–मन्त्र में एक अपूर्व बात कही गई है–विद्वानों ने यज्ञ से यज्ञ किया। यह तो प्रथम यज्ञ रूपी धर्म था। इस प्रथम यज्ञ को करने से उन्हें नाक (न+अक) स्वर्ग–सुख प्राप्त हुआ, वह सुख जो उनसे पहले के साधकों को प्राप्त हुआ था। इस मंत्र में जो अपूर्व बात कही गई है उसका उल्लेख हमने इस व्याख्या के प्रारम्भ में ही किया है। वहां कहा है–विद्वान् लोगों ने यज्ञ से यज्ञ को किया। इसका अभिप्राय यह है कि वेदों की दृष्टि से दो प्रकार के यज्ञ हैं–समिधादि के रूप में बाह्य–यज्ञ है जिसमें समिधा का दहन किया जाता है तथा वासनादि रूप में आभ्यन्तर–यज्ञ है जिसमें विषय रूप पशुओं का वध किया जाता है। **"अबध्नन् पुरुषं पशुम्"** का मूर्खों ने अर्थ किया है कि पुरुष या मनुष्य का वध किया जाता है, इसका असली अर्थ यह है कि इस आन्तर–यज्ञ में विषय–वासना–रूप पशु का बध किया जाता है। वैदिक शब्दावली में "पशु" का अर्थ मनुष्य भी है–**"पश्यतीति पशुः"**–जो देखता हो वह पशु है–मनुष्य भी पशु है, सब प्राणी भी पशु हैं।

With the *Yajna* the learned men performed the *Yajna*—sacrifice; these were the first duties. By doing so, they obtained greatness and obtained the sorrowless state *(Na-Ak)* in which their predecessors were.

A mysterious statement is made in this *Mantra*. The learned performed the *Yajna* with the *Yajna*. What does it mean? It means that there are two sorts of *Yajnas*, external and internal. Uptil now the *Sukta* has been dealing with the exernal *Yajna*—the one we find in the Physical, Biological, Psychological, Sociological, and Cosmological world. Now the *Sukta* mentions about the internal *Yajna*, the one in the life within the individual.

This, the *Sukta* says is the first and the foremost duty of each one of us. The external is for the internal. The Elders who had gone before—our predecessors—attained greatness and crossed sorrow as they carried the life of sacrifice within, The outward is only a symbol of what should take place inside of us.

१७. अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसात् च विश्वकर्मणः सम्
अवर्तत् अग्रे। तस्य त्वष्टा विद्धत् रूपम् एति तत्
मर्त्यस्य देवत्वम् आजानम् अग्रे॥ १७॥

भावार्थ–जलों से, पृथिवी से और "विश्वकर्मा", अर्थात् सूर्य द्वारा परिपुष्ट रस से यह जगत् सर्वप्रथम अस्तित्व में आता है। उस निर्मित जगत् के स्वरूप का "त्वष्टा" ईश्वर पहले विधान करता है। मरणशील मनुष्य का यह कर्तव्य-ज्ञान उसे देवत्व प्राप्त कराता है।

With the help of water, earth and the sun the creater gives form and shape to all the objects of the world. If the man knows all this, then it is his divine quality. Let man know that, it is the Creator who creates the world, and not he.

१८. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् आदित्य वर्णं तमसः
परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था
विद्यते अयनाय॥ १८॥

भावार्थ–मैं उस अत्यन्त महान् पुरुष के विषय में यह जानता हूं कि वह आदित्य अर्थात् सूर्य के समान तेजोयुक्त एवं

प्रकाशमान है। वह प्रकृति के अज्ञानमय अन्धकार की पहुंच से परे-अर्थात् अछूता है। उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु को लांघ जाता है। इसके अतिरिक्त अभीष्ट स्थान तक पहुंचने के लिए और कोई मार्ग नहीं है।

I know this Mighty Being, refulgent as the sun, beyond darkness of the ignorance. By knowing Him alone can one surpass the jaws of death. There is no other way for the achievement of desired destination.

**१९. प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरा स्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि
विश्वा ॥ १९ ॥**

भावार्थ-समस्त सृष्टि का स्वामी और पालक-"प्रजापति"-समस्त संसार के भीतर विचरण करता है, हर वस्तु में विद्यमान है। वह बिना जन्म लिए ही अनेक रूपों में प्रकट होता है। उसके निवास-स्थान को धैर्य तथा गुण-सम्पन्न-पुरुष ही सर्वत्र सब प्रकार से देखते हैं। उसमें ही समस्त लोक-लोकान्तर टिके हुए हैं।

The Lord of creation moves within the entire universe. Never being born He manifests Himself in many ways. Only the wise see Him though the unseen. In Him alone stand all the existing worlds.

**२०. यो देवेभ्यः आतपति यो देवानां पुरोहितः। पूर्वो यो
देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥ २० ॥**

भावार्थ-जो पृथिवी आदि देवों का प्रकाश और ताप का प्रदाता है, जो देवों का हितकारक नेता है, जो सूर्य, पृथिवी आदि से पहले प्रकट हुआ है, उस दीप्तिमान परमेश्वर के लिए नमस्कार।

जो दिव्य गुणों से तपा हुआ है, जो देवों का अग्रणी है, जो देवों का देव है-उसे नमस्कार है।

One who is tempered with the highest qualities, one who is the first among the *Devatas*—I bow unto Him.

**२१. रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवा अग्रे तदब्रुवन्। यस्त्वैवं
ब्राह्मणो विद्यात्तस्य देवा असन्वशे ॥ २१ ॥**

भावार्थ–ब्रह्म की दीप्ति को सम्पन्न करते हुए वेद-तुल्य विद्वान् लोगों ने पहले कहा कि जो ब्राह्मण तुझ महान् को इस प्रकार जान लेता है, सूर्य आदि दिव्य शक्तियां उसके वश में हो जाती हैं।

Those who invoked the divine qualities and became masters in divinity, they alone are *Brahmans* and, know ye, that all *Brahmans* surrender themselves unto them and are under their control.

२२. श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च ते पत्न्यवहोरोत्रे पार्श्वे नक्षाणि रूपमश्विनौ व्यात्तम्। इष्णन्निपाषाणामुं म इषाण सर्वलोकं मऽइषाण॥ २२॥

भावार्थ–हे परमात्मा! समस्त शोभा और ऐश्वर्य तुम्हारी दो पत्नियां हैं, दिन और रात दो पार्श्व, नक्षत्रमण्डल तुम्हारा रूप है। आप मेरे लिए परोक्ष सुख की चाहना करते हुए इच्छा कीजिये, स्वेच्छा से आप चाहो कि संसार के समस्त लोक मेरे हो जायें।

O God, Day and Night are your two wives. The Heaven above is your splendour and glory and wealth. Grant me, O Lord, fulfilment of my desires, not the desires of this world, but the desires of the world beyond. With thy grace and blessings on me the whole could be mine.

उपसंहार

वेदों का "पुरुष-सूक्त" अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूक्त है यह चारों वेदों में शब्दों के थोड़े-बहुत हेर-फेर से पाया जाता है, इसमें परमेश्वर की पुरुष रूप मे कल्पना की गई है तभी 13वें मंत्र में "अकल्पयन्"-शब्द का प्रयोग किया गया है। इसमें ब्रह्म को, पुरुष को, सृष्टि-रूप में या सृष्टि को पुरुष या ब्रह्म-रूप में देखा गया है। ब्रह्म को "विराट्-पुरुष" कहा गया है। विराट् का पर्याय हिरण्यगर्भ या नेब्युला है जिससे सृष्टि की उत्पत्ति हुई है। सृष्ट्युत्पत्ति को यज्ञ का रूप देकर बाह्य तथा आभ्यन्तर यज्ञ का वर्णन करते हुए विषय-वासनादि पशुओं का बध करने का इसमें उपदेश है जिसका अज्ञानियों ने गलत अर्थ किया है।

EPILOGUE

The *Purusha Sukta* is one of the most important *Suktas* of all the *Vedas.* It speaks of God as incarnate in the world or the world as God incarnate-the *Virat Purusha;* it makes a mention of the four divisions of society—the Intellectuals, Heads of society as *Brahmans,* the arms as *Kshatriayas,* the lower parts as *Vaishyas* and the feet as *Shudras;* and it treats every evolving, evolved, and developed thing of the world as a sacrifice—*Yajna*—performed by the *Virat Purusha.* The central theme of the *Sukta* is: the Supreme Being is contemplated as a sacrifice of oneslf—the *Yajna* Besides the *Virat Purusha,* Four Divisions of Society, and the *Yajna,* we have explained in our exposition that the *Virat* and the *Hiranyagarbha* are one and the same, and that the *Hiranyagarbha* is the Primordial Material Substance which is anothar name for the Nebula. or *Prakriti.* Let us now deal with these four points :

(1) Virat and Purusha : These two words used in the *Sukta* seem to be confusing. But the confusion disappears when we treat the word *Virat* both as an adjective and as a noun. When we use the word *Virat* as an adjective of *Purusha,* it means a great Spiritual Being—*Virat Purusha*—with millions of heads, eyes, and feet—सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्रपक्ष. सहस्रपात्—God incarnate in the form of the universe outside, qualified with the word *Virat,* great. When we use the word *Virat* as a noun, it means Nebula, *Prakriti, Hiranyagarbha,* or Matter in Evolution. In the *Sankhya* philosophy the word *Mahat* (महत्) has ben used for the evolving *Prakriti*—प्रकृते: महान्. *Virat* and *Mahat* are one and the same. The *Rig Veda* says : तस्मात् विराट् अजायत, the *Sankhya* says : प्रकृते: महान्. *Virat* (विराट्) and *Mahat* (महत्) convey the same meaning if we go by the context of *Rig Veda* and *Sankhya.* Similarly, the word *Purusha* also seems to be confusing. But the confusion disappears if we understand by *Purusha* the creator who starts evolution as well as the creation which is created. Thus, there is no confusion when the *Rig Vedic Mantra* says : From the *Purusha* was born the *Virat* and from the *Virat* was born the *Purusha*. The first *Purusha* is the Creator; the second *Purusha* is the Evolving Material Substance, the creation, the Nebula—तस्मात् विराट् अजायत, विराजः अधि पूरुषः।

(2) The Four Divisions of Society : Besides mentioning *Virat* and *Purusha,* the *Sukta* speaks of the four divisions of society representing the different limbs of the *Virat Purusha.* The idea is that if we were to treat society as an Organic Entity it would correspond to the four main limbs of the Spiritual Being This would mean God incarnate in society. The intellectuals would represent the head, the fighting forces would represent the arms, the trading class would represent the lower part, and the labour class would represent the feet. Conversely, if God were to incarnate in society, His head would be the intellectuals or the *Brahmans,* His arms would be the *Kshatriyas,* His lower part would be the traders or the *Vaishyas,* and His feet would be the labourers or the manual workers—the *Shudras.*

This description visualises not only the natural and the scientific order of the society which holds good for all times and climes and countries, but also as signs of the status of the components of society in the social structure.The intellectuals are always the heads whatever be the shape of society; the fighting forces are and will always remain the second in status; the business community the third; and the labour the fourth. Whenever and wherever this equilibrium is disturbed, the society disintegrates.

(3) Yajna or Sacrifice : The third idea that runs across practically all the *Mantras* of the *Sukta* is that of the *Yajna* or sacrifice. The world is visualised as a great sacrifice—*Yajna*—in which God makes a sacrifice of Himself out of whom the material and the non-material, the inorganic and the organic world in born. *Yajna* means that one must lose one's independent existence; sacrifice oneself for the whole, and thus the whole takes shape. This principle runs through the tiniest to the mightiest things in life which make progress and development. Nothing evolves towards higher heights unless there is the seed of sacrifice in it. The word used in *Mantras* 8 and 9 is *Sarva Hutah* (सर्व हुत:)—total sacrifice—which furthers generation and regeneration. This idea of *Yajna* was so much enchanting and captivating that it gripped the imagination of the *Vedic* community, and to this day the idea of *Yajna* is central to our spiritual heritage. Unfortunately, people have forgotten its significance. They think that igniting fire, putting *ghee* oblations in it, and reciting *Mantras* is all that matters. They forget that it is an external symbol of the internal *Yajna*—a life of Self-abnegation Surrender, and Sacrifice.This is what is meant by the 16th *Mantra* which says: With the *Yajna* the learned performed the *Yajna*—यज्ञेन यज्ञं अपजन्त देवा:—realising the external as the symbol of the internal, the *Devas* performed the *Yajna*.

(4) *Virata* and *Hiranyagarbha* : In the 4th *Mantra* of the *Sukta* we read : तस्मात् विराट् अजायत—From the *Purusha* was born the *Virat*. In the *Yajur Veda* (13-4) the *Mantra* says. हिरण्यगर्भ: समवर्त्तत अग्रे—that is, in the beginning of creation there was the *Hiranyagarbha*. As the meaning of both the *Mantras* is the same, and the words *Virat* and *Hiranyagarbha* are interchangeable, both the words have the same meaning. Etymologically also, *Virat* means that which is lustrous—विशेषण राजते इति विराट्. As *Hiranyagarbha* is defined by the *Nirukta* (10, 23, 1) as that whose interior is lustrous, and *Virat* also means the same, *Virat*. *Hiranyagarbha*, and Nebula convey the same meaning. Nebula—the Primordial Material Substance—is lustrous, *Virat* is lustrous and *Hiranyagarbha* is lustrous. So here the *Vedic* version and the scientific theory coincide.

यजुर्वेद का 32वाँ अध्याय

[32nd Chapter of Yajurveda]

२३. तद् एव अग्निः तद् आदित्यः तद् वायुः तद् उ चन्द्रमाः ।
तद् एव शुक्रं तद् ब्रह्म तद् आपः स प्रजापतिः ।।

—यजु० 32/1

भावार्थ–वही चेतन तत्व अग्नि के रूप में विद्यमान है, वही सूर्य के रूप में दीप्तिमान् है, वही वायु के रूप में प्रवहमान है, वही शीतल प्रकाश देने वाला चन्द्रमा है। वही शुद्ध प्रकाशमान रूप में "शुक्र" है, विस्तार के रूप में वही "ब्रह्म" है, वही नदियों के रूप में प्रवहमान है, वही प्रजा का स्वामी और रक्षक होने से "प्रजापति" है।

He is *Agni*—the Fire; he is *Aditya*—the Sun; He is Vayu—the Wind; He is *Chandrama*---the Moon; He is *Shukra*—the Clean; He is *Brahma*—the Great; He is the River—the Waters; He is *Prajapati*---the Master of the Universe.

According to the *Vedas* all powers are different aspects of the same Universal Supreme Being. When we speak of Fire we are speaking of God as manifested in the Fire, and similarly, when we are speaking of any power of Nature-the Sun, the Moon, the Water-the Concrete Objects, or Greatness, Whiteness, Purity, etc.—the abstract notions, we are speaking only of God in different names. The same notion is expressed in the Verse—एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वान माहुः—He is ONE, but He is called by different and many names.

२४. सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषात् अधि। न एनं ऊर्ध्वं
न तिर्यञ्चं मध्ये परिजग्रभत् ।।

—यजु० 32/2

भावार्थ–सृष्टि से पूर्व व्यापक उस सर्वाधिक प्रकाशमान पुरुष परमात्मा से निमेष आदि जो काल के अवयव हैं, वे उत्पन्न होते हैं। इस परमात्मा को कोई भी न ऊपर, न तिरछा, न मध्य में–अर्थात् सब दिशाओं में पूर्णता से ग्रहण कर सकता है, अर्थात्

उसके स्वरूप को ठीक प्रकार से ग्रहण नहीं कर सकता, उसे जान नहीं सकता।

From lightning-like Supreme Being even the smallest part of Time was born. One does not know Him from above, from sides, from the middle. He is unknown and unknowable.

As regards 'Time' the *Mantra* says that just as electricity flickers or the eye-lid suddenly drops from moment to moment, even so is the measure of Time created by the Supersoul.

२५. **न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद् यशः।**
हिरण्यगर्भः इत्येष मा मा हिंसीत् इति एषा यस्मात् न
जात इत्येषः॥ —यजु० 32/3

भावार्थ—उस पुरुष परमात्मा की कोई प्रतिमा या मूर्ति नहीं, जिसका नाम और यश महान् है। "हिरण्यगर्भ" आदि मन्त्रों द्वारा, या "मा हिंसीत्" मन्त्र से या "यस्मात् न जातः इत्येषः" मन्त्रों से उसका वर्णन हुआ है। इन मंत्रों को हम नीचे [a] से [f] तक दे रहे हैं:

Brahma has no image. His name is only—'THAT FAMOUS EXISTENCE'. His mention has been made in the 25th Chapter of *Yajur Veda* as follows :

(क) न तस्य 'प्रतिमा' अस्ति मंत्राः—

No Image Mantras

(a) **हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक**
आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यां उतेमां कस्मै देवाय
हविषा विधेम॥ —यजु० 25/10

(b) **यः प्राणतः निमिषतः महित्वा एक इत् राजा जगतः**
बभूव। य ईशे अस्य द्विपदः चतुष्पदः कस्मै देवाय
हविषा विधेम॥ —यजु० 25/11

(c) **यस्य इमे हिमवन्तः महित्वा यस्य समुद्रं रसया सह**
आहुः। यस्य इमाः प्रदिशः यस्य बाहू कस्मै देवाय
हविषा विधेम॥ —यजु० 25/12

(d) य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः। यस्य छाया अमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ —यजु० 25/13

And further the 'NO-IMAGE' *Mantra* says that His mention has also been made as 'मा मा हिंसीत'—'Don't Deny Him', 'Don't Deny Him' in 102nd *Mantra* of *Yajurveda* of 12th Chapter as follows :

(e) मा मा हिंसीत् जनिता यः पृथिव्याः यो वा दिवं सत्यधर्मा व्यानट्। यश्चापः चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ —यजु० 12/102

It has been mentioned in the 'NO-IMAGE' *Mantra* of *Yajurveda* (32/3) that *'Hiranyagarbha'* has been described as the original progenitor of the Universe. It has also been mentioned that we cannot deny His existence. It has also been mentioned that He can also be described that He is the Originator, but before Him there was no Creation—'NONE BEFORE HIM'. This fact has been mentioned in the present *Mantra* as 'यस्मात् न जातः इत्येषः'. This *Mantra* refers to the same statement made in *Yajurveda* in 8th Chapter in 36th *Mantra* which is as follows and which means—'NONE BEFORE HIM'.

(f) यस्मात् न जातः परः अन्यः अस्ति यः आविवेश भुवनानि विश्वा प्रजापतिः प्रजया संरराणः त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥ —यजु० 18/36

In all these *Mantras*—'NO IMAGE'; 'HIRANYAGARBHA'; 'DON'T DENY' AND 'NONE BEFORE HIM'—these are very significant and important words.

From (a) to (f) we have brought in interesting *Mantras* with reference to 'NO IMAGE' PROPOSITION. Now we proceed further :

२६. एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वोह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्‌जनाः तिष्ठति सर्वतोमुखः॥ —यजु० 32/4

भावार्थ—वही देव (परमात्मा) सब दिशाओं और उप-दिशाओं में व्याप्त है। वह इस समस्त सृष्टि की रचना से पूर्व विद्यमान था, तथा वह परमात्मा अब भी (चेतन बनकर) समस्त ब्रह्माण्ड के भीतर समाया हुआ है। वह वर्तमान सृष्टि का रचयिता है, भविष्य में भी वह प्रत्येक सृष्टि का सृजन करेगा। परमात्मा सर्वतोमुख है, और वह सब की आंखों के सामने है।

Certainly, that Lord exists in all quarters, He alone was in the beginning of creation; He alone exists during creation; He alone shall exist when the creation will not exist in its present form. He stands before every one, just in front of us all, His face being in every direction.

२७. **यस्मात् जातं न पुरा किंचन एव य आबभूव भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया सं रराणः त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥** —यजु० 32/5

भावार्थ—जिस परमात्मा से पूर्व कोई भी वस्तु उत्पन्न न हुई थी, जो सब लोकों पर छाया हुआ है—जिसके आश्रय में सब लोक हैं, वह जीव रूप प्रजा का पालक और अधिष्ठाता है, वह प्रजा के साथ भली प्रकार व्यवहार करता हुआ तीनों लोकों—अग्नि, विद्युत्, सूर्य—"त्रीणि ज्योतींषि"—को संयुक्त करता है। वह सोलह कलाओं का स्वामी है।

Nothing existed before Him; He existed before anything of the world came into existence. He is the Lord of creation. He enjoys this creation. He controls the three—the Earth, the Sky and the Heaven. If instead of three there were sixteen spheres, then also He alone would be the Controller.

२८. **येन द्यौः उग्रा पृथिवी च दृढ़ा येन स्वः स्तभितं येन नाकः। यः अन्तरिक्षे रजसः विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥** —यजु० 32/6

भावार्थ—जिस शक्ति के द्वारा द्यु-लोक उग्र हो जाता है, यह उग्रता बिजली की कड़क से, ओले पड़ने या वर्षा न पड़ने के कारण अकालादि पड़ने से प्रकट होती है; जिस शक्ति द्वारा पृथिवी विचलित न होकर अपनी जगह दृढ़ रहती है, जिस शक्ति

द्वारा आसमान [स्वः] स्तभित अर्थात् स्तब्ध है, अपनी जगह टिका हुआ है, जिस शक्ति द्वारा आकाश मंडल भी दृढ़ रूप से स्थित है–अर्थात् जिस महाशक्ति द्वारा संसार चल रहा है, नष्ट नहीं हो जाता, उस सुखस्वरूप महाशक्ति के सम्मुख हम आत्म-समर्पण करते हैं। (नाक, स्वर्ग, गगन, अन्तरिक्ष एकार्थक हैं)।

We offer ourselves as oblations to the power that upholds this Earth, the Heavens and all that exists in the world.

२९. यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेताम् मनसा रेजमाने। यत्र अधि सूरः उदितो विभाति कस्मै देवा हविषा विधेम। आपः ह यद् बृहतीः यश्चित् आपः॥

–यजु० 32/7

भावार्थ–"क्रन्दन" का अर्थ है–चिल्लाना। भगवान् के जिस रौद्र रूप को देखकर पृथिवी और अन्तरिक्ष की दोनों सेनाएं चिल्लाने और त्राहि-त्राहि पुकारने लगती हैं, और जिस संकट से निस्तारा सूर्य के उदय से ही होता है, उस सुख स्वरूप भगवान् सूर्य की हम उपासना करते हैं। इससे पहले मंत्र में भगवान् को "रुद्र" नाम से स्मरण किया गया है। जब पृथिवी और आसमान का अंधड़ चलने लगता है तब इन दोनों शक्तियों का रुद्र-रूप [क्रन्दसी] प्रकट होता है। तब ये दोनों यह सब-कुछ देखती हुई [अभ्यैक्षेताम्] मानो मन से क्षुब्ध हुई [मनसा रेजमाने] रक्षा के लिये [अवसा तस्तभाने] भौंचक्की मानों खड़ी हो जाती हैं और स्तब्ध होकर इस तूफ़ान को देखने लगती हैं। इस भुजक्कड़ की शान्ति तभी होती है, जब सूर्य उदित होकर सब-कुछ शान्त कर देता है–"सूरः उदितो विभाति"। यह भंयकर भुजक्कड़ सूर्य तथा जल से शान्त हो जाता है।

The verse visualizes a raging storm in which the Earth and Heaven, as if two rival-armies, with battle cries raise a storm fighting each other. This storm is set at rest when the sun rises.

This physical phenomenon may symbolize the mental storm in the mind of the devotee who is agitated by wild and evil thoughts and whose psychic storm is set at rest by the appearance of the sun of knowledge when all agitations disappear.

The devotee says: I bow unto Him who sets me at peace as if by a downpour of immense water.

३०. वेनस् तत् पश्यन् निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवति
एक नीडम्। तस्मिन्निदं सं च विचति सर्वं स ओतः
प्रोतश्च विभुः प्रजासु॥
–यजु० 32/8

भावार्थ–प्रभु-भक्त उस अविनाशी ब्रह्म को हृदय की गुहा में स्थित हुआ देखता है, जिसमें संसार एक घोंसले के समान तुच्छ या नगण्य-सा है। उसी सर्वव्यापक परमात्मा में यह समस्त दृश्यमान संसार प्रलय काल के समय विलीन हो जाता है, और सर्ग काल में पुनः प्रकट हो जाता है। वह सर्वव्यापक परमात्मा वस्तु-वस्तु में ओत-प्रोत है।

The Sage, beholds the world, as it is interwoven just as the cloth is made by warp and woof of threads.

There are two processes in the making of the world—Evolution and Involution. In both processes the old remains in causal form. The Sage understands this. The *Guha* or Mystery is this only—when the world is in evolution. the seed of its disappearance or involution is there in secret. When the world is in involution, the seed of its evolution is there in secret. The Sage sees all this and he sees that the world is made of warp and woof.

३१. प्र तत् वोचेत् अमृतं नु विद्वान् गंधर्वः धाम विभृतं
गुहा सत्। त्रीणि पदानि निहिता गुहा अस्य यः तानि
वेद स पितुः–पिता असत्॥
–यजु० 32/9

भावार्थ–वेद वाणी का विद्वान्, बुद्धि की गुहा में स्थित, उस अविनाशी धाम, नित्य चेतन ब्रह्म का वर्णन करे, अर्थात् प्रचार करे। उसके तीन पाद–उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय अथवा भूत, भविष्यत्, वर्तमान–बुद्धि (ज्ञान) में स्थित हैं। जो इन तीन पदों को जानता है वा इनका प्रचार करता है, वह ज्ञानी पालन करने बालों का भी पालन करने वाला अर्थात् पिता का भी पिता हो जाता है।

Knowing Divinity, *Gandharva*—God—declares: He knows and speaks that he knows the secret of Tertial existence. The world is the Creation, Sustenance and Dissolution. The world is eternal. The dissolution exists in sustenance, sustenance exists in creation. These are the three stages of this world and each exists in the other as if existing in a cave. In the cave you do not see the particulars that these exist in it but still it is very much there. One who knows this secret is father's father, which means a great scholar.

३२. सः नः बन्धुः जनिता सः विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यत्र देवाः अमृतं आनशानाः तृतीये धामनि अध्यैरयन्त॥

—यजु० 32/10

भावार्थ—वह हमारा बन्धु है, हमारा जनक है, हमारा विधाता है। संसार में जितनी सृष्टियां हैं उनका ज्ञाता है, जानने हारा है। वह अमरधाम में रहता है। मरण-धर्मा धाम मानव-लोक है, अमरलोक उसे कहते हैं जब मानव जरा-मरण से मुक्त हो मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। मुक्त हो जाना ही तृतीय धाम कहलाता है।

He is related to us. He is the one who gives birth to us. He knows all the worlds that are in this universe. This earth is for the mortals. Those who are born and die are related to this earth. Those who cross over the cycle of birth and death are liberated—they are called the residents of the third *lok*.

३३. परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च। उपस्थाय प्रथमजां ऋतस्य आत्मना आत्मानं अभि सं विवेश॥

—यजु० 32/11

भावार्थ—सब प्रणियों अर्थात् योनियों को प्राप्त करके, उनके आश्रय-रूप पृथिवी, सूर्य आदि समस्त लोकों को प्राप्त करके, समस्त दिशाओं और उप-दिशाओं को प्राप्त करके तथा सत्य स्वरूप परमात्मा द्वारा सर्वप्रथम उत्पन्न सत्य ज्ञान बोधक बुद्धि को सम्यक्तया धारण करके अपने विशुद्ध आत्मरूप को प्राप्त करके जीवात्मा उस पूर्ण परमात्मा में प्रवेश करता है।

The liberated realized soul is here saying: I have to say: I have crossed over all different localities, crossed over all directions—North, East, South, West and crossed over all cross-sections; I have now come close to the Primeval Cause of Creation—God Himself and *Atma* has met *Atma*.

३४. परि द्यावा पृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान् परि दिशः परि स्वः। ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्॥ –यजु० 32/12

भावार्थ–सृष्टि रचना के उपरान्त शीघ्र ही द्युलोक और पृथिवी के बीच स्थित सब पदार्थों को प्राप्त होकर, सब लोकों को जान कर, सब दिशाओं और उप-दिशाओं को जानकर एवं आत्म-प्रकाश को जानकर ब्रह्म विराजमान है। उसने प्रकृति के फैले हुए तन्तुओं को समेट कर देखा कि वह वैसा ही बन गया जैसा पहले था।

God created the world including the earth and the heaven. After creating them and the intervening materials, He saw all and having made all and seeing all He realized the far extended creation. He saw what exactly it was and having seen all this He withdrew. Thus, He saw what exactly it was, what it was.

(ख) 'मेधा'–बुद्धि की याचना

३५. सदसस्पतिं अद्भुतं प्रियम् इन्द्रस्यकाम्यम्। सनिं मेधां अयासिषम् स्वाहा॥ –यजु० 32/13

भावार्थ–जो सत् तथा असत् का पति (स्वामी) है, अद्भुत् है, परमैश्वर्य वाले भी जिसे चाहते हैं, उस भगवान् से मैं उपहार स्वरूप या आदर सहित बुद्धि की याचना करता हूं–यह मेरी प्रार्थना है। [वामन शिवराम-आप्टे द्वारा विरचित संस्कृत-हिन्दी-कोश में "सनिः" का अर्थ पूजा, सेवा, उपहार, दान, अनुरोध, सादर निवेदन–ये दिये गये हैं।]

Oh God, grant me the intelligence to distinguish the reality from non-reality—सत् from असत्. It is a rare quality of intelligence—अद्भुतम्—a quality desired by even the most intelligent and the most powerful.

३६. यां मेधां देवगणाः पितरश्च उपासते। तया माम् अद्य मेधया अग्ने मेधाविनम् कुरु स्वाहा॥ –यजु० 32/14

भावार्थ–हे अग्निस्वरूप मार्गदर्शक भगवान्! जिस मेधा [बुद्धि] को अनेकों विद्वान् एवं रक्षा करने वाले ज्ञानी लोग प्राप्त करने के लिये आपकी उपासना या आप से प्रार्थना करते हैं उस मेधा [बुद्धि] से आप मुझे मेधावी बनाइये। यह मेरी प्रबल कामना है।

Oh God, grant me that intelligence which is the object of achievement by the Elders and Divine people of society.

३७. मेधां मे वरुणः ददातु मेधां अग्निः प्रजापतिः। मेधां
इन्द्रश्च वायुः च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥

–यजु० 32/15

भावार्थ–हे सर्व-श्रेष्ठ वरणीय प्रभो! मुझे उत्तम बुद्धि दीजिये; प्रकाश स्वरूप "अग्नि" तथा "प्रजाओं का पति" प्रभु मुझे बुद्धि प्रदान करे, परम ऐश्वर्य वाला "इन्द्र" मुझे बुद्धि प्रदान करें। हे प्रभो! 'स्वाहा' मैं अपना सर्वस्व आपके अर्पण करता हूं।

Oh God *'Varun'*—whose nature is to grant blessings to Thy devotees, grant me intelligence; Oh God *'Agni'*—whose nature is to grant the blessings of light to thy devotees,grant me intelligence; Oh God *'Prajapati'*—whose nature is to grant protection to Thy devotees, grant me intelligence; Oh God *'Indra'*—whose nature is to grant strength to Thy devotees, grant me Intelligence; Oh God *'Vayu'*—whose nature is to grant long life to thy devotees, grant me intelligence; Oh God *'Dhata'*—whose nature is to uphold Thy devotees grant me intelligence.

३८. इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं च उभे श्रियं अश्नुताम्। मयि
देवाः दधतु श्रियम् उत्तमाम् तस्यै ते स्वाहा ॥

—यजु० 32/16

भावार्थ–मेरा, ब्राह्म-तेज और क्षात्र-तेज श्री का आस्वादन करे, अपने शिखर पर पहुंचे, बढ़े-चढ़े। मुझमें देव लोग--समाज में श्रेष्ठ समुदाय–यह देखे कि मैं विद्या, बुद्धि तथा धन-धान्य से श्रीशाली, गौरवशाली हूं, मुझ में ये गुण उच्च-कोटि में पहुंच गये हैं।

By Thy blessings, Oh God, I may be in possession, both of Spiritual (ब्रह्म) and Physical Powers (क्षत्रम्). The leaders of Society (देवाः) may enable me to go higher and higher in this ladder of achievement.

ईशावास्य-मन्त्राः—Ishavasyam Verses

[He is in All]

यजुर्वेद का अन्तिम अध्याय 'ईशावास्यम्' से अन्त होता है। वैदिक-साहित्य में "ईशावास्यम्" का इतना महत्व है कि इस नाम से "ईशावास्योपनिषद्" का निर्माण हुआ है। इसे "जीवन-दर्शन" की फ़िलासफ़ी कहा जा सकता है। इसी से हम इस वेद के अन्तिम अध्याय की व्याख्या शुरु करते हैं;

३९. ईशा वास्यम् इदं सर्वम्, यत् किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः, मा गृधः कस्यस्वित् धनम्॥ १॥

भावार्थ—क्योंकि जहां गति है वहां गति तभी हो सकती है जब वहां कोई गति देने वाला हो, और क्योंकि हम संसार के कण-कण में गति देखते हैं, इसलिये संसार के कण-कण में गति देने वाला कोई बस रहा है—"वास्यम्"। जो जहां बसता है वही उसका मालिक है, इसलिये वेद का कहना है कि करोड़ों बरस से संसार के कण-कण में बसने वाले को मालिक समझ कर ऐसे रहो जैसे तुम इसमें नहीं बस रहे क्योंकि यह घर जिसमें तुम बस रहे हो तुम्हारा नहीं है। हे मानव! इस भावना के बग़ैर तुम्हारे जीने का कोई रास्ता नहीं। अगर इस भावना से संसार में रहोगे तो इसके जाल में नहीं फंसोगे। यह समझ लो कि निर्लेप-भाव ही जीवन का गुर है। इस गतिमान् जगत् में "त्यक्तेन भुंजीथा"—त्याग-पूर्वक भोग करो।

By one Supreme Ruler is this universe pervaded, whatever there is in this moving world is His. Hence, find your enjoyment in renunciation; do not covet; Whose is the wealth.

In this stanza of four parts, four principles are enunciated,. First: The world is pervaded by God—the Supreme Ruler. the idea conveyed is that He is Omnipresent. Second: The universe is not stationary, it is moving and every atom of it is in motion--जगत्यां जगत्. No motion is possible without the mover. The Supreme Lord is not only present in the universe, He is the cause of this motion. Third: As

He is installed in everything, therefore, He is the maker of all, and what you enjoy is out of His Grace. Hence, find your enjoyment in renunciation as it is out of His bounty that you enjoy. Fourth: Do not covet the things of the world because nothing belongs to you, everything belongs to Him who is the Lord of the world.

These four principles contain the *Vedic* Philosophy of Life, the central idea being to enjoy with renunciation.

४०. कुर्वन् एव इह कर्माणि जिजीविषेत् शतम् समाः ।
एवं त्वयि न अन्यथा अस्ति, न कर्म लिप्यते नरे ।। २ ।।

भावार्थ—मनुष्य निष्काम-कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। इस प्रकार मनुष्य में कर्म का लेप नहीं होता। इसके बिना कोई रास्ता नहीं।

Wish, O man, to live for a hundred years by doing work without attachment. Thus alone, and not otherwise, do the deeds not affect the man.

The basic philosophy of the *Vedas* is non-attachment, as advised in the previous *Mantra*—त्यक्तेन भुंजीथाः. The *Vedas* do not say that one should run away from the world. They say: Enjoy the good things of life, but let them not attach you. The cause of suffering and misery is attachment.

४१. असुर्याः नाम ते लोकाः अन्धेन तमसा आवृताः । तान्
ते प्रेत्य अभिगच्छन्ति ये के च आत्महनः जनाः ।। ३ ।।

भावार्थ—जो मनुष्य आत्मा का हनन करते हैं वे मर कर गहरे अन्धकार से आवृत्त असूर्य लोक में जाते हैं।

To those regions which are known as the regions of the *Asuras,* where utter darkness prevails, surely go, after death, all such men who destroy themselves.

Though in the previous *Mantra* action—*Karma*—is recommended, yet what sort of action? An action may be elevating to the soul, it may be destructive also. The performers of destructive action are called here the *Asuras.* The word *Asura*—असुर, is used for men of evil deeds. Where do men of evil deeds go after death, or even in life; men who do crimes may be styled living a sort of death. The *Mantra* says that they go to the regions of utter darkness. The regions of utter darkness means a life with no light, a life of forsakenness. Those who destroy themselves by evil deeds—आत्महनः, suffer a life of darkness, sorrow, and suffering. There is no light in their life. The words 'regions of darkness', 'destruction of oneself' etc. are symbolic. Evil deeds are themselves death.

४२. **अनेजत् एकम् मनसः जवीयः, न एनत् देवाः आप्नुवन्**
पूर्वम् अर्षत्। तत् धावतः अन्यान् अति एति तिष्ठत्,
तस्मिन् अपः मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

भावार्थ—वह परमात्मा कंपन तक नहीं करता परन्तु मन से भी अधिक वेगवान् है; इन्द्रियां उसे प्राप्त नहीं कर सकतीं परन्तु वह इन्द्रियों से भी पूर्व वर्तमान है; वह ठहरा हुआ ही अन्य दौड़ते हुओं को पीछे छोड़ देता है; उसी के कारण वायु, जो स्वयं हल्की है, अपने से अधिक भारी जल को उठा लेती है।

There is One who does not move but still without movement is more vigorous than the mind; The senses do not perceive Him, but He is there even before the senses; Without moving, and standing motionless, He outruns the others; Wind, though light, standing in Him—with his support—bears the waters, though heavy.

It is a poetic expression to convey the idea that though seen nowhere He is everywhere.

४३. **तत् एजति, तत् न एजति, तत् दूरे, तत् उ अन्तिके।**
तत् अन्तः अस्य सर्वस्य, तत् उ सर्वस्य अस्य
बाह्यतः ॥ ५ ॥

भावार्थ—वह चलता है, वह नहीं चलता, वह दूर है, वह निकट भी है, वह इस सबके अन्तर में है, वही इस सबके बाहर भी है।

He moves all, but Himself He does not move; To the ignorant He is far away, but to the wise He is at hand. He pervades inside and outside of all.

४४. यः तु सर्वाणि भूतानि आत्मनि एव अनुपश्यति। सर्व भूतेषु च आत्मानं ततः न विचिकित्सति ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो सब भूतों को आत्मा में ही देखता है, और आत्मा को सब भूतों में देखता है वह इस अनुवीक्षण के कारण पाप नहीं करता, क्योंकि उसे प्रत्येक वस्तु की ओट से वह भगवान् ही देखता नज़र आता है।

He who contemplates all beings in Himself—आत्मनि—and Himself in all beings—सर्वभूतेषु—does not view with contempt any creature.

४५. यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत् विजानतः। तत्र कः मोहः कः शोकः एकत्वम् अनुपश्यतः ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस जाननेवाले के ज्ञान में सब भूत आत्मवत् हो गये हों, वहाँ एकत्व का अनुवीक्षण करने वाले के लिए मोह कैसा, और शोक कैसा ?

How can there be blind attachment and sorrow in one who with full knowledge perceives oneness everywhere, and in whom all beings are *Atma*—आत्मा—Spirit alone.

४६. सः परि अगात्, शुक्रम्, अकायम्, अव्रणम् अस्नाविरम्, शुद्धम्, अपापविद्धम्। कविः, मनीषी, परिभूः, स्वयंभूः। याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

भावार्थ—वह सब जगह गया हुआ है। वह शुद्धता की चरम-सीमा है, शुक्र है। उसकी काया नहीं, वह व्रण से रहित है, वह नस-नाड़ी से रहित है। वह शुद्ध स्वरूप है, वह पापों से रहित है। वह मानसिक संसार का स्वामी है, वह "कवि" है, यह भौतिक संसार उसका काव्य है। सब जगह मौजूद होने से वह "परिभूः" है और वह "स्वयंभू" है—अर्थात् कोई उसे पैदा नहीं करता। सृष्टि का प्रवाह जो शाश्वत-काल से निरन्तर चल रहा है, उसके लिए ठीक-ठीक पदार्थों की व्यवस्था वही कर रहा है।

Pandit Gurudatta Vidyarthi translates this *Mantra* as follows :

He overspreads all creatures. He is entirely Spirit with-

out the form either of a minute body, or an extended one, which is liable to impressions or organisation. He is the ruler of intellect, self-existent, pure, perfect, omniscient and omnipresent. He has from all eternity been assigning to all creatures their respective purposes.

४७. अन्धं तमः प्रविशन्ति ये असंभूतिं उपासते। ततः भूय इव ते तमः य उसंभूत्यां रताः ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो 'असंभूति' [अ+सं+भूति], अर्थात् 'व्यक्तिवाद' की उपासना करते हैं वे गहन अन्धकार में प्रवेश करते हैं, और जो 'संभूति' [सं+भूति] अर्थात् "समष्टिवाद" में ही रत हैं वे उससे भी गहन अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

They enter blinding darkness who worship *Asambhooti* (असंभूति); In far greater darkness enter those who over involve themselves in *Sambhooti*.

What is the meaning of *Sambhooti* and *Asambhooti? Asambhooti* means : *A*=not, *Sambhooti*=living together, that is, not living together, which means Individualism. One who is individualistic, in utter disregard of others, is a selfish person. The text says that a selfish man is living in blinding darkness. *Sambhooti* means : *Sam*=together, *Bhooti*=living, that is, living together. Which, in the modern terminology, may mean Socialism. Just as *Avidya* means rank materialism and *Vidya* means rank spiritualism, similarly, *Asambhooti* means rank Individualism and *Sambhooti* means rank Socialism. Rank Individualism leads to darkness and rank Socialism can neglect one's individuality. There has to be a happy blend of both for life to be completed avoiding over-involvement in either individual or collective life. Here the text speaks of the evils of both—Individualism and Socialism—unrelated with each other.

Pandit Gurudatta Vidyarthi translates this *Mantra* as follows :

Miserable are they who worship atoms as the efficient cause of the world; but far miserable are they who worship the visible things made of atoms.

४८. अन्यत् आहुः संभवात् अन्यत् आहुः असम्भवात्।
इति शुश्रुम धीराणाम्, ये नः तत् विचचक्षिरे ॥ १० ॥

भावार्थ—"संभव" [सं+भव] अर्थात् "समष्टिवाद" का कुछ और फल है, "असंभव" [अ+सं+भव] अर्थात् "समष्टि रूप" में न रहकर व्यक्ति को समाज में मुख्य मानकर "व्यक्तिवाद" से चलनेवाले का कुछ और फल है। धीर लोगों ने इन दोनों की व्याख्या की है, उनसे ऐसा ही सुनते आये हैं। यहाँ "संभव" और "असंभव" का 'Possible'—'Impossible' अर्थ नहीं है।

By *Sambhava*—सम्भव, one thing is meant, by *Asambhava*—असम्भव, quite another thing is meant. This we have heard from steadfast wise men who have expalined us their meaning.

४९. संभूतिं च विनाशं च यः तद् वेद उभयं सह। विनाशेन
मृत्युं तीर्त्वा संभूत्या अमृतम् अश्नुते ॥ ११ ॥

भावार्थ–जो "संभूति", अर्थात् "समष्टिवाद" तथा "असंभूति" अर्थात् "व्यक्तिवाद"–इन दोनों को एक-साथ जानते हैं, वे असंभूति [अपना भला देखने वाले की दृष्टि] अर्थात् व्यक्तिवाद से मृत्यु के प्रवाह को तैर लेते हैं, और संभूति [सबका भला चाहने वाले की दृष्टि] अर्थात् समष्टिवाद से अमृत को चखते हैं। "असंभूति" अथवा व्यक्तिवाद विनाशमूलक है, इसी लिए असंभूति का दूसरा नाम "विनाश" है।

He who synthesises in his life both *Sambhooti*—सम्भूति—'Socialism', and *Vinash*—विनाश—'Individualism', he crosses the ditch of death by means of *Vinash*—'विनाश'—Individualism, and enjoys immortality—'अमृतम्'—by means of *"Sambhooti"*—सम्भूति—Socialism.

We have translated *Vinash*—विनाश—as Individualism. Why? Because in this text *Vinash*—विनाश—replaces the word *Asambhooti*—असम्भूति, and *Asambhooti* in the text number 9 we have translated as Individualism. Rank Individualism leads to blinding darkness and rank Socialism leads to greater darkness, for such a person neglects his own Self and his Family Hence, the proper course of life is

a healthy combination of Individualism and Socialism, as is propounded in this text. We have used the words 'Individualism', and 'Socialism', not in their technical sense. By Individualism we mean an out-and-out selfish outlook of life; by Socialism we mean a total dedication to the welfare of others to the neglect of one's self and one's family.

Pandit Gurudutta Vidyarthi translates this *Mantra* as follows :

He, who realises both—*Sambhooti* and *Vinash*—enjoys after death which is the consequence of the worship of things visible and immortality—the fruit of the realisation of divine power displayed in atoms.

५०. अन्धं तमः प्रविशन्ति ये अविद्यां उपासते। ततः भूय इव ते तमः य उ विद्यायां रताः ॥ १२ ॥

भावार्थ–जो "अविद्या", अर्थात् "भौतिकवाद" की उपासना करते हैं, वे गहन अन्धकार में जा पहुंचते हैं, और जो "विद्या" अर्थात् "अध्यात्मवाद" में रत रहते हैं, वे उससे भी गहरे अन्धकार में जा पहुंचते हैं।

They enter darkness who worship *Avidya;* In far greater darkness enter those who over involve themselves in *Vidya.* 12. (See No. 9. in my note).

What does the *Veda* mean when it says that those who over-involve themselves in *Vidya* enter in far greater darkness than those who worship *Avidya.* The plain meaning is that *Avidya*—ignorance—leads one to darkness, and *Vidya*—knowledge—leads to greater darkness than darkness of *Avidya*—ignorance.

The use of the words *Vidya* and *Avidya* in this text is not the common use of the words as we understand them. Here *Avidya* means rank Materialism; *Vidya* means rank Spiritualism. The *Vedic* conception is that rank Materialism leads to darkness, but rank Spiritualism leads to greater darkness as its devotee is deprived of the fruits of worldly enjoyment which the Materialists get. The *Vedic* concept of life is a synthesis of Materialism and Spiritualism as both are real. Real, in the sense that the world does exist, and the Soul and God also exist. The course of life should be moulded accepting both as realities of existence. In a happy blend of both these points of view one dispels darkness of *Avidya* and utter darkness of *Vidya*. The rank Materialist is fortunate in that he at least enjoys the world; the rank Spiritualist is unfortunate because he neither enjoys the world nor Spiritualism leads him to utterly negate the existence of matter of this work-a-day world.

५१. अन्यत् एव आहुः विद्यया, अन्यत् आहुः अविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणाम् ये नः तत् विचचक्षिरे॥ १३॥

भावार्थ–"विद्या" से अन्य ही कुछ, और "अविद्या" से अन्य ही कुछ फल होता है। धीर लोगों ने विद्या और अविद्या की जो व्याख्या की है उनसे ऐसा ही सुनते आये हैं।

By *Vidya*—विद्या—Spiritualism, one thing is meant; By *Avidya*—अविद्या—Materialism, another thing is meant. Thus we have heard from steadfast wise men who have explained their meaning.

५२. विद्यां च अविद्यां च यः तत् वेद उभयं सह। अविद्यया
मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते॥ १४॥

भावार्थ–"विद्या" तथा "अविद्या"–इन दोनों को जो एक-साथ जानते हैं, वे "अविद्या" अर्थात् भौतिक-विज्ञान से मृत्यु लाने वाले प्रवाहों को तर जाते हैं, और "विद्या" अर्थात् अध्यात्म-ज्ञान से "अमृत" को चखते हैं। संभूति और विनाश एवं विद्या तथा अविद्या–इन को एक-साथ समझना चाहिये।

He who synthesises in his life both *Vidya* (Spiritualism) and *Avidya* (Materialism); he crosses (the river of death) by means of *Avidya* (Materialism); and enjoys Immortality—अमृतम्, by means of *Vidya* (Spiritualism).

Here *Avidya*—Materialism—is said to be helpful in crossing the river of death. One overcomes diseases by means of drugs invented by science; that is what is meant by overcoming death. *Avidya* represents Science, and Science represents Materialism in the *Vedic* terminology, but

Materialism can go only so far, and no further. It can give health by means of life-saving drugs, but man's search is for Immortality which can be attained by *Vidya*—Spiritualism—alone.

५३. वायुः अनिलं अमृतं अथ इदम् भस्मान्तम् शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर, कृतम् स्मर॥ १५॥

भावार्थ–अरे मानव! यह शरीर क्या है? इसमें प्राण-वायु है जो इसे जीवित रखती है, अनिल=अनिल सखा (अग्नि) है जो इसमें शक्ति बनाये रखती है और इनके अतिरिक्त अमृत-रूपा (अमृत) चेतन-शक्ति है। परन्तु इस शरीर का अन्त तो श्मशान में जाकर भस्म ही हो जाता है, इसलिये, हे कर्मशील पुरुष अब तक जो-कुछ तूने किया (कृतम्) उसे स्मरण कर और भस्मीभूत-शरीर के बाद अगले जन्म में जो-कुछ करना (क्रतो) है उसे स्मरण कर।

Oh man, what is the body? It consists of three entities—*Vayu* (Breath), *Anil* (Heat in the body or Fire) and *Amrit* (some entity which is Immortal). Of these three is this body formed which in the end-ends in dust and ashes. But dust and ashes can result only of the body, not of the entity Immortal *(Amrit)*. Hence, Oh man, think not of the body consisting of breath *(Vayu)* and heat *(Anil)*. Think of the actions done in the present and actions to be done in the life to come.

५४. अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि
विद्वान्। युयोधि अस्मत् जुहुराणम् एनः, भूयिष्ठां ते
नमः उक्तिं विधेम॥ १६॥

भावार्थ–हे अग्ने! हे देव! तुम सब प्रकार के कर्मों को जानते हो। तुम हमें सम्पत्ति या उन्नति के लिये ऐसे मार्ग से ले चलो जो सुपथ हो। जो कुटिल पाप-मार्ग हैं उनसे हमारे अन्तरात्मा का युद्ध कराकर उन्हें पृथक् करो। हम बार-बार तुम्हें नमस्कार करते हैं।

O self-effulgent power of the universe *Agne*—अग्ने, lead us all by the path of rectitude. O *Deva,* thou knowest all good deeds. Fight out, out of us, the wicked, evil, and sinful deeds. We utter these words to Thee in humble obeisance again and again.

५५. हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्य अपिहितम् मुखम्। यो असौ आदित्ये पुरुषः सः असौ अहम। ओ३म् खं ब्रह्म॥ १७॥

भावार्थ–संसार की चमक-दमक या सुवर्णादि भौतिक पदार्थों के पीछे उस सत्यस्वरूप भगवान् का यथार्थ रूप ढका हुआ है। उसका अस्तित्व हम से छिपा हुआ है, हम भौतिक पदार्थों को ही यथार्थ समझते हैं, भगवान् का यथार्थ रूप मुझ से तिरोहित है–मैं प्राण-वायु या गतिमान जीवन को ही अपना-आपा समझे बैठा हूं। हे प्रभो! मुझे शक्ति दो कि मैं अपने यथार्थ रूप को समझूं, मैं अविनश्वर आत्मा हूं। "सः अहम् अस्मि"–मैं यह नहीं हूं, वह हूं।

The face of Truth is hidden from me by the allurements of the tempting world posing as Truth, just as the shining brass is mistaken for gold. I am a Godly being, as Godly as the bright shining sun. I have forgotten my reality, and have forgotten as to what I really am. Help me, O God, to realize myself and know as to WHO I REALLY AM.

शिव-संकल्प मन्त्राः

Shiva-Samkalpa Verses
(Purification of the Mind)

यजुर्वेद के 34वें अध्याय के 58 मंत्रों में पहले छः मंत्र "शिव संकल्प" मंत्र कहलाते हैं और मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से मन की उछल-कूद को जानने के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उनका अभिप्राय यह है कि संसार का सारा चक्र मन चला रहा है। इन मंत्रों में प्रार्थना की गई है कि वह मन जो हमारे जागते-सोते, हमारे जाने-अनजाने नाना कर्म करता है, वह हमारे वश में रहे। इन मंत्रों का सोने से पहले और सो कर उठने के बाद पाठ करना एक प्रकार का आटो-सजेशन है जिससे मन को वश में रखने में सहायता मिलती है।

34th Chapter of the *Yajur Veda* comprises of 58 *Mantras* of which the first six are incomparable in their description of the working of the mind. They point out that every thing in the world is the outcome of the mind. It is prayed in the *Mantras* that this mind of mine which travels far and wide, while one is awake and even while asleep, which is the light of the senses, from which originate all our actions, good or evil—may that mind be of noble resolves. In all the six *Mantras,* the same idea is repeated to oneself as an auto-suggestion:

५६. यत् जाग्रतः दूरम् उत् आ एति, दैवम्, तत् उ सुप्तस्य
तथा एव एति। दूरम् गमम्, ज्योतिषां ज्योतिः एकम्,
तत् मे मनः शिवसंकल्पं अस्तु॥ १॥

भावार्थ—वह मेरा दिव्य मन जो ज्योतियों की ज्योति है, जो जागते हुए मनुष्य को दूर-दूर तक भ्रमण कराता है, वैसे ही निद्रावस्था में भी दूर-दूर तक जाता है, वह मेरा मन शुभ-संकल्प वाला हो।

That mind of mine which is the light of lights—ज्योतिषाम् ज्योतिः, which in man's waking state as well as when he is

asleep travels far and wide, may that mind of mine be of divine qualities, be of noble resolves.

Physically the man is restricted in his activities, but the mind is not restricted by physical limitations. The mind can see without eyes, hear without ears, walk without legs, fly without wings, travel far and wide without using limbs. That is its divine quality—दैवम्.

It is the light of lights—ज्योतिषां ज्योति:. Our senses are instruments of knowledge, but if the mind is elsewhere, the eyes though open cannot see, the ears though working cannot hear. The sense-organs work when the mind activates them, when the mind stops working the organs stop. Positively and negatively, it is not the senses that matter, it is the mind that is the force which makes the senses work. The senses are only instruments of the mind, though for all intents and purposes, one thinks the organs work independently.

When the mind is evil it can bring destruction, when it is noble it can bring peace in one's life as well as in the society. Being possessed of constructive and destructive forces it can do good as well as evil, hence one submits oneself to auto-suggestions every day, repeating to oneself: Let my mind be of noble resolves.

५७. येन कर्माणि अपसः मनीषिणः यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः। यत् अपूर्वं यक्षम् अन्तः प्रजानाम्, तत् ते मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ २ ॥

भावार्थ—जिसके द्वारा सदा कर्मनिष्ट, मन के स्वामी, धीर पुरुष यज्ञ आदि पारलौकिक एवं लौकिक व्यवहारों में कर्मों को सम्पन्न करते हैं; जो मन अपूर्व शक्ति है; जो सब प्रजाओं में पूजनीय रूप में वर्तमान है, वह मेरा मन कल्याणकारी संकल्प वाला हो।

By which the men of steadfast character—धीरा:, who are masters of their minds—मनीषिण:, in religious—यज्ञे, and mundane affairs—विदथेषु, perform all sorts of actions—

कर्माणि, and extra ordinary actions—अपस:; the mind which is unique—अपूर्व, and is worshipable—यक्षम् existing within all of us—अन्त: प्रजानाम्—may that mind of mine be of noble resolves.

Here the word *Manishinah*—मनीषिण:—is of great significance. *Manishih*—मनीषी:—means one who is the master of the mind. Though the mind seems to be the master of us all, there is some entity within us which is the master of our master. As the senses cannot move of their own, they are set in motion by the mind; similarly the mind also is not an independent entity-it is moved by some other power which is its master.

Secondly, the mind is an instrument. When one is awake to himself and realises that he is the master of his mind—मनीषी, then the mind follows the dictates of its master. By constant auto-suggestions a state of consciousness should come when instead of following the mind to whichever path it leads us,we should make the mind subservient to the soul which is the ultimate reality and to whose dictates the mind as the instrument should submit.

५८. यत् प्रज्ञानं उत चेतः धृतिः च, यत् ज्योतिः अन्तः
अमृतं प्रजासु। यस्मात् न ऋते किंचन कर्म क्रियते,
तत् मे मनः शिवसंकल्पम् अस्तु॥ ३ ॥

भावार्थ-जो मन ज्ञान का भण्डार है, जो स्मृति का साधन है, जो धैर्य स्वरूप है, और जो मनुष्यों के अन्दर अविनश्वर प्रकाश वाला है, जिसके बिना कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता, वह मेरा मन कल्याणकारी संकल्प वाला हो।

That mind in which knowledge concentrates—प्रज्ञानम्, which is the consciousness itself—चेत:, which is the upholder or the foundation of all what man is—धृति:, which is the immortal light—अन्त: ज्योति:—within all created beings, without which no action is done, that mind of mine be of noble resolve.

Here four characteristics of the mind are mentioned:

Knowledge—प्रज्ञानम्; Consciousness—चेत:; Foundation—धृति:; and Inner Light—अन्त: ज्योति:. The mind gives knowledge. In fact, the mind is nothing but knowledge. Then, it is consciousness. You cannot know unless you are conscious. Then again it is the foundation, the basis of both knowledge and consciousness. Both of them reside in the mind. Knowledge and consciousness cannot be the attributes of the body. The mind without knowledge and consciousness is no mind. The fourth attribute of the mind—inner light—enlightens the objects of the world out side. All this shows that due to these four attributes of the mind we are aware of the existence of the material world without which no action is possible. Therefore, the *Mantra* says that my mind without which no activity of the world is possible be of noble resolve so that I may be an instrument of noble deeds, not of evil deeds.

५९. येन इदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतम् अमृतेन सर्वम्। येन यज्ञः तायते सप्तहोता, तत् मे मनः शिवसंकल्पम् अस्तु ॥ ४ ॥

भावार्थ–जिस अविनाशी मन ने भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्–यह सब मानो पकड़ा हुआ है, जिसकी सत्ता से सात होता (सातों इन्द्रियां) जीवन यज्ञ का विस्तार करते हैं, वह मेरा मन शुभ संकल्प वाला हो।

By which immortal mind—अमृतेन—all this past, present, and future is held—भूतं, भुवनं, भविष्यत् परिगृहीतम, as if in a grasp; by which is performed and extended—तायते—this *Yajna*—sacrifice यज्ञः—of life; that mind of mine which performs this *Yajna* with seven performers of sacrifice—सप्तहोता—be of noble resolve.

The mind moves into the past, in the present, and into the future. One thinks of one's past events, roams all over the life one has lived, revels in reminiscences; dwells over the present events; and pictures out the future one wishes to make for oneself. Though living in the present, it recalls the past and visualises the future. Such an entity which is not bound by time must be a unique power. Hence, the *Mantra* calls the mind immortal—अमृतम्—that transcends time.

The second idea conveyed by the *Mantra* is that the life is a great *Yajna*—a sacrificial performance undertaken by the instrumentality of the mind. The mind works through its seven helpers—सप्तहोता—two eyes, two ears, two nostrils, and one tongue. The helpers are set on a continuous performance—a sacrifice—*Yajna.* The eyes see, the ears hear, the nose smells, and the tongue speaks, and all of them pass on their acquired knowledge—the perception—the sound, the smell, the speech etc, respectively, to their master—the mind. This transmission is the sacrifice of the helpers, for sacrifice means surrender. The mind possesses an immortal power. Due to this power, it can use what it sees, hears, smells, and speaks—to the good or to the evil of man . The prayer is that this mind of mine may be of noble resolve so that only good may come out of its workings.

६०. **यस्मिन् ऋचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिताः रथनाभौ**
इव अराः। यस्मिन् चित्तं ओतम् प्रजानां तत् मे मनः
शिवसंकल्पम् अस्तु॥ ५॥

भावार्थ–जिस (शुद्ध हुए) मन में ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद इस प्रकार स्थित हैं, जैसे रथ की नाभि में अरे लगे होते हैं, और जिसमें समस्त प्राणिजगत् का ज्ञान सूत्र पिरोया हुआ है, वह मेरा मन शिव संकल्पों वाला हो।

In which the three branches of learning—*Richah*—ऋचः, *Sama*—साम, and *Yajuha*—यजुः (contained in the four Vedas)—are present as spokes in the navel of the chariot; in which is threaded—ओतम्—consciousness of all beings who are born, that mind of mine may be of noble resolve.

The mind is the repository of knowledge. As all the knowledge, according to the Vedic thought, is contained in the *Vedas,* so the mind is said here to be the repository of *Richah, Sama,* and *Yajuh*—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद.

There is no doubt that all the knowledge comes out of the mind. Those pioneers of knowledge who made investigations and discoveries and gave somthing new to the world did so out of their mind. One has to delve deep into the mind to reach the treasures of knowledge that lie hidden therein.

६१. सुषारथिः अश्वान् इव यत् मनुष्यान् नेनीयते अभीशुभिः वाजिनः इव। हृत् प्रतिष्ठम् यत् अजिरं जविष्ठं, तत् मे मनः शिवसंकल्पम् अस्तु ॥ ६ ॥

भावार्थ—अच्छा सारथी जिस प्रकार लगामों की सहायता से अत्यन्त वेग वाले घोड़ों को अभीष्ट स्थान पर ले जाता है, उसी प्रकार मन मनुष्यों को विचार क्षेत्र में ले जाता है, यह मन हृदय में स्थित है, कभी बूढ़ा न होने वाला और अति वेगवान् है। वह मेरा मन कल्याणकारी संकल्प वाला हो।

That which drives—नेनीयते—men, as the good charioteer does the fast-running—वाजिनः—horses holding them by reins; Let that mind of mine, situated in the heart—हृत् प्रतिष्ठम्, immune from old age—अजिरम्, of immense speed जविष्ठम्, be of good resolve.

Here the body of the man is compared to the chariot and the mind to the charioteer. Just as the chariot is carried by horses on the roads, so is the body with its senses moving about in the different paths of life. The horses of the chariot are controlled by the charioteer holding the reins in his hands, the senses of the body move about in the different paths of life and are controlled by the resolution of the mind.

उपसंहार

ये मंत्र मन की शक्ति का बखान करते हैं। वेद के अनुसार भौतिक-तत्व की उतनी यथार्तता नहीं है, जितनी अभौतिक-अर्थात् मानसिक तथा आध्यात्मिक की। भौतिक-दृष्टि से विचार करें तो मनुष्य की शक्तियां वहीं तक सीमित हैं जहां तक शरीर का उस पर बन्धन है; मानसिक-दृष्टि से विचार करें तो मनुष्य की

शक्तियां असीमित हैं, अपरिमित हैं, सीमा का अतिक्रांत कर जाती हैं। मनुष्य का मन संसार की जेल से स्वतंत्र होकर बिना बंधनों के विश्व भर में विचरण करता है। मन बिना पांवों के, बिना पंखों के, जागते भी, सोते भी, सब जगह जा सकता है। जागते हुए जिन चमत्कारों को मनुष्य नहीं कर सकता, सोई अवस्था में उन्हें करता-फिरता है। हम जो-कुछ करते हैं उसका उद्‌भव-स्थान मन है। संसार के युद्ध पहले मन में लड़े जाते हैं, फिर मैदानों में। इसी स्थिति को देखकर वेद ने मन को शुद्ध तथा पवित्र होने को कहा है। कहते हैं–मन चंगा तो कठौती में गंगा। जीवन के मार्ग पर चलता हुआ मानव उस चौराहे पर आ खड़ा होता है जहां से मनुष्य या सत्य के, धर्म के मार्ग पर जा सकता है, या असत्य के मार्ग पर भी जा सकता है। अगर मनुष्य बार-बार सत्य और धर्म को दोहराता रहे, तो उसके जीवन की राह सचाई के लक्ष्य पर चल पड़ती है, अगर वह बार-बार असत्य या अधर्म की बात को दोहराता रहे, तो उसका जीवन अधार्मिक तथा पापमय हो जाता है। इसीलिये कहा गया है कि सोते समय "शिव संकल्प" मंत्रों का जाप करना चाहिये ताकि मन के संकल्प शुभ हों, मंगलमय हों, मनुष्य को शिव की दिशा में ले जायें। जो विचार सोते समय रात्रि को दोहराये जाते हैं, वे जागते समय जीवन को प्रभावित करते हैं।

EPILOGUE

The *Mantras* lay emphasis on the power of the mind. It is not the physical but the mental that is the reality. Physically speaking, man's powers are confined to the limitations imposed upon him by his body; mentally speaking, his powers are unlimited. Physically one may be in prison, but one's mind can transcend the prison-walls to travel all over the world free and unfettered. In fact, it is the mind that activates the body. The mind wanders about without feet and without wings even while awake and even while asleep. One may not be able to accomplish a feat but in imagination one crosses over all the barriers. Whatever we do, it originates in the mind. Even wars, before they are fought on the battle-field, are enacted in the secluded cham-

bers of the mind. Hence, realising the importance of the mind, the *Vedic Mantras* exhort us to guide our minds in the right directon for the mind always stands at the cross-roads, where there is a fork. The wrong choice of the road may lead one to darkness and death. The right choice may open out sunshine and brightness. Auto-suggestion is very helpful in giving direction and strengthening the mind. In all these six *Mantras* one is repeating to oneself: Let that mind of mine be of noble resolve. By repeatedly suggesting to oneself that one should be of noble mind, one will be of noble mind. It is advisable to repeat these *Mantras* before going to bed at night so that the suggestion may operate during sleep also.

प्रभात-सूक्त-(Morning Prayer)

यजुर्वेद के 34 अध्याय के 34वें से 40 तक 7 मंत्रों में प्रातः काल प्रभु से याचना की गई है इसी कारण सूक्त का नाम प्रभात-सूक्त है। यह सूक्त ऋग्वेद के मंडल 7 का 41 वां सूक्त भी है। इस सूक्त में सद्गृहस्थ की प्रातःकाल उठते ही भगवान् के प्रति जो भावनायें हैं उनका सरल तथा मार्मिक शब्दों में चित्रण किया गया है।

This *Sukta* is to be found in 34th Chapter of *Yajurveda* as well as in 7th *Mandal* of *Rigveda*. It is very important as it is found in both the *Vedas*. The *Sukta* embodies Prayer to God as soon as one leaves the bed in the morning. Here we mention its contents :

६२. प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा
प्रातरश्विना। प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत
रुद्रं हुवेम॥ १॥

भावार्थ—हम प्रातः काल के समय भगवान् के तेजोमय "आग्नेय" रूप का, ऐश्वर्यमय "इन्द्र" रूप का, स्नेह तथा न्यायकारी "मित्रावरुण" रूप का, रोगरहित "अश्विनौ" रूप का, भाग्यविधाता होने से "भग" रूप का, पोषक होने के कारण "पूषा" रूप का, ज्ञानमय होने से "ब्रह्मणस्पति" रूप का, शान्तिप्रद होने से "सोम" रूप का और दुष्टता पर प्रहार करने के कारण "रुद्र" रूप का ध्यान करते हैं।

We call upon God in the morning in the form of 'Fire'; in the form of 'Power'; in the form of 'Friend and Companion'; in the form of 'Speed' 'Action' and 'Health'; in the form of 'Prosperity'; in the form of 'Growth'; in the form of 'Great Protector'; in the form of 'Great Knowledge'; in the form of 'Peace'; in the form of 'Glorious Fighter'.

६३. प्रातर्जितं भवमुग्रं हुवेम वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रः चिद्यं मन्यमानः तुरः चित् राजा चिद्यं भक्षि
इत्याह॥ २॥

भावार्थ—हम समस्त ब्रह्माण्ड को धारण करने वाले, विजयशील, हार न मानने वाले अदिति [दोः अवखंडने] के ऐश्वर्यशाली तथा उग्र स्वभाव वाले-शूरवीर पुत्र -का आह्वान करते हैं, जिसके सामने अपने को शूरवीर मानने वाला राजा भी प्राणों की भिक्षा मांगने लगे।

We call upon God who enjoys victory at the very outset; who is glorious; son of the non-hurt. Before whom the audacious become supine and beg pardon of him. (It means that he can hurt everybody in the fight, but he is never hurt.Hence he is called the Son of Aditi—Non-hurt).

६४. भग प्रणेतः भग सत्यराधः भग इमांधियं उत् अव ददत् नः। भग प्र नो जनय गोभिः अश्वैः भग प्र नृभिः नृवन्तः स्याम॥ ३॥

भावार्थ—हे भगवान् आप ऐश्वर्य की तरफ़ ले जाने वाले हो, आप सच्चाई को सिद्ध करने वाले हो, आप हमारी बुद्धि को कल्याण-मार्ग पर ले चलो। आप हमारा ऐसा कल्याण उत्पन्न कर दो कि हम गौओं वाले, घोड़ों वाले तथा नर-नारी सन्तान वाले हों—हमारा घर सब तरह से भरा-पूरा हो।

Oh God, thou art the guide of our life. Thou leadest us to Truth. Guide our intellect to enable us to tread the path of our welfare. Our household should be wanting in nothing We may possess kine, horses, men, women and chidren.

६५. उतेदानीं भगवन्तः स्याम उत प्रपित्व मध्ये अह्नाम्। उतोदिता मधवन्त्सूर्यस्य वयं देवानाम् सुमतौ स्याम॥ ४॥

भावार्थ—हे भगवन्! अब जब हम प्रार्थना कर रहे हैं, आपकी कृपा से भाग्यवान हों, अब के बाद जब दिन का मध्य-भाग प्राप्त हो तब भी भाग्यशाली हों, और जब अगले दिन सूर्य उदित हो तब भी आपकी हम पर कृपा रहे।

May we be, now, in thy benediction; in the middle of the day also we may be in thy benediction; and the next day also when the sun rises thy benediction may continue. We may be in the good books of the learned of society.

६६. भग एव भगवानस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुर एता
भवेह ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब ऐश्वर्यों का भण्डार परमेश्वर ही हमारा प्राप्तव्य है। उसी को प्राप्त कर हम ऐश्वर्यशाली बनें। सारा संसार तुम्हीं को भगवान् कह कर पुकारता है। तुम, हे भगवन्! हमारे पथ-प्रदर्शक बनो।

Thou art, O Lord, possessed of divine qualities, We may imbibe those qualities from Thee. The world calls on Thee as a divine being and bows at Thy feet to be led on the divine path.

६७. समध्वराय उषसः नमन्त दधिक्रावेव सुचये पदाय।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं नो रथं इव अश्वाः वाजिनः
आ हवन्तु ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे सधे हुए घोड़े स्वामी को अभीष्ट स्थान पर ले जाते हैं, वैसे उषाएं हमें "अध्वर"—हिंसा रहित यज्ञ—पर पहुंचायें; जैसे तीव्रगामी बलवान घोड़े रथ को यथास्थान पहुंचाते हैं, वैसे यज्ञ रूप परमात्मा धनादि की प्राप्ति के लिये हमें "यज्ञ" द्वारा—देव पूजा, संगतिकरण तथा दानादि कर्म—तक पहुंचायें।

Thou art, O Lord, possessed of divine qualities. We may imbibe thine qualities from Thee. The world calls on thee and bows down unto Thee for Thy divinity. Lead us, O Lord on to the divine path.

Just as trained horses yoked to a chariot carry the master to his destination without going astray and cut short his wanderings, similarly our mornings may lead us to our destination of realization of God. Our kine should yield us bucketful of milk, horses give us speed in action, our children-strength. They should lack nothing in their well-being.

६८. अश्वावतीः गोमतीः न उषासः वीरवतीः सदम् उच्छन्तु
भद्राः। घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता ययम् पात
स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

भावार्थ–ये उषाएं नित्य अश्वोंवाली अर्थात् बलप्रद गौओं वाली अर्थात् ज्ञानप्रद और वीर योद्धाओं वाली अर्थात् वीर भावनाप्रद हमारे घर में हमारे कल्याण के लिये उछल पड़ें। ये उषाएं घी बहाती हुई सब प्रकार से सदा वृद्धि करती हुई आ टपकें। हे उषाओं! तुम सदा सब प्रकार से हमारी रक्षा करो। कहने का अभिप्राय यह है कि हमारा प्रत्येक दिन उषा–काल से प्रारम्भ हो और यह हमारे कल्याण का दिन हो।

सरस्वती मंत्राः

Invoking the Goddess of knowledge

६९. पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती यज्ञं वष्टु
धिया वसुः ।। —यजु0 20/84

भवार्थ—हमारे लिये पवित्र सरस्वती देवी—"विद्या" जो विज्ञान आदि विद्याओं के बलों से बलवती है, यह बुद्धि रूपी धन देकर हमारे यज्ञ को सुशोभित करे।

Saraswati, the Goddess of knowledge, the purifier, great in her power of knowledge, with intellect as her treasure may grace our oblation.

७०. चोदयित्री सूनृतानाम् चेतन्ती सुमीतनाम्।
यज्ञं दधे सरस्वती ।। —यजु0 20/85

भावार्थ—सच्ची और प्यारी बुद्धि (मति) को प्रेरणा देती हुई, बुद्धियों (सुमति) को चेताती हुई, सरस्वती-देवी यज्ञ (शुभ-कर्म) को धारण करती है जिससे हमारे सब उत्कृष्ट-कर्म बुद्धि-पूर्वक होते हैं।

Inspirer of truthful and sweet speech, instigator of excellent thoughts, may *Saraswati* uphold our dedicated life of Sacrifice.

७१. महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना।
धियो विश्वा विराजति ।। —यजु0 20/86

भावार्थ—सरस्वती अगाध ज्ञान-समुद्र के समान है। जो-कुछ हम जानते हैं वह उस ज्ञान-समुद्र का कण-मात्र संकेत है। हमारी बुद्धि में जो चमत्कार या विशेषता पायी जाती है वह विश्व-ज्ञान में निहित विशेषता का प्रतिबिम्ब मात्र है। न्यूटन के विषय में कहा जाता है कि वह कहा करता था कि उसका ज्ञान विश्व के असीम ज्ञान का एक क्षूद्र हिस्सा है। वह कहता था कि मैं संसार

के असीम–ज्ञान को पाने के लिये अपने को ऐसा ही अनुभव करता हूं जैसे समुद्र के किनारे पड़े हुए कंकड़ों में से किसी एक कंकड़ को उठा रहा हूं। कुछ ऐसा ही भाव इस मंत्र में निहित है, जब कहा है–"धियो विश्वा विराजति"।

Saraswati is like a great ocean of knowledge. Whatever we know is a small indication of the immeasurable knowledge existing in the world. Our knowledge is resplendant due to being a part of Universal Knowledge.

मधु-पर्क मंत्राः

[Wishing everything sweet as honey]

७२. मधुवाता ऋतायते मधुक्षरन्ति सिन्धवः।

माध्वीः नः सन्तु ओषधीः॥ —यजु0 13/27

भावार्थ—सत्य-ज्ञान को पाने के लिये वायुगण माधुर्य वर्षण करते हैं; सत्य-ज्ञान को पाने के लिये समस्त नदियां मधु प्रवाहित करती हैं; हम उपासकों के लिये औषधियां—अर्थात् सभी प्रकार के खाद्य पदार्थ मधु से पगे होते हैं।

By one who lives by Eternal Law, the winds are full of sweetness like the sweetness of home; the rivers pour forth sweetness, the plants also may be full of sweetness like that of honey.

७३. मधु नक्तम् उतोषसः मधुमत् पार्थिवं रजः।

मधुः द्यौः अस्तु नः पिता॥ —यजु0 13/28

भावार्थ—सत्याचारी पुरुषों के लिये रात्रि और उषा माधुर्य वाली हो, मधु के समान मीठी हो, उठने पर सत्याचारी पुरुष अपने को तरौताजा अनुभव करे, प्रातःकाल की उषा प्रतिदिन उसके लिये मधु-समान हो, पृथिवी की मिट्टी भी उसके लिये मधु हो, अर्थात् मिट्टी से उत्पन्न सब पदार्थ उसके लिये माधुर्यमय हों और द्यु-लोक उसका पिता समान पालन-पोषण करने वाला सहृदय पालक समान हो। चारों तरफ़ से—ऊपर से, नीचे से; पृथिवी-लोक से, द्यु-लोक से; प्रातःकाल से, दिन से, रात्रि से—सब जगह से उस पर मिठास की वर्षा हो।

To the man grounded in truth and morality, mornings and nights, as regards him, it is prayed, that the earth and heavens all should shower sweetness like honey on him.

७४. मधुमान् नः वनस्पति मधुमान् अस्तु सूर्यः।

माध्वीः गावः भवन्तु नः॥ —यजु0 13/29

भावार्थ—हम सत्यवादियों के लिये वनस्पतियां माधुर्य से परिपूर्ण हों; सूर्य जो सारे संसार को कार्य में प्रवृत्त करता है वह मधु हो; हमारी गौएं हमारे लिए मधुर दुग्धवती हों।

Let the forest trees and vegetables be sweet for us; Let the sun that ripens the vegetations be sweet for us; Let the kine be full of sweetness for us.

उपस्थान-मंत्राः-Upasthaan Verses

[Prayer for upliftment and nearness to God]

(सुख, संपत्-काम सूक्त)

७५. उत् वयं तमसः परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यं अगन्म ज्योतिः उत्तमम्॥

—यजु0 35/14

भावार्थ–हे भगवन्! हम अज्ञानान्धकार से ऊपर [उत्] उठें; अज्ञानान्धकार से ऊपर उठकर जो ज्ञान प्राप्त हो उस तक ही सन्तोष न कर बैठे न रहें; उस ज्ञान से भी ऊपर उठें [उद्+तर=उत्तर]; इस उत्तर ज्ञान से भी ऊपर उठें जिसे इस वेद मंत्र में "उत्तम" कहा है। हम "उत्" से "उत्तर", और "उत्तर" से उत्तम" ज्ञान को प्राप्त करें। जैसे सूर्य का प्रकाश "पौ फुटने" के समान होता है, वह बढ़ता-बढ़ता पूर्ण प्रकाश में परिणत हो जाता है, वैसे ही हे भगवान्! "सरस्वती" की विद्या के प्रकाश की आराधना करते हुए सूर्य के प्रकाश की तरह हमारा ज्ञान क्रमशः आगे-आगे बढ़ता जाय।

Oh Lord, we may rise beyond the darkness of Ignorance. This is called here as 'उत्'—Beyond. By rising above ignorance, we may not slacken our efforts in making search of knowledge. In this effort we may go beyond which is called here as 'उत्तर'—(उद्+तरप्)—meaning still higher or still beyond. Our efforts to attain knowledge may continue incessantly and continuously so that we may attain all possible knowledge which is called here as 'उत्तमम्'—Highest Knowledge. This gradual attainment of knowledge may be just like the gradual development of light—first: the Dawn; next the rise of the Sun; next the Noon's light. Light starts in the morning as a flicker of Light; then it grows and grows till we come to the height of Light; so, it is prayed, with a flicker of knowledge we may start and end at the highest knowledge with the blessings of *Saraswati*.

७६. उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ —यजु० 33/31

भावार्थ—जिस प्रकार विश्व को देखने के लिये सूर्य है, उसी प्रकार संसार का प्रत्येक पदार्थ भगवान् के दर्शन कराने के लिये हर वस्तु उसी भगवान् की तरफ़ निर्देश कर रही है। हर वस्तु "केतु" है—उसकी तरफ़ इशारा कर रही है और मानों कह रही है कि यथार्थ सत्ता यह नहीं, वह है।

As the Sun is there to show the world and without the Sun you cannot see the world, similarly, the objects of the world are as signposts pointing out towards Him that He is the Reality; and not this that you see. 'केतवः' comes from the root—किति संज्ञाने—which means the Means to Knowledge. Every object of the world is a means to know Him.

७७. चित्रं देवानाम् उद्गात् अनीकं चक्षुः मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः। आ प्रा द्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगस्तस्थुषश्च स्वाहा॥ —यजु० 7/28

भावार्थ—भक्त कहता है कि सूर्य,चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह आदि देवों का मेरे सम्मुख अद्भुत् चित्र [तेज] प्रकट हुआ है, जो मित्र, वरुण और अग्नि रूप भगवान् का दर्शन कराने वाला है; जो द्यु-लोक, पृथिवी-लोक और अन्तरिक्षलोक को—सभी लोकों को व्याप रहा है। वह सर्व-प्रकाशक "सूर्य" समस्त चेतन [जगतः] एवं जड़ [तस्थुपः] जगत् का आत्मा है। ठीक सूर्य की तरह भगवान् जड़-चेतन का तथा द्यु-लोक, पृथिवी-लोक तथा अन्तरिक्ष-लोक का देखने हारा है, उसी के निरीक्षण में सब-कुछ चल रहा है।

The devotee proclaims: The marvellous splendour of God (the sun, moon, the stars etc.) has shown up before me. This splendour is an eye for me to see God as *Mitra, Varun* and *Agni*—the three aspects of the Divinity. It indicates that the soul of all that moves or stands still—the Earth, Space and Heaven—their soul is the Sun. Similarly, the soul of the Universe is God—the Sun physically and God spiritually.

७८. **तत् चक्षुः देवहितं पुरस्तात् शुक्रं उच्चरत्। पश्येम शरदः शतम् जीवेम शरदः शतम्। शृणुयाम शरदः शतम् प्रब्रवाम शरदः शतम्। अदीनाः स्याम शरदः शतम् भूयश्च शरदः शतात्॥**
—यजु0 36/24

भावार्थ—वह देवताओं का हितकारी, सबका द्रष्टा "सूर्य"—मानों भगवान् की आंख है—हमारे सामने शुद्ध रूप में उदीयमान है। हम सौ वर्ष तक उसे देखें, सौ वर्ष तक जीयें, सौ वर्ष तक उसके गुण-गान सुनें, सौ वर्ष तक उस सुने हुए का प्रवचन करें। हम सौ वर्ष तक अदीन रहें, अपराधीन जीवन व्यतीत करें, और सौ वर्ष से अधिक समय तक उसके संरक्षण में जीवन व्यतीत करें। संख्या 102 में भी यह मंत्र दिया हैं।

He, the seer of all, benefactor of the righteous, ever present, illuminating eye of the world, has arisen in pure form, before us. With His kind grace, we may see for a hundred autumns, may we live for a hundred autumns, may we hear for a hundred autumns. may we speak for a hundred autumns, may we live without suffering and humiliation for a hundred autumns, and beyond.

यजुर्वेद का 36वाँ अध्याय

[36th Chapter of Yajurveda]

७९. **ऋचं वाचं प्र पद्ये मनो यजुः प्र पद्ये साम प्राणं प्र पद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्र पद्ये। वाक् ओजः सहौजौ मयि प्राणापानौ ॥** —यजु0 36/1

भावार्थ–हे भगवान्! मेरी वाणी वेद की ऋचाओं का प्रतिपादन करे, मेरा मन यजुर्वेद को प्राप्त हो, मेरा प्राण सामवेद में लीन हो, मेरी आंखें और काल भी ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को देखें और सुनें, मेरी वाणी का ओज प्राण और अपान की ओजस्विता के साथ मुझ में वेद-विद्या का संचार करे।

O Lord God, my speech, my mind, my breath, my eyes, my ears may—every bit of mine—be dedicated to some noble cause.

८०. **यन्मे छिद्रं चक्षुषः हृदयस्य मनसः वा अतितृण्णम् बृहस्तपतिः मे तत् दधातु। शं नः भवतु भुवनस्य यः पतिः ॥** —यजु0 36/2

भावार्थ–मेरी आंखों में, हृदय में, मन में जहां कहीं भी कोई दोष हो संसार का महान् पालक उस दोष को दूर कर दे। विश्व का पालक हमारा कल्याण करे।

In whatever part of this body—in eyes, in heart, in mind we may have defect, we pray that the Lord of this universe may amend it. Gracious to us be the protector of this world.

८१. **भूर्भुवः स्वः। तत् सवितुः वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि। धियः यः नः प्रचोदयात् ॥** —यजु0 36/3

भावार्थ–भगवान् सत्-चित्-आनन्द है। वरणीय तथा पूजनीय परमात्म-देव का हम ध्यान करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि वह हमारी बुद्धियों को सन्मार्ग की प्रेरणा दे। यह गायत्री मंत्र है। यह यजुर्वेद में अध्याय 36, 3 में तथा 3.35 में दो बार पाया जाता है। इसकी विशेष व्याख्या हमने अपने उपनिषद्-भाष्य में की है।

God is Being, Becoming, Bliss. We meditate upon the adorable and worshipful God and pray the lord to direct our intelligence on the right path. Sir William Jones has translated the Gayatri Mantra as follows :

"Let us adore the supremacy of the divine Sun who illuminates all, from whom all proceed, to whom all must return, whom we invoke to direct our under-standings aright in our progress towards His holy seat."

८२. कया नः चित्रः आ भुवत् ऊती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता॥ —यजु0 36/4

भावार्थ—वह भगवान् जिसका सखाभाव हमारे साथ सदा बढ़ता जाता है अपनी आश्चर्यजनक रक्षा किस प्रकार हमें प्रदान करेगा, और किन आश्चर्यजनक उपायों से हमारी सहायता करेगा—यह वही जानता है। यह मंत्र यजुर्वेद में 27 अध्याय में 39वां मंत्र भी है।

With our growing friendship with Him who is our friend, philosopher and guide, He alone knows in what wonderful manner He will come to our aid.

८३. कः त्वा सत्यः मदानां मंहिष्ठः मत्सदन्धसः। दृढ़ा चित् आरुजे वसु॥ —यजु0 36/5

भावार्थ—मद (आनन्द) में, परमानन्द परमेश्वर मे मंहिष्ठ (मदमत्त) वह मत्सत् (भगवान् के ध्यान में मदमत्त) होने के कारण आधसः (अन्धा हुआ)—परमेश्वर की उपासना में ही मानों दृढ़ रूप में मग्न वह तेरा सखा कब और कैसे तुझ परमात्मा के दर्शन के रोग से व्याकुल को ईश्वर-धन का दर्शन (वसु) देगा?—यह कौन जानता है? यजुर्वेद के 27 अध्याय में 40वां भी यह मंत्र है।

How He, who is drowned in enjoying the happiness of realization of Divinity and has consequently become blind in the happiness will be rewarded with the wealth of realization—He alone knows it.

८४. अभीषुणः सखीनाम् अविता जरितृणाम् शतं भवासि ऊतिभिः।

यह यजुर्वेद के 27वें अध्याय में 41वाँ मन्त्र है, परन्तु वहाँ "ऊतिभिः" की जगह "ऊतये" शब्द है। यहाँ यह यजु० 36.6 है।

भावार्थ–हमारे जो सखा हैं, मित्र हैं, हमारे सरीखे भगवान् के प्यारे हैं, भले ही वे जरा-ग्रस्त हो गये हों आप उनकी सैकड़ों स्थितियों में रक्षा करते हैं।

Oh Protector!, those who like us, our friends, who are your devotees and have become old, you extend your protection to them.

८५. कया त्वं न ऊतिभिः प्र मन्दसे वृषन्। कया स्तोतृभ्य आभर॥

—यजु0 36/7

भावार्थ–हे सुखों की वर्षा करने वाले भगवन्! किस रक्षण-कार्य से [ऊतिभिः] आप प्रसन्न होते हों, किस आपकी प्रशंसा कार्य से आप प्रसन्न होते हो–यह आपके ऊपर ही हम छोड़ते हैं [आभर]।

Showerer of Blessings, Thou art our protector and thou only knowest what pleases Thee.

८६. इन्द्रः विश्वस्य राजति। शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥

—यजु0 36/8

भावार्थ–परम ऐश्वर्य-युक्त इन्द्र ही विश्व पर शासन कर रहा है। हे संसार के शासक भगवान् संसार के दोपायों और चौपायों का कल्याण करो।

Indra—the Supreme Lord of the universe—governs the world. Let there be welfare of men and animals—the bipeds and quadrupeds.

८७. शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवतु अर्यमा। शं नः इन्द्रः बृहस्पतिः शं नः विष्णुः उरुक्रमः॥

—यजु0 36/9

भावार्थ–"मित्र" रूप भगवान् हमारे लिए कल्याणकारी हो। "वरुण"–जल के समान शीतलता देने वाले भगवान् हमारे लिए कल्याणकारी हो, परमैश्वर्य तथा ज्ञान के भंडार इन्द्र तथा बृहस्पति हमारे लिए कल्याणकारी हों, महान् पराक्रम वाले गतिशील भगवान् हमारे लिए कल्याणकारी हों। भगवान् की सब शक्तियाँ

हमारा कल्याण करें।

Gracious be *Mittra* unto us, and *Varun* and *Aryaman* and *Indra.* Let *Brihaspati* and *Vishnu,* the mighty one be kind.

८८. **शं नो वातः पवतां शं नः तपतु सूर्यः। शं नः कनिक्रदत्**
देवः पर्जन्यः अभि वर्षतु॥ —यजु0 36/10

भावार्थ—पवन, पर्वत, सूर्य हमारी रक्षा करें और गड़गड़ाता, कड़कड़ाता बादल हमारे कल्याण के लिये बरसे।

The winds, the mountains, the sun, the thundering clouds may rain to their fill for our benefits.

८९. **अहानि शं भवन्तु नः शं रात्रीः प्रतिधीयताम्। शं न**
इन्द्राग्नी भवताम् अवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या।
शं नः इन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रा-सोमा सुविताय
शं योः॥ —यजु0 36/11

भावार्थ—हमारे लिये दिन कल्याणकारी हों, हमारे लिये रात्रियां हमें धारण करने वाली हों, इन्द्र और अग्नि हमारी रक्षा करें, इन्द्र तथा पोषण का देवता संग्राम में आवश्यकता पड़ने पर हमारा पोषण करें—संसार की सभी शक्तियां हमारी रक्षा करें।

Pleasently may days pass for us, may our nights draw near delightfully; Befriend us *Indra* and *Agni; Indra* and *Varun* who taste oblations befriend us with their aids. Let all powers of nature befriend us.

९०. **शं नः देवीः अभिष्टये आपः भवन्तु पीतये। शं योः**
अभि स्त्रवन्तु नः॥ —यजु0 36/12

भावार्थ—"आपः"—आप्नोति इति आपः—जो पा लेता है—जिसके पास सभी-कुछ है, किसी बात की कमी नहीं है, वह परमात्म-देव; "देवीः"—दिव्य गुणों वाला—हमारे "अभीष्ट" के लिये, अभीष्ट को पाने के लिये कल्याणकारी हों, और हमारे लिये कल्याण की चारों तरफ़ से वर्षा करें, जैसे जल बरसता है वैसे हर दिशा से हमारे लिये जल की तरह कल्याण बरसे।

We may pray to God that we may get showers of blessings from Him from all directions just as waters pour down and clean all the dirt that has gathered. Similarly, Waters of Grace from the Lord may flow from Him and carry us to our desired end.

९१. स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छा नः शर्म सप्रथाः ॥

—यजु0 36/13

भावार्थ–हे सुखदायिनी पृथिवी-देवता! आप हमारे लिए रहने लायक–"नि–वेशनी"–और काँटों रहित–"अनृक्षरा"–क्षर-रहित–क्षीण न होने वाली रहो, और–"सप्रथा"–विस्तार अर्थात् विस्तृत होकर हमें निवास प्रदान करो। हमारे रहने योग्य बहुत विस्तृत भूमि हो। यह मंत्र यजुर्वेद के 35वें अध्याय में 21वाँ मंत्र भी है।

Pleasant be thou to us, O Earth! without a thorn, for our resting place, giving us an expanse of land to live.

९२. आपो हिष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥

—यजु0 36/14

भावार्थ–हे जल-देवता, आप शान्ति तथा सुख देने वाले–मयोभुवः–हो–और हमें "ऊर्जा" अर्थात् बल प्रदान करो ताकि हम जीवन रूपी रण–अर्थात संग्राम के लिये देखें–"चक्षसे"–अर्थात्, तैयार रहें। यह यजुर्वेद के 11वें अध्याय में 50वां मंत्र भी है।

O Ye Waters, you are beneficient; so help ye us to give us energy so that we may look on the struggle of life with great delight.

९३. यो वः शिवतमो रसः तस्य भाजयत इह नः। उशतीः इव मातरः ॥

—यजु0 36/15

भावार्थ–हे देव-देवताओ, आपका कल्याणतम जो आनन्द-रूप है, उसका कुछ हिस्सा हमें भी दो जैसे माता अपने बच्चे को प्यार का आनन्द देती है। यह मंत्र यजुर्वेद के 11वें अध्याय का 51वां मंत्र भी है।

O Divine forces of the world, the pleasant feeling that you receive in yielding pleasure to the people of the world, be kind to give a portion of it to us. Just as a mother, thinking kindly of the child yields pleasure to the child in making suck the milk, so treat us as Thy children.

९४. **तस्मा अरे गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः ॥** —यजु० 36/16

भावार्थ—हे देवी-देवताओ, जिस जगह हम निवास कर रहे हैं, अगर वहां अन्य किसी का भी आप निवास चाहते हो, जो हमारे साथ रहे तो उसको भी आप हमारे साथ रखो, हम उसके लिये आपके साथ हैं। जल जैसे भिन्न-भिन्न वस्तुओं को घोलकर एक-साथ कर देता है; उसी तरह हम भी अन्य सबके साथ प्रेम-बंधन में बंध कर भिन्न-भिन्न होते हुए भी एक होने के लिये तैयार हैं। यह मंत्र यजुर्वेद के 11वें अध्याय का 52वां मंत्र भी है।

O Divine forces of the world! If you desire that the place we inhabit, some other people should also live there and mix with us as waters from different sources come and mix with other waters and become ONE, then we are ready for this provided they mix with us and become ONE WITH US.

९५. **द्यौः शान्तिः अन्तरिक्षं शान्तिः पृथिवी शान्तिः आपः शान्तिः ओषधयः शान्तिः वनस्पतयः शान्तिः विश्वेदेवाः शान्तिः ब्रह्म शान्तिः सर्वं शान्तिः शान्तिः एव शान्तिः सा मा शान्तिः एधि ॥** —यजु० 36/17

भावार्थ—मेरे लिये द्यु-लोक शान्तिप्रद हो, अन्तरिक्ष-लोक शानितप्रद हो, पृथिवी शान्तिप्रद हो, जल शान्तिप्रद हो, औषधियां तथा वनस्पतियां शान्तिप्रद हों, ब्रह्म शान्तिप्रद हों, सब जगह शान्ति-ही-शान्ति हो।

Sky should give peace to me; Air should give peace to me; Earth should give peace to me; all divines should give peace to me; Brahma should give peace to me; Universe should give peace to me; may that peace come to me from every quarter.

९६. **दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्य अहम् चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥** —यजु० 36/18

भावार्थ–हे दृति–दृढ़ करने वाली शक्ति! मुझे इस बात में दृढ़ या पक्का बना दे कि सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें और मैं सब प्राणियों को मित्र की आंख से देखूं, हम सब एक-दूसरे को मित्र की आंख से ही देखें।

O! Power that strengthens the mind; please strengthen me so that all beings regard me with an eye of a friend and may I also regard all beings with an eye of a friend. With an eye of a friend we do regard one another.

९७. दृते दृंह मा। ज्योक्ते संदृशि जीव्यासं ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम्॥

—यजु0 36/19

भावार्थ–हे दृति–दृढ़ करने वाली शक्ति! मुझे इस बात में दृढ़ या पक्का बना दो कि मैं मानसिक दृढ़ता के लिये आपको देखने के लिये दीर्घजीवी बनूं और इस दृढ़ता के लिये सदा आपके पास बना रहूं। मनुष्य में कभी-कभी प्रेम-भावना के स्थान में द्वेष-भावना आ जाती है, उसके निवारण के लिये वेदमंत्र का उपदेश है कि प्रत्येक प्राणी के साथ मित्र-भावना में ही मैं सदा दृढ़ रहूं, इसमें कभी ढील न होने पाये।

O! Power that strengthens the mind, long may I live with the resolve to look upon every being as friend; long may I live with the resolve to look upon every being as my friend. To strengthen the idea this *Vedic* verse has been repeated.

९८. नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्ते अस्तु अर्चिषे। अन्यान् ते अस्मत् तपन्तु हेतयः पावकः अस्मभ्यम् शिवः भव॥

—यजु0 36/20

भावार्थ–हे पापियों का हरण करने वाले–"हरसे"–शुद्ध चेतनस्वरूप–"शोचिषे"–पूजनीय–"अर्चिषे"–भगवन्! तुझे नमस्कार हो, नमस्कार हो। आपके जो वज्र–"हेतयः"–हैं, वे हमसे अन्य लोगों को तपायें और हमारे लिये आपके पवित्र विचार शिव हों, कल्याणकारी हों।

O Lord, obeisance unto Thee, Thou destroyest the sinner, Thou cleanest the world, Thou art the most worshipful one. Thy wrath may destroy the sinners and may save us who follow the Divine Law.

९९. नमस्ते अस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे। नमस्ते
भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे॥ —यजु0 36/21

भावार्थ—हे भगवन्, विद्युत् में आप वर्तमान हो; आपको नमस्कार; आप विद्युत् की गड़गड़ाहट हो; आपको नमस्कार; हे भगवन् जहां चाहो वहां हो—आपको नमस्कार।

Homage to thee the lightening flash; homage to thee the thunder's roar, homage to thee from whatsoever quarter thou stirrest.

१००. यतोयतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु। शं नः कुरु
प्रजाभ्यः अभयं नः पशुभ्यः॥ —यजु0 36/22

भावार्थ—जिस-जिस स्थान से, जिस-जिस तरफ़ से हमें भय की आशंका हो, उस-उस तरफ़ से हमें निर्भय कर दो, भगवन्! हमें मनुष्यों से और पशुओं से भयहीन कर दो और हमारा कल्याण करो, हमारी प्रजा तथा पशुओं को भयहीन कर दो।

From whatsoever quarter trouble (fear) comes, give us safety thence. Give happiness to our people and security to our beasts.

१०१. सुमित्रियाः न आपः ओषधयः सन्तु दुर्भित्रियाः तस्मै
सन्तु। यः अस्मान् द्वेष्टि यं च वयम् द्विष्मः॥
—यजु0 36/23

भावार्थ—जल तथा औषधियां हमारे लिये मित्र समान हों और जो हमसे द्वेष करता है या जिसे हम द्वेष करते हैं उसके लिये शत्रु के समान हों।

Let the waters and plants be friendly with us and unfriendly with those whom we hate.

१०२. तच्चक्षुर्देवहितम् पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् पश्येम शरदः
शतं जीवेम शरदः शतं शृणुयाम शरदः शतम्। प्रब्रवाम
शरदः शतं अदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः
—यजु0 36/24
शतात्॥

भावार्थ—सूर्य को देखकर भक्त कह उठता है—देखो, देवताओं का हितकारी वह सूर्य उदय हो रहा है—हम सौ शरद् ऋतुओं तक उसे देखें, हम सौ शरद् ऋतुओं तक जीवित रहें, हम सौ शरद् ऋतुओं तक वेद-पाठ करते रहें, सौ शरद् ऋतुओं तक अदीन रहें, और जन्म-जन्मान्तर में बार-बार हमारे जीवन का यही क्रम रहे। यह मंत्र 'उपस्थान' मंत्रों में (78) संख्या पर भी दिया है।

Through a hundred autumns may we see the bright Sun; throught a hundred autumns may we live; through a hundred autumns may we hear; through a hundred autumns may we clearly speak; through a hundred autumns may we live in comfort; through a hundred autumns may we live Independent.

सामवेद ज्ञान-गंगा-लहरी

(100 मन्त्रा:; Verses)

(SURGING WAVES OF SAAM-GANGA)

इसके तीन भाग हैं
(It has 3 Divisions)

(क) पूर्वार्चिक
(First Part)

इसमें हैं (It has)
1. अध्याय (Chapter)
2. दशति
3. ऋचा

(ख) महानाम्न्यार्चिक
(Middle Part)

इसमें हैं (It has only
Ten
Verses)
(दशति)

(ग) उत्तरार्चिक
(Last Part)

इसमें हैं (It has)
1. अध्याय
2. खंड
3. त्रिचा (सूक्त)

मन्त्र-संख्या (Total No. of Verses)

(क) पूर्वार्चिक (First Part) — 59 मंत्रा:; (Verses)
(ख) महानाम्न्यार्चिक (Middle Part) — 10 मन्त्रा:; (Verses)
(ग) उत्तरार्चिक (Last Part) — 31 मन्त्रा:; (Verses)

सर्वयोग—100; (Total No. of Verses-100)

सामवेद ज्ञान-गंगा-लहरी

[पूर्वार्चिक – The First Part]

(प्रारंभिक)

सामवेद में कुल मन्त्र 1875 हैं, किन्तु इनमें से मात्र 99 मन्त्र ऐसे हैं, जिन्हें सामवेद के अपने मन्त्र स्वीकार किया जा सकता है। शेष समस्त मन्त्र या तो उसी रूप में अथवा सामान्य परिवर्तन के साथ ऋग्वेद में पाये जाते हैं। इन 99 मन्त्रों को हमने सामवेद के अपने मन्त्र मानकर इस ग्रन्थ में सम्मिलित किया है। एक मन्त्र 'पुरुष-सूक्त' से लेकर इस खण्ड की 100 की संख्या पूरी कर दी है। यह मन्त्र इस "सामवेद ज्ञान-गंगा-लहरी" का 54वाँ मन्त्र है।

सामवेद के प्रत्येक मन्त्र को इस ग्रन्थ में प्रस्तुत करने के पश्चात् उसके अन्त में उसकी क्रमांक संख्या दी गई है। क्रमांक संख्या का अभिप्राय यह है कि सामवेद के 1875 मन्त्रों में वह मन्त्र जिस क्रम में आता है, वह संख्या स्पष्ट की गई है। उदाहरणार्थ, इस ग्रन्थ के प्रथम मन्त्र 1875 वाले ग्रन्थ की क्रमांक संख्या 10 है। वह संख्या मन्त्र प्रस्तुत करने के पश्चात् उसके अन्त में निर्दिष्ट की गई है। इसका अभिप्राय यह है कि यह मन्त्र सामवेद के 1875 मन्त्रों में 10वाँ मन्त्र है यद्यपि हमारे ग्रन्थ में यह पहला मन्त्र है। इससे पूर्व के 9 मन्त्र ऋग्वेद में विद्यमान हैं, इस संग्रह में नहीं।

इस ग्रन्थ के दूसरे मन्त्र की क्रमांक-संख्या 63 है। इसका अभिप्राय यह है कि 1875 मन्त्रों में इस मन्त्र का नम्बर सामवेद-ग्रन्थ में 63वाँ है।

क्रमांक के बाद कोष्ठक में इन मन्त्रों के सम्बन्ध में अध्याय, दशति, ऋचा आदि की संख्या दी गई है। अन्य वेदों की तरह इस में भी मन्त्र के प्रारम्भ में जो संख्या दी गई है वह 100 नम्बर पूरा करने के लिए क्रमांक नम्बर की संख्या है।

सामवेद के पूर्वार्चिक में मन्त्रों का विभाजन अध्याय दशति और ऋचा अर्थात् मन्त्र के रूप में किया गया है। कोष्ठक में बताया गया है कि वह मन्त्र किस अध्याय, किस दशति में है और उसका दशति में कौन-सा नम्बर है।

सामवेद के दो मुख्य भाग हैं--'पूर्वार्चिक' और 'उत्तरार्चिक'। इन दोनों के बीच 'महानाम्न्यार्चिक' नामक एक छोटा-सा भाग है, जिसमें कुल दस मन्त्र हैं। ये दसों मन्त्र इस ग्रन्थ में सम्मिलित हैं। यहाँ मन्त्रों का विभाजन तिस्रों के रूप में किया गया है। कोष्ठक में बताया गया है कि मन्त्र के तिस्र की क्या संख्या है और उस भाग में उस मन्त्र की संख्या कौन-सी है। तीन तिस्रों के अनन्तर, जिनमें से प्रत्येक में तीन मन्त्र हैं, एक और मन्त्र है, जिसका नाम 'पंच-पुरीष--पद' है। कोष्ठक में इस मन्त्र का नाम बताने के साथ इस मन्त्र की इस भाग में कौन-सी संख्या है, यह दर्शाया गया है।

उत्तरार्चिक में मन्त्रों का विभाजन अध्याय, खण्ड, तृच और कहीं-कहीं तृच के स्थान पर सूक्त में किया गया है। कोष्ठक में यह बात स्पष्ट की गई है कि मन्त्र किस अध्याय, किस खण्ड, किस तृच या सूक्त में से है और इसका वहाँ कौन-सा नम्बर है।

पुरुष-सूक्त चारों वेदों में पाया जाता है, किन्तु सामवेद में यजुर्वेद के पुरुष-सूक्त के सिर्फ़ 5 मन्त्र हैं—यह बात हम 'यजुर्वेद-ज्ञान-गंगा-लहरी' में भी लिख आये हैं।

PRELIMINARY

The total number of *Samveda* Verses is 1875, but according to *'Vaman Samveda'* as published by Swami Gangeshwaranand 99 verses are such which belong only to *Samveda*, the rest of the verses belong to *Rigveda*. A few verses out of these 99 are also present with some variation in *Yajurveda* or *Atharvaveda*, but we have accepted these as belonging to *Samveda*. To make the number of *Samveda* 100 we have taken one verse of *Purush Sukta*, (of serial number 54) which is practically found in all the four *Vedas*. This serial number from 1 to 100 will be found in the beginning of these Verses. As each verse of *Samveda* ends, we have given a different number. This different number is the number of the verse as it stands in the *Samveda*-book of 1875 verses. For instance, the first verse which is marked as No. 1, is marked as No. 10 at the end of the first verse. This No. 10 is the order of the verse of

Samveda-book of 1875 verses. Similarly, the second verse is serially marked as No. 2, but at its end we have marked it as No. 63. This number 63 is its number is the *Samveda*-book of 1875 verses.

After this number we have put details of the *Addyayas, Dashati* and *Richa.*

Samveda is divided in Two Parts—*Purvarchika* and *Uttararchika*—first part and second part.In between, there is a small part of 10 verses. This part connects the two parts and is styled as *mahanamnyarchika.*

Purvarchika is divided into *addhyayas* (Chapters), *dashati* (a group of 10 verses) and *richa* (the Verse). *Uttararchika* is divided into *addhyayas, khanda* and *tricha.*

For our observations regarding *Samveda* vis-a-vis its relation with the other *Vedas;* please look back in our introduction.

Though *Purush-Sukta* is to be found in all the four *Vedas,* yet in *Samveda* only 5 *Mantras* of that *Sukta* are found.

प्रत्येक मन्त्र के प्रारम्भ में इस ग्रन्थ में प्रस्तुत 100 मन्त्रों में से उस मन्त्र का कौन-सा नम्बर या स्थान है, यह बात बतलाई गई है।

(क) पूर्वार्चिक (Purvarchik—First Part)

१. अग्ने विवस्वत् आभर अस्मभ्यम् ऊतये महे। देवो
ह्यसि नो दृशे ।।10।। [अध्याय 1, दशति 1, ऋचा 10]

शब्दार्थ–(अग्ने) हे! अग्नि-स्वरूप प्रभु, आप (महे) महान् अथवा पूर्ण (ऊतये) रक्षा के लिए (अस्मभ्यम्) हमें (विवस्वत्) प्रकाश से (आभर) पूर्ण कीजिए। क्योंकि आप ही (नः) हमारे (दृशे) मार्ग-प्रदर्शक और दृष्टि (देवः) प्रकाशक (असि) हैं।

मार्ग दर्शक, दृष्टि प्रकाशक।
प्रभु, सम्पूर्ण रक्षा के हित,
सब सुख अरु शान्ति रहे नित,
कर हमें प्रकाश से पूर्ण,
हे ईश, तुम जग के शासक। मार्ग-दर्शक दृष्टि-प्रकाशक।।

आप प्रकाश के निर्झर हैं,
रक्षा, सुख आप पर निर्भर है,
ईश, मात्र आप, हमारे
पथ-प्रदर्शक, अरु प्रशासक। मार्ग-दर्शक दृष्टि-प्रकाशक।।

Thou art O Lord, our guide and giver of light and insight, O Almighty! fill our hearts with light for our complete protection and guidance.

२. आ जुहोता हविषा मर्जयध्वं नि होतारं गृहपतिं दधिध्वम्। इडस्पदे नमसा रातहव्यं सपर्यता यजतं पस्त्यानाम्।।63।। [अध्याय 1, दशति 7, ऋचा 1]

शब्दार्थ–मनुष्यो! तुम (पस्त्यानाम्) घरों में (इडस्पदे) प्रार्थना स्थलों अर्थात् मन्दिरों में (गृहपतिम्) घर के रक्षक प्रभु का (निदिध्वम्) ध्यान और चिन्तन करो। (हविषा) निष्काम-कर्म से (मर्जयध्वम्) हृदय की शुद्धि करो (आजुहोता) प्रभु की उपासना करो। (होतारम्) फल प्रदाता प्रभु को (नमसा)) नमन करो (सपर्यता) सत्कारपूर्वक उस प्रभु की (यजत) पूजा करो।

कर ईश की उपासना।
निज घरों अरु मन्दिरों में,
भूमि पर, अरु कन्दरों में,
उस जगपति भगवान की
मिल कर करो प्रार्थना। करो ईश की उपासना।।
मन अरु देह की शुद्धि कर,
फल प्रदाता को नमन कर,
भक्ति और सत्कार से
उस प्रभु से कर याचना। कर ईश की उपासना।।

Let you pray Him everywhere, in your homes and temples. Purify your soul with unselfish actions and deeds and submit yourselves to the giver. Pray to Him with devotion and reverence.

**३. यदि वीरो अनु ष्यादग्निमिन्धीत मर्त्यः।
आजुह्वद्धव्यमानुषक्शर्म भक्षीत दैव्यम्।।82।।**
[अध्याय 1, दशति 9, ऋचा 2]

शब्दार्थ–(यदि) यदि (मर्त्यः) मनुष्य (अग्नि) अग्नि रूप प्रभु का (इन्धीत) ध्यान करे और (अनु) फिर (आनुषक्) निरन्तर उसके प्रति (आजुह्वत्) आत्म-समर्पण करे, तो (वीरः) वीर (स्यात्) बन जाये और (अनु) फिर (दैव्यम्) दिव्य (शर्म) आनन्द (भक्षीत) भोगे।

भोगे दिव्य मोक्षानन्द।
यदि मानुष प्रभु ध्यान धरे,
निज को ईश के अरपन करे,
हो जाये वीर, यशवाला,
प्राप्त कर ले सुख, आनन्द। भोगे दिव्य मोक्षानन्द।।
हो यदि सतत् आत्मार्पण
फिर हो पूजन, निरत भजन
मनुष्य बने तब साहसी
पा ले ईश का परमानन्द। भोगे दिव्य मोक्षानन्द।।

If a person meditates upon God and surrenders himself completely unto Him, he overcomes all weaknesses and becomes brave. Such a person enjoys eternal bliss.

४. जातः परेण धर्मणा यत्सवृद्भिः सहाभुवः। पिता यत्कश्यपस्याग्निः श्रद्धा माता मनुः कविः ॥90॥

[अध्याय 1, दशति 9, ऋचा 10]

शब्दार्थ–(यत्) हे प्रभु, आप (परेणा) श्रेष्ठ और उत्कृष्ट (धर्मणा) कर्मों के फलस्वरूप (जातः) प्रकट होते हैं। (यत्) पुनः (सवृद्भिः) अपने उपासकों के साथ (अभुवः) निवास करते हैं। (अग्निः) हे अग्नि स्वरूप प्रभु आप (कश्यपस्य) जो आपके निकट पहुंच जाते हैं उन आत्मदर्शियों के (पिता) पिता हैं। (श्रद्धा) श्रद्धा उनकी (माता) माता है और उनका (मनुः) मननशील मन (कविः) सर्वद्रष्टा और क्रान्तदर्शी होता है।

शुभ-कर्म से वे होते प्रकट।
प्रभु, उपासक जन के साथ,
करो निवास, होकर निकट,
पर मात्र श्रेष्ठ अरु उत्तम,
कर्म के फल होते प्रकट। शुभ कर्म से वे होते प्रकट।।

हो पिता आत्मदर्शी के,
जिसकी जननी श्रद्धा विकट,
मननशील मन हो जिसका
सर्वदर्शी अरु चतुर भट। शुभ कर्म से वे होते प्रकट।।

You manifest yourself only when a person does pious and good deeds. Then you stay with your devotees. You are father to those self seers who associate themselves with you, Faith is their mother and intelligent minds of such persons are gifted and enlightend,

५. इत एत उदारुहन्दिवः पृष्ठान्या रुहन्।
प्र भूर्जयो यथा पथो द्यामङ्गिरसो ययुः ।।92।।

[अध्याय 1, दशति 10, ऋचा 2]

शब्दार्थ–यथा (जैसे), (एते) ये (अङ्गिरसः) प्रकाशित जन, (इतः) भू लोक में सन्मार्ग से (उदारुहन्) ऊपर उठकर (दिवः) आकाश की (पृष्ठानि) उच्चताओं पर (आरुहन्) चढ़ जाते और (द्याम्) दिव्य प्रकाश को (ययुः) प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही तू (प्र) पूर्ण (भूः) बन और (जयः) विजय प्राप्त कर।

ऊपर उठ, कर प्राप्त विजय।
जैसे ये प्रकाश युत जन,
सन्मार्ग पर चल रहे सज्जन,
ऊपर उठ, दिव्य ज्योति पा,
पाते इस लोक में जय-जय। ऊपर उठ, कर प्राप्त विजय।।
वैसे ही, हे नर, तू कर,
निज को कर, हर रीति से पूर्ण
ऊपर उठ, सत् पथ पर बढ़,
निज पर कर तू प्राप्त विजय। ऊपर उठ, कर प्राप्त विजय।।

As enlightened persons by walking on virtuous path raise themselves high in this world and attain divine light, similarly, you attain accomplishment and obtain victory.

६. राये अग्ने महे त्वा दानाय समिधीमहि।
ईडिष्वा हि महे वृषं द्यावा होत्राय पृथिवी ।।93।।

[अध्याय 1, दशति 10, ऋचा 3]

शब्दार्थ–(अग्ने) हे अग्नि रूप प्रभु, (महे, राये) अत्यधिक धन-धान्य और समृद्धि हेतु (त्वा) मुझे (दानाय) दान की प्रेरणा प्राप्ति के लिये (समिधीमहि) हम हृदय में प्रदीप्त करते हैं। (वृषन्) सामयिक वृष्टि हेतु (महे, होत्राय) महान् यज्ञ और कर्म अपनाकर (द्यावा, पृथिवी) आकाश और भूमि में सर्वत्र तुझे (ईडिष्व) पूजते हैं ताकि आप हमपर धन-धान्य की वृष्टि करें।

हे प्रभु हम तुझे पूजते।
अधिक धन-धान्यादि के हित,
समृद्धि अरु ज्ञान-प्राप्ति के हित,
तेरी स्तुति करते हम नित,
कर हृदय दीपित पूजते। हे प्रभु हम तुझे पूजते।।
सामयिक, सम्यक् वृष्टि हित,
जगत् में हो सुख सृष्टि नित,
महान् यज्ञ, कर्म रचा कर
भू, नभ में तुझे पूजते। हे प्रभु हम तुझे पूजते।।

Enlightening our hearts we praise Thee O God, for riches and great prosperity which may flood as like rains. By our good deeds, acts and oblations, we worship Thee for timely and sufficient rain, of prosperity,

७. सोमः पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम्।
देवत्रा रथ्योर्हिता ।।54 ।।

शब्दार्थ–(देवत्रा) सब देवताओं में (पूषा) पोषणकर्ता, (सोमः) सौम्य स्वरूप परमात्मा ही (हिता) हितकारी है। वह (विश्वासाम्) समस्त (सुक्षितीनाम्) पृथ्वी आदि लोकों के (रथ्योः) सम और विषम मार्गों में (चेततु) हमें चेताता और मार्ग दर्शन करता रहे।

वही ईश है हितकारी।
परम ईश शान्ति के दाता,
पोषण कर्ता और है त्राता,
समस्त देवगणों में है,
वह सर्वाधिक उपकारी। वही ईश है हितकारी।।

जगत् के सम, अरु विषम पथ,
सर्वत्र व्याप्त, अनेक, अकथ,
नित्य सावधान करे प्रभु,
विषम पथों में सुखकारी। वही ईश है हितकारी॥

In all divine beings, only nourishing and gentle God is beneficial, He guards and guides us in all odd and even paths in this world,

८. ये ते पन्था अधो दिवो येभिर्व्यश्वमैरयः।
उत श्रोषन्तु नो भुवः ॥72॥ (अथर्व० 7-55-1)

शब्दार्थ–हे प्रभु (ये) जो (ते) तुम्हारे निर्दिष्ट (पन्थाः) मार्ग हैं, (उत) और (येभिः) जिनसे (अश्वम्) वायु को (वि, ऐरयः) प्रेरित करते हो, उनसे (दिवः) द्युलोक के (अधः) निम्न भाग में (नः) हमारी (भुवः) भूमि में अर्थात् भूमिस्थ लोग (श्रोषन्तु) सुनते हैं।

ईश हो तब निर्दिष्ट आलाप।
वायु प्रेरित विशिष्ट मार्ग,
द्यु-लोक से उतरते ऐसे,
वायु से प्रेरित हों जैसे,
सुगम हो जिससे वार्तालाप। ईश हो तब निर्दिष्ट आलाप॥
द्युलोक का जो निम्न भाग,
भूमि-जो पूर्ण रंग-राग,
प्रवाहित कर वायु जन हित,
करो सुगम वार्तालाप। ईश हो तब निर्दिष्ट आलाप॥

Oh God! you are the procurer of all speech: The way you guide the air to flow in this universe; enables us to hear and converse with each other upon this earth,

९. दोषो आगाद् बृहद् गाय द्युमद् गामन्नाथर्वण।
स्तुहि देवं सवितारम् ॥77॥
[अध्याय 2, दशति 7, ऋचा 3]

शब्दार्थ–(सवितारम्) सर्वोत्पादक प्रभु की हे मनुष्य तू [स्तुहि] स्तुति कर। जब [दोषो] दोष और पाप (उ, आगात्) घिर कर आ जावें, तब (घुमद् गामम्) प्रकाशमान और ज्ञानी

(आथर्वण) शिक्षक की (वृहद् गाय) महान् रूप में स्तुति कर और स्तुति के गीत गा।

संकट समय ईश की स्तुति कर।
जब अन्धकार घिर आये,
जब हृदय में पाप छा जाये,
सर्वोत्पादक, प्रकाश युत,
प्रभु की, हे नर, तू स्तुति कर। संकट समय ईश की स्तुति कर।।
जब अभावों से ग्रस्त हो,
दोष दूषण से त्रस्त हो,
तब अत्यधिक स्तुति गान से,
शिक्षक, रक्षक प्रभु की स्तुति कर। संकट में ईश की स्तुति कर।।

When surrounded by darkness and evil. praise the Creator, sing His praises in a big way, Who is all light and knowledge and is a True Teacher.

१०. क इमं नाहुषीष्वा इन्द्रं सोमस्य तर्पयात्।
स नो वसून्या भरत्।।90।।

[अध्याय 2, दशति 8, ऋचा 6]

शब्दार्थ–(कः) हे प्रभु (नाहुषीम्) मानुषी प्रजाओं के निमित्त (इमम्) इस (इन्द्रम्) वर्षा करने वाले मेघ को (सोमस्य) मधुर उत्पादक रस से (तर्पयात्) पूर्ण कर दे। (सः) वह मेघ (नः) हमें (वसूनि) धन-धान्यादि से (आभरत्) पूर्ण कर दे।

प्रभु, मधुर रस से करे तृप्त।
मनुष्यों के हित के तिमित्त,
हे परमेश प्रसन्न चित्त,
इस वर्षा युक्त मेघ को
उत्तम रसों से कर दे लिप्त। प्रभु मधुर रस से करो तृप्त।।
ये मेघ हमारे बहुत हित,
पालन-पोषण क्रिया निमित,
चहुँदिशि फैली धरती को
धन-धान्यों से करें तृप्त। प्रभु मधुर रस से करो तृप्त।।

Oh God! for the sake of these menfolk fill these clouds with sweet and productive waters, so that these rain waters cover this land with plentiful grains,

११. सदा व इन्द्रश्चर्कृषदा उपो नु स सपर्यन्।
न देवो वृतः शूर इन्द्रः ॥196॥

[अध्याय 2, दशति 9, ऋचा 3]

शब्दार्थ–(इन्द्र) परमात्मा (सदा) सर्वदा (वः) आप लोगों को (आचर्कृषत्) आकर्षित करना, आप पर कृपा करना चाहता है। किन्तु जो व्यक्ति (इन्द्र) परमात्मा को (शूरः) निर्भय और (देवः) प्रकाशक (वृतः) भक्तिपूर्वक स्वीकार कर उसकी (सपर्यन्) पूजा करते हैं, (सः) वे ही पूजक (उपो नु) निश्चय उसके निकट पहुंच जाते हैं।

ईश्वर करता है आकर्षित।
ऐश्वर्य-युक्त परम भगवान्,
जो करते उसका अर्चन,
वे जन करते उसका दर्शन,
उन्हें वह करता आकर्षित। ईश्वर करता है आकर्षित।।
परन्तु निर्भय, वह व्यापक,
ऐश्वर्य युक्त, जग का शासक,
करता ऐसा उसी दशा में
जब भक्ति सहित हो वह पूजित। ईश्वर करता है आकर्षित।।

God always attracts you towards Him and bestows His kindness upon you, but only those persons come near Him who worship this fearless and shining God with devotion.

१२. अरं त इन्द्र श्रवसे गमेम शूर त्वावतः। अरं शक्र परेमणि ॥209॥ [अध्याय 2, दशति 10, ऋचा 6]

शब्दार्थ–हे (शक्र) सर्व शक्तिमान, (शूर) परम सामर्थ्ययुक्त (इन्द्र) प्रभु, (त्वावतः) तेरी कामना वाले हम उपासक (श्रवसे) आपके यश को (अरं, गमेम) प्राप्त करें तथा (परेमणि) निर्वाण और मुक्ति को प्राप्त करें।

उपासक करें प्राप्त सुयश।
हे सर्वशक्तिमान ईश,
बहु सामर्थ्य युत जगदीश,
तेरे उपासक गण करें
प्राप्त, उज्ज्वल कीर्ति अरु यश। उपासक करें प्राप्त सुयश।।

हे ऐश्वर्य युक्त भगवन,
ईश, सच्चे उपासक जन,
प्राप्त करें, निर्वाण, मुक्ति
आनन्द-प्रद, नित सहित यश। उपासक करें प्राप्त सुयश।।

Oh Almighty, fearless and brave God, may your devotees and worshippers attain fame in this world. May these people obtain release from existence and get fully liberated.

१३. इमे ते इन्द्र सोमाः सुतासो ये च सोत्वाः।
तेषां मत्स्व प्रभूवसो ।।212 ।।

[अध्याय 2, दशति 10, ऋचा 9]

शब्दार्थ–(इन्द्र) परमेश्वर! (ये) जो (ते) आपके (सोमाः) शान्त और (सुतासः) शान्त-हृदय के जन हैं, अथवा जो (सोत्वाः) भविष्य में शान्त-हृदय हो जाएँगे, (तेषां) उन सबको (प्रभूवसो) हे बहुधन-प्रभु आप (मत्स्व) आनन्द प्रदान कीजिए।

पवित्र-हृदय को आनन्द दे।
हे मंगलमय परमेश्वर,
अद्‌भुत दाता, हे नटवर,
मन जो तव हित किये शुद्ध
हृदय, उन्हें आनन्द दे। पवित्र-हृद को आनन्द दे।
सत्य प्रेम से जो प्रबुद्ध,
भविष्य में हों हृदय शुद्ध,
सुखदाता, दयालु, बहुधन
ईश, उन्हें आनन्द दे। पवित्र-हृद को आनन्द दे।।

May God give bliss and joy to those persons whose heart is tranquil and pure and also to those who attain tranquility and purity in future.

१४. कदु प्रचेतसे महे वचो देवाय शस्यते।
तदिध्यस्य वर्द्धनम् ।।224 ।।

[अध्याय 2, दशति 12, ऋचा 2]

शब्दार्थ–(महे) महान्, (प्रचेतसे) ज्ञानी, (देवाय) प्रभु के लिए (कत उ) क्यों (वचः) स्तुतिवचन (शस्यते) कहे जाते हैं? (हि) क्योंकि (अस्य) उसके प्रति (तत्) ये वचन हमारे प्रकाश

और स्पष्टता में (वर्द्धनम्) अभिवृद्धि करते हैं।

भगवान् का गुणगान क्यों?
महान् ज्ञानी ईश्वर का,
ऐश्वर्य युत अनश्वर का,
स्तुति-वाणियों से गुणगान
भला किया जाता है क्यों? भगवान् का गुणगान क्यों?
क्योंकि प्रभु का यह स्तुति-गान,
इस प्रकार ईश का सम्मान,
हमारे हित की दृष्टि से
है प्रकाशक, लाभ कर। है भगवान् का गुणगान यों।।

Why we sing praises for the great and all knowing God? Because these praises enlighten us and make us pure and clear.

१५. इन्द्र उक्थेभिर्मन्दिष्ठो वाजानां च वाजपतिः ।
हरिवान्त्सुतानां सखा ॥226 ॥

[अध्याय 12, दशति 12, ऋचा 4]

शब्दार्थ–(इन्द्रः) परमात्मा (उक्थेभिः) स्तुति वचनों से (सुतानां) पुत्र-तुल्य हम जनों का (सखा) मित्र हो जाए। वह प्रभु जो (मन्दिष्ठः) अत्यधिक प्रसन्नता प्रदायक, (वाजानाम्) बलों का (वाजपतिः) बल-पति है, (च) और (हरिवान्) पापों का हरण कर्ता और नाशक है।

स्तुति वचनों से हो प्रभु सखा।
शक्तिमान, ऐश्वर्य युक्त,
हर्षदायक, बल संयुक्त,
पुत्र सम हम प्रजाजनों का,
जगदीश हो सदैव सखा। स्तुति वचनों से प्रभु हो सखा।।
समस्त प्रजाओं का रक्षक,
पापों और दोषों का भस्मक,
स्तुति वाणी से आकर्षित,
हो सब जन का सदा सखा। स्तुति वचनों से प्रभु हो सखा।।

May God, the most delightful, almighty and destroyer of all evils be our friend by our sincere praises, as we are like His sons.

१६. एन्द्र पृक्षु कासु चिन्नृम्णं तनूषु धेहि नः ।
सत्राजिदुग्र पौस्यम् ।।231 ।।

[अध्याय 2, दशति 12, ऋचा 9]

शब्दार्थ–(पृक्षु) युद्धों में विजयी (इन्द्र) प्रभु (नः) हमारे (तनूषु) शरीरों में (कासुचित्) किन्हीं (पौंस्यम्) पुरुषार्थ युक्त (नृम्णम्) बलों को (आ धेहि) स्थापित कर दे। क्योंकि हे (उग्र) शक्तिशाली, आप (सत्राजित्) सदा विजयी हैं।

हे प्रभु हम में बल भर दो।
ईश तुम हो उच्च बल युत,
निज बल से सदा विजय युत,
विजयी बनाओ हमें भी,
ऐसा बली हमें कर दो। हे प्रभु हम में बल भर दो।।
गणना हो अब वीरों में,
इन हमारे शरीरों में
पुरुषार्थ युक्त ऐसा बल
जगदीश कृपा कर भर दो। हे प्रभु हम में बल भर दो।।

Oh Almighty, who always remains victorious, fill our bodies with such strength and vigour which is nourishing, and enable us to discharge our duties.

१७. यदा कदा च मीढुषे स्तोता जरेत मर्त्यः । आदिद्वन्देत वरुणं विपा गिरा धर्त्तारं विव्रतानाम् ।।288 ।।

[अध्याय 3, दशति 6, ऋचा 6]

शब्दार्थ–(स्तोता) स्तुति करने वाला (मर्त्यः) मनुष्य (मीढुषे) उदार दाता, धर्म, अर्थ, काम मोक्ष प्रदाता, प्रभु की (यदा कदा च) जब कभी (जरेत) स्तुति करे, (आत् हत्) तब इसके साथ ही (विव्रतानाम्) विविध नियमों और कर्मों के (धर्त्तारम्) धर्त्ता (वरुणम्) वरण करने योग्य परमात्मा की (विपा) अन्तर प्रेरणा से संयुक्त (गिरा) वाणी से (वन्देत) वन्दना भी करे।

हृद्! कर वन्दना ईश की।
मनुज जब करे वन्दना,
सर्वदाता जगदीश की,
धर्म, अर्थ, अरु काम मोक्ष।
के दाता, उस प्रिय ईश की। हृद्! कर वन्दना ईश की।।

सब विधि नियमों के धर्ता,
वरणीय उस जगदीश की,
वाणी सहित हृदय से भी
नर कर वन्दना ईश की। हृद् कर वन्दना ईश की।।

While singing praises of the most beautiful, all controlling and loving God, pay also homage and devotion to Him through your inner heart along with those praises with mind and heart full for this adoration.

१८. इम इन्द्र मदाय ते सोमाश्चिकित्र उक्थिनः। मधोः
पपान उप नो गिरः शृणु रास्व स्तोत्राय गिर्वणः ।।294।।

[अध्याय 3, दशति 7, ऋचा 2]

शब्दार्थ–(इन्द्र) हे प्रभु, (इम) ये (उक्थिनः) स्तुति कर्त्ता, (सोमाः) शान्त मूर्ति भक्त (ते) तेरे (मदाय) आनन्द के फलस्वरूप (चिकित्रे) प्रकाशित हैं, चमक रहे हैं प्रदीप्त हैं। (गिर्वणः) हे वाणी से स्तवनीय प्रभु (नः) हमारे (गिरः) स्तुति वचनों को (उप शृणु) सुनिए। (स्तोत्राय) स्तुति कर्त्ताओं की (पपान) रक्षा कीजिए। इन्हें (मधोः) अमृत (रास्व); प्रदान कीजिए।

स्तुति से भक्त-जन हैं प्रदीप्त।
वाणी से भजनीय ईश,
ऐश्वर्य युत हे जगदीश,
तेरे आनन्द से हैं प्रदीप्त,
ये भक्त गण हैं प्रदीप्त। स्तुति से भक्त-जन हैं प्रदीप्त।।
सुन भक्तों का आराधन,
दे हमें प्रभु अमरता का धन,
प्रदान कर हमें सदा ही
निज सुरक्षा, हे जगत्पते। स्तुति से भक्त जन हैं प्रदीप्त।।

Faces of devotees are glowing with the joy which Thou hast given to them. Hark our prayers, Oh God, render your protection to worshippers and bestow upon them immortality.

१९. यदिन्द्र शासो अव्रतं च्यावया सदसस्परि।
अस्माकमंशुं मघवन्पुरुस्पृहं वसव्ये अधिबर्हय ।।298।।

[अध्याय 3, दशति 7, ऋचा 6]

शब्दार्थ–(इन्द्र) हे प्रभु! आप (अव्रतं) शुभ कर्मविरोधी को (शासः) शासित करते हैं। अतः (अस्माकम्) हमारे (सदसः) घरों और हृदयरूपी सदन से (परि) चारों ओर से (च्यावय) विरोधियों को दूर कीजिए। (मघवन्) हे ऐश्वर्य युक्त, (पुरुस्पृहम्) अत्यधिक वांछित (अंशुम्) अपनी कृपा किरण को (वसव्ये) हमारे घरों और हृदयों में (आ अधि) अधिकाधिक रूप में (बर्हय) प्रसारित कीजिए।

ईश कृपा करो भरपूर।
करते हो शासित जग को,
शुभ-कर्म-विरोधी का कर नाश,
गृहों व हृदयों का, चहुंदिशि से
करो समग्र शत्रु से दूर। ईश कृपा करो भरपूर।।
हे ऐश्वर्य युक्त भगवन्,
पूर्ण कृपा-निधि परमात्मन्,
बहु वांछित, तव कृपा किरण,
पड़े सब जन पर भरपूर। ईश कृपा करो भरपूर।।

Oh God. you chastise and control all irregularities and lawlessness. Therefore, remove all enemies, obstructers and evils from our homes and hearts. Loveable and bountiful, Lord, bestow your graces in abundance upon our homes and hearts.

२०. त्वष्टा नो दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः ।
पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रामणं वचः ॥299॥

[अध्याय 3, दशति 7, ऋचा 7]

शब्दार्थ–(त्वष्टा) हे सर्जक! (दैव्यं वचः) ईश्वरीय ज्ञान, (पर्जन्यः) मेघ, (ब्रह्मणस्पतिः) ज्ञान के स्वामी विद्वान्, (अदितिः) सूर्य इत्यादि सब (नः) हमारे (पुत्रैः) पुत्रों और (भ्रातृभिः) भाइयों सहित (नु) शीघ्र (नः) हमारी (पातु) रक्षा करें। (नः) हमारी रक्षा सम्बन्धी (वचः) ये स्तुतियां (दुष्टरम्) अवरुद्ध न हों। हे भगवान् प्रार्थना स्वीकार हो।

दैवी शक्तियां रक्षा करें।
ईश, सर्जक समस्त लोक के,
तव ज्ञान, रवि, मेघ, द्युलोक,
ये सब पुत्रों भ्राता सहित,

हमारी उचित रक्षा करें। दैवी शक्तियां रक्षा करें।।
साथ ही, हे परम दयालु,
हे पालक भगवन्, कृपालु,
अवरुद्ध न हो यह पुकार,
किसी विधि, ईश रक्षा करें। दैवी शक्तियां रक्षा करें।।

Creator of the universe! clouds, sun, moon, supreme knowledge, wise men etc. all such adorned by divine qualities, may protect us soon, along with our sons and brothers. These prayers of ours may prove invincible.

२१. कुष्ठः को वामश्विना तपानो देवा मर्त्यः। घ्नता वामश्मया क्षयमाणोऽशुंनेत्थमु आद्वन्यथा ।।305।।

[अध्याय 3, दशति 8, ऋचा 3]

शब्दार्थ–(अश्विनौ) हे सूर्य और चन्द्र (देवौ) प्रकाशको! (कुष्ठः) पृथ्वी पर स्थित (कः) कौन (मर्त्यः) मनुष्य (वाम्) तुम्हें (तपानः) प्रकाशित करने वाला है? कोई नहीं। पभु ही तुम्हारा प्रकाशक है। वही प्रभु (वाम्) तुम दोनों के हित (अश्मया) मेघों में घिर जाने पर (अंशुना) निज किरणों से (इत्थं उ) यहाँ ही, झट (घ्नता) उन्हें नष्ट करता है और (क्षयमाणः) उनसे जल बरसाता है। (यथा) जैसे (आद्वन्) कोई दाता सुख देता है।

प्रभु से हैं रवि-चन्द्र प्रकाशित।
देव-गण रवि अरु चन्द्रमा,
फैली जग में जिनकी सुषमा,
भूमि-स्थित कौन है मानव,
जो तुम्हें करे प्रकाशित? प्रभु से हैं रवि-चन्द्र प्रकाशित।।
मेघ-दल को झट कर क्षीण, विनष्ट,
उभय हितकर वर्षा सृष्ट,
जल दाता, सुख बरसाता,
सब सुख दे ईश प्रकाशित। प्रभु से हैं रवि-चन्द्र प्रकाशित।।

Oh Sun and Moon, giver of light; is there a person upon this earth who illumines and bestows light to you both? There is none; Only God is your illuminator. He alone, like a donor, for the benefit of both the sun and the moon, gives light and strikes clouds with His rays and showers water and bliss.

२२. ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च
विवः ।।321।। [अध्याय 3, दशति 9, ऋचा 9]

शब्दार्थ–(वेनः) प्रभु ने (पुरस्तात्) सृष्टि के आरम्भ में (प्रथमम्) सर्वप्रथम (ज ज्ञानम्) ज्ञान को उत्पन्न किया (ब्रह्म) ब्रह्माण्ड को (विआवः) विस्तीर्ण किया। (सः) उसी मेधावी ने (बुध्न्या) बुद्धिपूर्वक (अस्य) इस ब्रह्माण्ड की (उपमा) सुनिश्चित (सीमतः) सीमा (विष्ठाः) स्थिर की (सुरुचः) उज्ज्वल प्रकाश प्रदान किया। साथ ही (सतः) विद्यमान (च) और (असतः) अविद्यमान (योनिम्) योनियों को (विवः) परिणत किया।

प्रभु की यह रचना महान्।
प्रभु ने प्रारम्भ में प्रथम,
रचा ब्रह्माण्ड यह महान्,
उसकी कर सीमा निश्चित,
उत्पन्न की ज्योति महान्। प्रभु की यह रचना महान्।।
तब रचा वह सब जो आज,
विद्यमान व अविद्यमान,
मनुष्य और पशु योनियां,
रचीं विविध, जो दृश्यमान। प्रभु की यह रचना महान्।।

In the beginning God at first created the universe. After setting its limits God created the brilliant light. Then He created all those things which are present at this time and which are not in existence today. He created men, women and various other species.

२३. मेंडिं न त्वा वज्रिणं भृष्टिमन्तं पुरुधस्मानं वृषभं
स्थिरप्स्नुम्। करोष्यर्यस्तरुषीर्दुवस्युरिन्द्र द्युक्षं वृत्रहणं
गृणीषे ।।327।। [अध्याय 3, दशति 10, ऋचा 5]

शब्दार्थ–(इन्द्र) हे प्रभु! आप (अर्यः) शत्रुओं को (तरुषी) जीत (करोषि) लेते हैं। अतः (बज्रिणं) वज्रधारी, (भृष्टिमन्तम्) वल्लमधारी, (पुरुधस्मानं) अतिशयदाता, (स्थिर प्स्नुम्) स्थिर

स्वरूप, (द्युक्षम्) प्रकाशमान, (वृषभम्) कामनापूरक (वृत्रहणम्) शत्रु और पाप नाशक (त्वा) आपकी हम (दुवस्युः) स्तोता (मेडि) उच्च स्वर से (गृणीषे) स्तुति करते हें।

उच्च स्वर से करें तेरा स्तवन।
स्थिर रूप से प्रकाशित भगवन्,
अतिशय दाता परमात्मन्,
हे शत्रु हन्ता, करें तेरा भजन,
हम, करें नित्य तेरा स्तवन। उच्च स्वर से करें तेरा स्तवन।।
तू जयी, कामनापूरक,
शस्त्रास्त्र - युक्त, वैरी - संहारक,
जो करता पाप, करे उसका विनाश,
हम करें नित्य तेरा स्तवन। उच्च स्वर से करें तेरा स्तवन।।

Oh omnipotent, with powerful and brilliant appearance, handsome and mighty God; you conquer all evils and enemies. Oh possessor of mighty weapons, you bestow in abundance and fulfil our desires. Therfore. we worshippers sing your praises with loud voice.

२४. यो नो वनुष्यन्नभिदाति मर्त्त उगणा वा मन्यमानस्तुरो वा। क्षिधी युधा शवसा वा तमिन्द्राभी ष्याम वृषमणस्त्वोताः ।।336 ।।

[अध्याय 3, दशति 11, ऋचा 5]

शब्दार्थ–(इन्द्र) हे प्रभु! (यः) जो कोई (मन्यमानः) घमण्डी (वा) अथवा (तुरः) हिंसक (मर्त) मनुष्य (नः) हमें (वा) अथवा (उगणा) श्रेष्ठ जन को (वनुष्यन्) मारने के हेतु (अभिदाति) जड़ काटने सामने आता है, (तम्) उसे (क्षिधि) नष्ट कीजिए। (त्वेताः) आप से रक्षित (वृषमणः) हम बल युक्त उसे (शवसा) शक्ति से (वा) अथवा (युधा) युद्ध में (अभिष्याम) पराजित कर दें।

दम्भी, हिंसक, को करो नष्ट।
अभिमानी या हिंसक जन,
आएँ सम्मुख हेतु हनन,
उत्तम जन के या मेरे-तेरे,

उन्हें करो तुम प्रभु नष्ट। दम्भी, हिंसक को करो कष्ट।।
प्रभु से रक्षित, बन बलवान,
सामर्थ्य युक्त, शक्तिमान,
हम निज बल से, या रण-कौशल से,
करें उन्हें परास्त, या करें नष्ट। दम्भी, हिंसक को करो नष्ट।।

If a vain or violent man comes to kill us or a superior person, then, O God kill this man,—protected and strengthened by You—we defeat such persons with our might or in battlefield.

२५. यं वृत्रेषु क्षितयः स्पर्द्धमाना यं युक्तेषु तुरयन्तो हवन्ते। यं शूरसातौ यमपामुपज्मन् यं विप्रासो वाजयन्ते स इन्द्रः ।।337।। [अध्याय 3, दशति 11, ऋचा 6]

शब्दार्थ–(यम्) जिसे (वृत्रेषु) शत्रुओं अथवा अन्धकार के आ जाने पर (स्पर्द्धमानाः) सघर्षरत (क्षितयः) दुर्बल पड़ रहे व्यक्ति (हवन्ते) पुकारते हैं (सः) वह (इन्द्रः) प्रभु है। (यम) जिसे (युक्तेषु) युद्ध में संलग्न (तुरयन्तः) परस्पर प्रहार करते हुए वीर (हवन्ते) पुकारते हैं, वह भी प्रभु ही है। (यम्) जिसे (शूरसातौ) संग्राम में पुकारा जाता है, वह भी प्रभु ही है। (यम्) जिसे (अपाम्) वृष्टि के जल के (उपज्मन्) हेतु पुकारते हैं, वह भी प्रभु ही है। (विप्रासः) ज्ञानी-गण (यम्) जिसकी (वाजयन्ते) उपासना करते हैं, वह भी प्रभु ही है।

करें सदा स्मरण जिसे हम, वह है ईश्वर।
भीड़ पड़े पर याद करें,
जिसकी दीन-जन, पुकार करें,
जिसे सम्मुख पाकर करते,
हिम्मत और पुकार, वह है ईश्वर। करें सदा स्मरण जिसे हम, वह है ईश्वर।।
युद्ध-घोष में, वृष्टि हेतु वा,
जिसे बुलावें, वह है ईश्वर,
ज्ञानी-गण करें नित्य स्तुति,
जिसकी, वह है ईश्वर। करें सदा स्मरण जिसे हम, वह है ईश्वर।।

With the advent of darkness and enemies, competing and fighting persons, Whomsoever they call for help, He is God, whom, people striking each other and engaged in fight summon, He is also God. He is also God whom people invoke for rain and wise men worship.

२६. आ नो वयोवयः शयं महान्तं गह्वरेष्ठां महान्तं पूर्विनेष्ठाम्।
उग्रं वचो अपावधीः ॥353॥

[अध्याय 4, दशति 1, ऋचा 2]

शब्दार्थ–हे प्रभु! (महान्तं) बड़ी, महान् (गह्वरेष्ठाम्) हृदय गुफ़ा में स्थित (शयं) सुप्त (नः) हमारी (वयः) सनातन आत्मा अथवा जीवन को (वयः) शक्ति और जागृति (आ) प्रदान करें। (पूर्वि णेष्ठाम्) पुराने संस्कारों में स्थित (महान्तं) महती बुद्धि को जागृत करें। (उग्रम्) कठोर और बुरे (वचः) वचनों से (अपावधीः) हमें दूर कीजिए।

आत्मा को प्रभु करो जागृत।
हे प्रभु हृद्-गह्वर में स्थित,
सुप्त-रूप में वहाँ प्रतिष्ठित,
सनातन, दीन आत्मा को,
दरसा कृपा, करो जागृत। आत्मा को प्रभु करो जागृत॥
पूर्व संस्कारों में स्थित,
बुद्धि जगाकर, उसे प्रतिष्ठित,
अति कठोर वचनों से कर दूर,
भर वाणी में अमृत। आत्मा को प्रभु करो जागृत॥

Give strength, Oh God, and awake this ancient and eternal soul which is lying asleep in a deep cave of my heart. Awake my intellect, which is bound by old rituals. Remove all violent, angry and passionate traces from my soul with sweet and melodious words of Thine so that my soul may awake.

२७. यदी वहन्त्याशवो भ्राजमाना रथेष्वा। पिबन्तो मदिरं
मधु तत्र श्रवांसि कृण्वते ॥356॥

[अध्याय 4, दशति 1, ऋचा 5]

शब्दार्थ–(यदि) जब (रथेषु) प्रेम और हर्ष से (भ्राजमानाः) सुशोभित जन (आशवः) तीव्र गति से (वहन्ति) प्रभु की ओर

अग्रसर होते हैं, (वा) तब (मदिरं) आनन्द प्रद (मधु) अमृत को (पिबन्तः) पी कर वे (तत्र) उसी समय (श्रवांसि) यश और ऐश्वर्य (कृण्वते) प्राप्त कर लेते हैं।

करते यश, और ऐश्वर्य प्राप्त।
ईश्वर-प्रेम में जो हैं व्याप्त,
हर्ष व प्रेम से शोभायमान,
जो हैं जन, वे हैं भाग्यवान,
आनन्द-दायक मधु प्राप्त। करते यश और ऐश्वर्य प्राप्त।।
पीकर ऐसे व्यक्ति अमृत,
होते सम्मुख प्रभु के, जो है सत और ऋत,
अर्जित करते महान यश,
समस्त ऐश्वर्य आनन्द प्राप्त। करते यश, और ऐश्वर्य प्राप्त।।

When people shining with joy and love move quickly towards their creator, they then prosper and attain glory by drinking exhilarating nectar of love.

२८. कश्यपस्य स्वर्विदो यावाहुः सयुजाविति।
ययोर्विश्वमपि व्रतं यज्ञं धीरा निचाय्य ।।361।।

[अध्याय 4, दशति 2, ऋचा 2]

शब्दार्थ–(स्वर्विदः) प्रकाशक प्रभु को जानने वाले (धीराः) ज्ञानवान् योगीजन (निचाय्य) निश्चित रूप में (इति आहुः) यह कहते हैं, कि (कश्यपस्य) प्रभु के साथ (सयुजौ) संयुक्त (यौ) जो दो कर्म अर्थात् उसका ध्यान और उसके प्रति आकर्षण (ययोः) इन दोनों कर्मों में (विश्वम्) समस्त समाज (अपि) आश्रित हैं, वे हैं (व्रतम) व्रतपालन और (यज्ञम्) यज्ञभावना; इन्हें सम्पन्न करो और प्रभु को जानो।

परमात्मा को तुम जानो।
ईश्वर-ज्ञाता योगी-जन,
योग-यज्ञ-प्रवीण धीर-जन
निश्चित रूप यह बतलाते
प्रभु-स्वरूप तुम पहचानो। परमात्मा को तुम जानो।।

धारणा और आकर्षण,
प्रभु युत करने के कारण,
जिन दो में सब कर्म निहित,
उन्हें जानो, और पहचानो। परमात्मा को तुम जानो।।

Those saints and ascetics who know this iluminating God, tell us with surety that there are two closely united deeds,-concentration and drawing oneself near to Him, by which one can associate with God. These two deeds combine all religious rites. Adopt these two and know Him.

२९. ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कृण्वते।
वि ते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु वक्षतः ।।369 ।।

[अध्याय 4, दशति 2, ऋचा 10]

शब्दार्थ–(ऋचम्) ऋग् और (साम) साम से (यजामहे) हम संगत होते हैं, (याभ्याम्) जिनसे प्रभावित हम (कर्माणि) शुभ कर्म (कृण्वते) करते हैं। (ते) ये ऋग्=स्तुतिवचन और साम=शान्तवचन (सदसि) सभाओं को (विराजतः) सुशोभित करते हैं। दिव्य-गुण-युक्त व्यक्तियों में (यज्ञ) पूजा और अर्चना की भावना की (वक्षतः) अभिवृद्धि करते हैं।

ऋग्, साम हैं प्रशंसनीय।
ये ऋग् वेद व साम गान,
निश्चयपूर्वक हैं महान,
शुभ कर्म प्रति प्रेरित करें,
हमें, हैं ये अनुकरणीय। ऋग्, साम हैं प्रशंसनीय।।
ये करें सभाएँ शोभित,
और करें सब जनों को मोहित,
दिव्य, गुणी की पूजा में,
करें वृद्धि, बनें पूजनीय। ऋग्, साम हैं प्रशंसनीय।।

These praises and songs of *Rig* and *Sam Veda* are adorable. Inspired by these we accomplish good deeds. These praises and songs adore assemblies. These augment and strengthen wise and divine persons during their worship.

३०. समेत विश्वा ओजसा पतिं दिवो य एक इद् भूरतिथिर्जनानाम्। स पूर्व्यो नूतनमाजिगीषन्तं वर्तनीरनु वावृत एक इत् ।।372 ।। [अध्याय 4, दशति 3, ऋचा 3]

शब्दार्थ–(विश्वाः) हे समस्त प्रजाजन, तुम (ओजसा) पूर्ण शक्ति से (दिवः पतिम्) प्रकाश के स्वामी प्रभु की (समेत) शरण जाओ। (यः) जो (एक इत्) एकमात्र (जनानाम्) मनुष्यों का (अतिथिः) सेवनीय (भूः) है। (सः) वही (एक इत्) एकमात्र (पूर्व्यः) प्राचीन और सनातन (नूतन) नवीन (आजिगीषन्तं) विजय के इच्छुक जन को (वर्तनी) विजय मार्गों पर (अनुवावृते) चलाता है।

शरण प्रभु की आओ रे।
सब जन तुम आत्मिक बल से,
अरु शुद्ध हृदय निश्छल से,
एकमात्र सेवनीय प्रभु,
की सुरक्षा में आओ रे। शरण प्रभु की आओ रे।।
इच्छुक को वह विजय दिलाता,
विजय मार्ग वह दरसाता,
चिर–सनातन, तदपि नूतन,
आश्रय प्रभु का पाओ रे। शरण प्रभु की आओ रे।।

All ye people with energy come together under the protection of God, who is Lord of the Light. He alone is entitled to hospitality of all persons. Only He is ancient as well as modern. He leads to victory to those who desire it.

३१. आविर्मर्या आ वाजं वाजिनो अग्मं देवस्य सवितुः सवम्। स्वर्गां अर्वन्तो जयत ।।435 ।।

[अध्याय 4, दशति 9, ऋचा 9]

शब्दार्थ–(वाजिनः) बुद्धिमान्, बलवान् जन (आवि) प्रकट रूप में (सवितुः) प्रेरणा प्रदायक (देवस्य) प्रभु के द्वारा (सवम्) प्रेरणा प्राप्त (आ वाजं) पूर्ण बल (अग्मन्) प्राप्त करते हैं। (मर्याः) हे मनुष्यों, (स्वर्गम्) अपार सुख को (अर्वन्तः) प्राप्त कर (जयत) संघर्ष में विजयी हो।

ईश–प्रेरित हो बलवान।
बुद्धि अरु शक्तिमान,
प्रकाश रूप जो भगवान,
उससे होकर अनुप्रेरित
संघर्ष में जो जयमान। ईश–प्रेरित हो बलवान।।

मानव-गण तुम इस प्रकार,
सुख शीघ्र अर्जित करो अपार,
प्रभु प्रेरणा से हो बली,
सदा विजयी, बनो महान। ईश प्रेरित हो बलवान।।

Inspired by God, who is wise, strong, heroic and stimulator attain fully, the strength Oh men. After acquiring unlimited joy and happiness, be victorious in struggle.

३२. विश्वतोदावन्विश्वतो न आ भर।
यं त्वा शविष्ठमीमहे ।।437 ।।

[अध्याय 4, दशति 10, ऋचा 1]

शब्दार्थ–(विश्वतो दावन्) हे सब प्रकार से दाता प्रभु, (नः) हमारा (विश्वतः) सब प्रकार से (आभर) पूर्णरूपेण पोषण करो। (यम्) जिस (त्वा) आप (शविष्ठम्) बलिष्ठ से हम (ईमहे) याचना करते हैं।

करें प्रभु, हम यह याचना।
अखिल विश्व के हे दाता,
ईश, सब प्रकार प्रदाता,
पोषित कर हमें, सदा दे,
सुख, समृद्धि, यही याचना। करें प्रभु हम यह याचना।।
हे भगवन्, तू है बलिष्ठ,
इष्ट और उपास्य घनिष्ट,
पोषण कर तू हर प्रकार,
विनती यही, और याचना। करें प्रभु हम यह याचना।।

Oh, abundant and liberal giver; bestow us fully. Oh Almighty, we beg this from you. Give us complete nourishment.

३३. एष ब्रह्मा य ऋत्विय इन्द्रो नाम श्रुतो गृणे ।।438 ।।

[अध्याय 4, दशति 10, ऋचा 2]

शब्दार्थ–(एषः) यह (ब्रह्मा) भक्तवर्द्धक ब्रह्म है, (यः) जो (ऋत्वियः) नियन्त्रण कर्ता है। यह (इन्द्र) इन्द्र (नाम) नाम से भी (श्रुतः) विख्यात हैं। मैं उसकी (गृणे) स्तुति करता हूँ।

मैं करता हूँ स्तुति उसकी।
जो है भक्त-वर्द्धक ब्रह्म,
दुष्टों का करे चूर दम्भ,
सब जग का करे नियन्त्रण
मैं नित्य करूँ स्तुति उसकी। मैं करता हूँ स्तुति उसकी।।
इन्द्र नाम से ख्याति प्राप्त,
किन्तु है सर्वथा अज्ञात,
जो निर्मल अरु प्रकाश युत,
करता हूँ नित स्तुति उसकी। मैं करता हूँ स्तुति उसकी।।

This holy and sacred one is God. He controls the world and maintains its regularity. He is also known by the name of *Indra.* I worship Him.

३४. शं पदं मघं रयीषिणो ने काममव्रतो हिनोति न स्पृशद्रयिम् ।।441।। [अध्याय 4, दशति 10, ऋचा 5]

शब्दार्थ–(अव्रतः) अधर्मा, दुष्कृत (रयिम्) धन और ऐश्वर्य को (न स्पृशत्) छूने नहीं पाता। वह (कामम्) वांछित पदार्थों को (न हिनोति) नहीं प्राप्त करता। यदि (रयीषिणः) समृद्धि और शुभेच्छुक जनो! (पदम्) अपना पग (शम्) कल्याण की दिशा में उठाओ और (मघम्) धन और ऐश्वर्य प्राप्त करो।

शुभ पथ का तू बन अनुयायी।
अव्रती, अधर्मी अनाचारी,
जो जन जग में अत्याचारी
नहीं पाते वांछित वस्तु
अरुसम्पति, ये अन्यायी। शुभ पथ का तू बन अनुयायी।।
जो जन हैं समृद्धि-इच्छुक,
सुख-इच्छुक और शुभ-इच्छुक,
शुभ दिशा में उठा ले पग को
कल्याण-मार्ग का बन राही। शुभ-पथ का तू बन अनुयायी।।

Lawless, wicked and disobedient person does not acquire wealth and prosperity. He does not get cherished things. If you wish to attain prosperity and wealth put your foot on virtuous path and receive wealth and prosperity.

३५. सदा गावः शुचयो विश्वधायसः सदा देवा अरेपसः ॥442॥ [अध्याय 4, दशति 10, ऋचा 6]

शब्दार्थ-(विश्व धायसः) जो समस्त जन का अन्नादि दान से पालन-पोषण करते हैं और (अरेपसः) पापाचरण नहीं करते, वे (देवाः) दिव्य गुणों से युक्त जन (सदा) हमेशा (शुचयः) पवित्र रहते हैं। उनकी (गावः) वाणी अथवा इन्द्रियां भी (सदा शुचयः) सदैव पवित्र रहती हैं।

सत्यव्रती ये जन, महान।
सर्व-जन का करें उठान,
दैवी गुण युत नर पावन,
अन्नादि-विद्या का करें दान,
रहें सदा पवित्र, विद्वान। सत्यव्रती ये जन, महान॥
इन्द्रियां रहें सदा वश में,
वाणी रहे सदा सच में,
पापाचरण रहित ये जन
रहें सदा पवित्र, श्रीमान। सत्यव्रती ये जन, महान॥

Who truthfully try for upliftment of all and thus support people and do not indulge is sins, such divine persons always remain pure. Organs and speech of these persons also ever remain pure.

३६. उप प्रक्षे मधुमति क्षियन्तः पुष्येम रयिं धीमहे त इन्द्र ॥444॥ [अध्याय 4, दशति 10, ऋचा 8]

शब्दार्थ-(इन्द्र) हे प्रभु! हम लोग (मधुमति) आत्मिक आनन्द युक्त (प्रक्षे) क्षेत्र में (उपक्षियन्त) निवास करते हुए (रयिम्) विद्यादि धन को (पुष्येम) पुष्ट करें और (ते) आपका (धीमहे) ध्यान और चिन्तन करें।

प्रभु हम ध्यान करें तेरा।
आत्मिक-आनन्द प्राप्त कर,
उज्ज्वल शुभ गति धार कर,
विद्यादि धन को प्राप्त कर,
नित सम्मान धरें तेरा। प्रभु हम ध्यान करें तेरा॥

हे ऐश्वर्य युक्त भगवन,
ईश, हम तव उपासक जन,
आनन्द युत बने रहकर
नित प्रभु ध्यान धरें तेरा। प्रभु हम ध्यान करें तेरा।।

Oh God! enjoying spiritual bliss and joy, we extend and strengthen our knowledge and wealth. Along with it we meditate upon you.

३७. अर्चन्त्यर्कं मरुतः स्वर्क्का आ स्तोभति श्रुतो युवा स इन्द्रः ।।445 ।। [अध्याय 4, दशति 10, ऋचा 9]

शब्दार्थ–(स्वर्का) शोभन स्तुतियों से सज्जित, (मरुतः) प्रकाशमान जन (अर्कम्) पूजनीय प्रभु को (अर्चन्ति) पूजते हैं। (सः) वह (युवा) नित्य तरुण और बलवान (श्रुतः) लोक में विख्यात (इन्द्र) प्रभु (आ स्तोभति) आनन्द सहित स्तुत किया जाता है।

स्तुतियों से ईश को पूजते।
प्रकाश युत हैं जो सद् जन,
करते पूजन, आराधन,
शोभन, सुन्दर स्तुतियों से,
स्तुति योग्य प्रभु को पूजते। स्तुतियों से ईश को पूजते।।
नित्य-तरुण, बली, विख्यात,
ऐश्वर्य युक्त जगत्-तात,
वह आनन्द सहित हो स्तुत,
सर्वत्र स्तुति-शब्द गूंजते। स्तुतियों से ईश को पूजते।।

Brilliant and enlightened persons worship and eulogize God with beautiful songs and praises. That adorable, ever young and mighty God, known as *Indra*, is praised with joy and mirth.

३८. प्र व इन्द्राय वृत्रहन्तमाय विप्राय गाथं गायत यं जुजोषते ।।446 ।। [अध्याय 4, दशति 10, ऋचा 10]

शब्दार्थ–(वृत्रहन्तमाय) काम, क्रोध आदि विनाशक तथा शत्रु विनाशक (इन्द्राय) प्रभु के लिए (गाथम्) स्तुति गीत (प्र गायत) उत्तम रीति से गाओ। ऐसे स्तुति गीत, (वः) तुम्हारे

(यम्) जिन स्तुति गीतों से प्रभु (जुजोषते) प्रीति करता है।

करो नित प्रभु का स्तुति-गान।
कामादि जो विघ्नकारी,
शत्रु, उनका प्रभु संहारी,
उस मेधावी ईश्वर का,
करो पूर्ण रूप गुणगान। करो नित प्रभु का स्तुति-गान।।
जो प्रभु को प्रिय स्तुति हो,
सर्वतो भाव से शुभ स्तुति हो,
इसी हेतु उत्साह सहित,
गाओ वह स्तुति-गान। करो नित प्रभु का स्तुति-गान।।

Sing praises for God, who is wise and destroyer of enemies and evils, with due respect and in a proper manner.Sing those songs which He likes best.

३९. भगो न चित्रो अग्निर्महोनां दधाति रत्नम् ।।449 ।।

[अध्याय 4, दशति 11, ऋचा 3]

शब्दार्थ–(अग्नि) अग्नि स्वरूप प्रभु, जो (भगः न) सूर्य के समान तेजस्वी (चित्रः) अद्भुत स्वरूप है, वह (महोनाम्) महिमाशली उपासकों को (रत्नम्) विद्या, धन? दर्शन आदि रत्न (दधाति) देता है।

है वह प्रभु रत्न-प्रदाता।
सूर्य-सदृश जो तेजस्वी,
बलशाली अरु ओजस्वी,
वह अग्नि रूप परमात्मा
एकमात्र है बल दाता। है वह प्रभु रत्न-प्रदाता।।
ईश्वर वह अद्भुत स्वरूप,
अति विख्यात, प्रकाश-रूप,
उपासकों को दे दर्शन
विद्या, धन नित्य जुटाता। है वह प्रभु रत्न-प्रदाता।।

God, marvellous in form and brilliant like sun, bestows to His exalted worshippers knowledge, wealth and prosperity and becomes visible to them.

४०. विश्वस्य प्र स्तोभ पुरो वासन्यदि वेह नूनम् ।।450 ।।

[अध्याय 4, दशति 11, ऋचा 4]

शब्दार्थ–(प्र स्तोभ) उच्च स्वर में स्तुत है प्रभु! तू (यदि) यदि (विश्वस्य) सब की (पुरः) नगरी (वासन्) बसाता है, (वा) तो (इह) यह हमारी नगरी (नूनम्) निश्चय, अवश्य बसा।

बसाओ यह हृदय-नगरी।
हे उच्च-स्वर से स्तुत जगदीश,
बलवान, प्रकाश-युत हे जगदीश,
निज कृपा से हो बसाते
समस्त जन की तुम नगरी। बसाओ यह हृदय-नगरी।।
हे ईश कृपा-निधान, दयालु,
होकर हम पर अति कृपालु,
बसाओ निश्चित रूप से
हमारी यह हृदय-नगरी। बसाओ यह हृदय-नगरी।।

Praised with loud voices and devotion, Oh God, you inhabit the hearts of all people. If so, surely please dwell in our hearts.

४१. वि स्रुतयो यथा पथा इन्द्र त्वद्यन्तु रातयः ।।453 ।।

[अध्याय 4, दशति 11, ऋचा 7]

शब्दार्थ–(इन्द्र) हे प्रभु! (यथा) जिस प्रकार (पथा) प्रवाह मार्ग से (विस्रुतयः) नदियां प्रवाहित होती हैं, उसी प्रकार (त्वत्) आप से (रातयः) विद्या, धन आदि (यन्तु) प्राप्त हों। नदी के जल-प्रवाह की तरह हमें प्राप्त हों।

करो हमें विद्या-धन दान।
सलिल के प्रवाह मार्ग से,
वेगवान, कुटिल मार्ग से,
नदियों, झरनों अरु नालों से,
मिलता जैसे सलिल का दान। वैसे करो हमें विद्या-धन दान।।
वैसे ही हे प्रभु, स्वयम्भूः,
दाता ईश समस्त अम्भूः,
ज्ञान, यश, धन वैभव आदि
का दे दान, ईश महान। करो हमें विद्या-धन दान।।

As rivers flow onwards upon their courses, so Oh God, knowledge and wealth flow from you to us.

४२. ऊर्जा मित्रो वरुणः पिन्वतेडाः पीवरीमिषं कृणुही न इन्द्र ।।455 ।। [अध्याय 4, दशति 11, ऋचा 9]

शब्दार्थ–(इन्द्र) हे परमेश्वर! आप जैसे (मित्रः) सूर्य और (वरुणः) वृष्टि जल की (ऊर्जा) शक्ति से (इडाः) अन्नों को (पिन्वत) पुष्ट करते हो, वैसे (नः) हमारे लिए (पीवरीम्) सुपुष्ट (इषम्) पेय तथा खाद्य पदार्थ (कृणुहि) उत्पन्न करो।

पुष्ट-अन्न उत्पन्न करो।
हे ईश सूर्य प्रकाश से,
वृष्टि-जल-युत आकाश से,
ऊर्जा और शक्ति बिखेरकर,
भोज्य अन्न को पुष्ट करो। पुष्ट-अन्न उत्पन्न करो।।
जिस पेय की हो चाहना,
जिस भोज्य की हो कामना,
वही सृष्ट और पुष्ट कर,
प्रभु, हमें पूर्ण सन्तुष्ट करो। पुष्ट-अन्न उत्पन्न करो।।

By the energy of sun and rain, O God, kindly grow and swell our foods and grains. For us make our juicy objects nourishing and health giving.

४३. इन्द्रो निश्वस्य राजति ।।456 ।।

[अध्याय 4, दशति 11, ऋचा 10]

शब्दार्थ–(इन्द्रः) प्रभु (विश्वस्य) सब का (राजति) शासक और प्रकाशक है।

ईश्वर सबका है शासक।
ये सूर्य, चान्द अरु तारे,
जग में करते उजियारे,
इन सब का प्रेरक एकमेव,
प्रभु शासक है और प्रकाशक। ईश्वर सबका है शासक।।
ये कीट-पतंग, जीव, नभचर,
मनुज, विविध पशु अरु जलचर,
ब्रह्माण्ड, अन्तरिक्ष, सबका,
प्रभु स्रष्टा है और प्रकाशक। ईश्वर सब का है शासक।।

God is the monarch of all. He is the light giver to us all, including the sun, the moon and the stars.

४४. अयं सहस्त्र मानवो दृशः कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्म। ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयदरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमन्तश्चिता गोः ॥458॥

[अध्याय 4, दशति 12, ऋचा 2]

शब्दार्थ–(अयम्) यह प्रभु (सहस्त्र मानवः) विश्व मानवों का पिता (दृशः) दृष्टिदाता, (कवीनां मतिः) बुद्धिमानों की बुद्धि (विधर्म) निर्गुण, (ज्योतिः) प्रकाश पुन्ज, (ब्रध्नः) सूर्यसम दीप्त और (समीचीः)समस्त (उषसः) उषाओं को (समैरयत्) उत्पन्न करता है। उपासक लोग (गोः चिता) वेदवाणी के यथार्थ ज्ञान द्वारा (स्वसरे) दिन में (मन्युमन्तः) प्रकाश-युक्त (सचेतसः) तेजस्वी (अरेपसः) अन्धकार और दोष रहित हो जाते हैं।

ज्योति से करता प्रच्छन्न।
अति प्रकाशित, दृष्टि-दाता,
विद्वज्जन बुद्धि प्रदाता,
बल युत, निर्गुण, ज्योति-पुंज,
प्रभु प्रभात करे उत्पन्न। ज्योति से करता प्रच्छन्न॥
फिर प्रकाश युत, बुद्धिमान,
सर्व जग स्त्रष्टा भगवान,
अन्धकार, दोष रहित रवि,
को नभ में करे आच्छन्न। ज्योति से करता प्रच्छन्न॥

God, refulgent with light and intellect, Creator of the Universe, sets the Sun in the Heaven, Sun which is devoid of darkness and has no defect.

४५. अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदीद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपा स्वः ॥464॥

[अध्याय 4, दशति 12, ऋचा 8]

शब्दार्थ–(ओण्योः) पृथ्वी और आकाश के, (सवितारम्) उत्पादक, (देवं) दिव्य-गुण-युक्त, (कवि ऋतुम्) बुद्धिमान, सर्वज्ञ, (सत्य सवम्) सत्य के प्रेरक, (रत्नधाम्) ज्ञान और धन के धारक, (अभिप्रियम्) अत्यन्त प्रिय, (मतिम्) माननीय प्रभु को मैं, (अर्चामि) पूजता हूँ। (यस्य) जिस प्रभु की (ऊर्ध्वा)

उत्कृष्ट, (भाः) कान्ति और दीप्ति से (अमतिः) जड़ प्रकृति, (सवीमनि) प्रेरणा प्राप्त कर, (अदिद्युतत्) प्रकाशित हो जाती है। उस (हिरण्यपाणिः) तेजस्वरूप सुकर्मा ने, (कृपा) अपने सामर्थ्य से (स्वः) सूर्य लोकों अर्थात् ब्रह्माण्ड को (अमिमीत) रचा है।

निज सामर्थ्य से जग रचा।
द्यु और पृथ्वी के सर्जक,
दिव्य-गुण-युत, सत प्रदर्शक,
अत्यन्त प्रिय प्रभु की करूँ,
पूजा, जिसने जग-रचा। निज सामर्थ्य से जग रचा।।
ज्ञान और धन का धारक,
तेज-स्वरूप, बुद्धि-वाहक,
सुकर्मा, जिसने दीप्ति से
जड़ प्रकृति को ज्योतित किया। निज सामर्थ्य से जग रचा।।

I worship with full regard this God, creator of heaven and earth, divine all-knowing, omniscient, inspirer of truth, bearer of knowledge and wealth. Impelled by His splendour inanimate and unintelligent nature becomes illumined. Holder of vital power and doer of good deeds, He has created this Universe with His power and kindness.

४६. यस्येदमा रजोयुजस्तुजे जने वनं स्वः ।
इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत् ।।588 ।।

[अध्याय 6, दशति 1, ऋचा 3]

शब्दार्थ–(रजो युजः) ज्योति युक्त, (यस्य) जिस, (इन्द्रस्य) प्रभु का (रन्त्यम्) रमणीय, और (बृहत्) महान्, व अत्यधिक (स्वः) सुख विद्यमान है, वह (तुजे जने) दानी पुरुषों को (इदम्) यह सुख (आ) पूर्णतया प्राप्त हो।

दे दाता को सुख, वैभव।
जिस ज्योति-युक्त का प्रकाश,
फैला सर्व दिशा और आकाश,
दाता करे प्राप्त उसे,
बृहत्, रमणीय सुख, वैभव। दे दाता को सुख, वैभव।।

वह अति प्रिय, प्रकाश-युक्त प्रभु,
ऐश्वर्य युक्त, जगपति, विभु,
दानी-श्रेष्ठ-पुरुष को, सब
विधि युक्त करे सुख, वैभव। दे दाता को सुख, वैभव।।

Harnessed by great light, Oh God, great is Thine bliss, pleasant and abundant. Kindly give this bliss to those persons (दाता) who donate and help other persons.

४७. इमं वृषणं कृणुतैकमिन्माम् ।।591।।

[अध्याय 6, दशति 1, ऋचा 6]

शब्दार्थ–हे प्रभु (इमम्) इस, (एक मित्) एकाकी और असहाय, (माम्) मुझको, (वृषणम्) शक्तिशाली, (कृणुत) कृपा कर बना दें।

भगवन् मुझे बना महान्।
हूँ मैं निर्बल एकाकी,
रही न्यूनता प्रतिभा की,
मुझको कर पुरुषत्व युक्त
ईश, हो मेरा कल्यान। भगवन् मुझे बना महान।।
कर दे मुझे शक्तिशाली,
भर मुझ में साहस लाली,
बना अटूट, दृढ़ निश्चयी,
कर सकूँ निज को तुझे दान। भगवन् मुझे बना महान।।

Oh God, kindly make me, a helpless and lone person, strong and vigorous so that I may offer myself to Thee.

४८. अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इदेवमावदहमत्नमन्नदन्तमद्मि ।।594।।

[अध्याय 6, दशति 1, ऋचा 9]

शब्दार्थ–प्रभु बतलाता है कि (अहम्) मैं, (देवेभ्यः) दिव्य गुण धारणकर्ताओं का, (प्रथमजाः) पूर्वज हूँ। (ऋतस्य) सत्य का और (अमृतस्य) अमरत्व का मैं ही (नाम) सूचक हूँ। (यः) जो व्यक्ति, (मा ददाति) मुझे निज को अर्पित कर देता है (सः इत्) वही व्यक्ति, (एवम्)) इस प्रकार (आवत्) मुझ से निकटता प्राप्त कर लेता है। जो मुझे अर्पण नहीं करता उस (अन्नम् अदन्तम्) अन्न-भक्षी को, (अहम्) मैं, (अन्नम्)

अन्न-समान, (अद्मि) भक्षण कर लेता हूँ।

करो मुझे तुम निज अर्पण।
सब देवों का मैं पूर्व देव हूं,
सत्य, अमृत सूचक, अग्रज, मैं हूं,
वह मनुज ही मेरे निकट
जो निज को करता अर्पण। करो मुझे तुम निज अर्पण।।
जो न करे निज को अर्पण,
नहीं आता मेरी शरण,
उस अन्न-भक्षी नर का मैं,
अन्न समान करूँ चर्वण। करो मुझे तुम निज अर्पण।।

I am prior to all divine beings. I represent truth and immortality. He, who offers himself to Me, he comes near to Me. He who does not offer himself to Me, I eat him like food.

४९. मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत्पयः ।
परमेष्ठी प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु ।।602 ।।

[अध्याय 6, दशति 3, ऋचा 1]

शब्दार्थ–(परमेष्ठी) सर्वोच्च, (प्रजापतिः) प्रजा पालक प्रभु, (दिवि) आकाश में, (इव) जिस प्रकार आप (द्याम्) प्रकाश को, (दृंहतु) शक्ति प्रदान करते हैं, उसी प्रकार (मयि) मुझ में, (वर्चः) तेज (अथो) और (यशः) कीर्ति, (अथो) और (यत्) जो (यज्ञस्य) कर्म, यज्ञ, स्तुति की जो (पयः) शक्ति है, वह शक्ति मुझे प्रदान करें।

कर मम यश, तेज की वृद्धि।
हे सर्वोच्च, प्रजापालक,
परम ईश, दुष्ट विनाशक,
आकाश में करते आप,
सदा प्रकाश की अभिवृद्धि। कर मम यश, तेज की वृद्धि।।
वैसे ही, हे सुखकर प्रभु,
जग उत्पादक, हे स्वयम्भु,
मुझ में करो कर्म, यज्ञ अरु
तेरी स्तुति औ' शक्ति की वृद्धि। कर मम यश, तेज की वृद्धि।।

Most conspicuous, Lord of all creatures, as Thou givest strength to the light in the sky, in the same manner enhance my fame and make me firm in my actions, devotion and worship.

५०. आ प्रागाद् भद्रा युवतिरह्नः केतून्समीर्त्सति।
अभूद् भद्रा निवेशनी विश्वस्य जगतो रात्री ।।608 ।।

[अध्याय 6, दशति 3, ऋचा 7]

शब्दार्थ–हे प्रभो! (भद्रा) सांसारिक-क्षणिक-सुखदायिनी, (विश्वस्य जगतः) समस्त प्राणी वर्ग को, (निवेशनी) सुला देने वाली, (युवतिः रात्रि) युवती के समान सांसारिक-विषयों की मोहरात्रि, (अभूत) विजमान है, और हम पर (आ प्रागाद्) चढ़ी आ रही है। यह (भद्रा) क्षणिक-सुखदायिनी मन-मोहिनी, (अह्नः) दिन अथवा ज्ञान के प्रकाश की, (केतून) किरणों को, (समीर्त्सति) दूर करना चाहती है। इससे हमें बचाइए। इस मन्त्र में भक्त संसार के विषयों को मोह-रात्रि से बचने की प्रार्थना कर रहा है।

त्राहि माम् प्रभु, त्राहि माम्।
जग की क्षणिक सुखदायिनी,
ये मधुर निद्रा दायिनी,
माया मोह पूरित रात्रि,
करने दे नहीं मुझे सत् काम। त्राहि माम् प्रभु त्राहि माम्।।
यह दिवस रूपी प्रकाश से,
आकाश से आते ज्ञान से,
मुझे नित्य कर रही दूर,
नहीं लेने देती प्रभु का नाम। त्राहि माम् प्रभु त्राहि माम्।।

Oh God, the night full of delusion, strong, consisting of temporary worldly pleasures, makes asleep all living beings. It is coming with full force. Pleasant in appearance, it contrives to keep us away from the brightness of the day. which represents knowledge. Kindly save us from it.

५१. यशो मा द्यावापृथिवी यशो मेन्द्र बृहस्पती। यशो भगस्य विन्दतु यशो मा प्रतिमुच्यताम्। यशसास्याः संसदोऽहं प्रवदिता स्याम् ।।611 ।।

[अध्याय 6, दशति 3, ऋचा 10]

शब्दार्थ—हे प्रभु! (मा) मुझे, (द्यावा-पृथिवी) द्युलोक और पृथ्वी लोक में (यशः) कीर्ति प्रदान करें। (मा) मुझे (इन्द्रः बृहस्पतिः) राजा और विद्वानों-सा, (यशः) यश दें। (भगस्य) सौभाग्य और ऐश्वर्य का (यशः) यश मुझे (विन्दतु) प्राप्त हो। (यशः) कीर्ति (मा) मेरा, (प्रति मुच्यताम्) कभी परित्याग न करें। (अहम्) मैं (अस्याः) इन, (संसदः) विद्वत् सभाओं में (प्रवदिता) उत्तम वक्ता, (स्याम्) होऊं।

जगदीश करो यश मुझे प्रदान।
ईश मुझे उभय लोक में,
दो यश, पृथ्वी औ' द्युलोक में,
मुझे राजा अरु विद्वान्,
जैसा प्राप्त हो सम्मान। जगदीश करो यश मुझे प्रदान।।
बना रहूं सदा, यशस्वी,
कभी न करे यश मेरा त्याग,
उत्तम वक्ता बन पाऊँ मैं,
विद्वत् सभा में मिले सम्मान। जगदीश करो यश मुझ प्रदान।।

Give me fame on this earth and heaven, Oh God make me glorious like a king and a wise man. May I get good fortune and prosperity. May the fame never forsake and get rid of me. May I be an excellent speaker in the assemblies of wise men.

५२. भ्राजन्त्यग्ने समिधान दीदिवो जिह्वा चरत्यन्त-रासनि।
स त्वं नो अग्ने पयसा वसुविद्रयिं वर्चो दृशेदाः ।।615।।

[अध्याय 6, दशति 4, ऋचा 1]

शब्दार्थ—(अग्ने) अग्नि रूप, (समिधान) जलती हुई, (दीदिवः) दीप्त तेरी (जिह्वा) लपटें (अन्तः आसनि) अन्तर्मुख होकर, समिधा को (चरति) भस्म कर देती हैं। (सः) वही (त्वं) तू जब (अग्ने) अग्नि रूप प्रभु का (दृशो) रूप धारण कर लेता है, हे अग्ने तब प्रभु रूप में आप (वसुर्विद) धन-धान्य (पयसा) दूध और जल (रयिम्) धन और ऐश्वर्य और (वर्चः) तेज (नः) हमें (दाः) प्रदान करे।

करता ऐश्वर्य, तेज युत।
ईश, सामान्य - अग्नि - रूप,
देदीप्यमान - अग्नि - रूप,
अन्तर्मुख - तेरी - लपटें
करे समिधा भस्म, आहुत। करता ऐश्वर्य, तेज युक्त।।
किन्तु हो अग्नि रूप ईश,
विवेक सहित, हे जगदीश,
देता धन-धान्य, सम्पदा,
कर हमें हर्षित, कान्ति युत। करता ऐश्वर्य तेज युत।।

In the form of physical fire, alighted and shining Thy flames consume fuel—समिधा: When thou adopted the form of fire—God, the same thou, bestowest upon us wealth, milk, water, prosperity and vital power. Externally, thou art a burning fire, but internally, if we have the burning desire of God realization, then thou givest us all the wealth of the world. Besides, inside fire also signifies burning of passions of the mind.

५३. वसन्त इन्नु रन्त्यो ग्रीष्म इन्नु रन्त्यः। वर्षाण्यनु शरदो हेमन्त शिशिर इन्नु रन्त्यः ॥616॥

[अध्याय 6, दशति 4, ऋचा 2]

शब्दार्थ–हे प्रभु! आपकी कृपा से (वसन्त) वसन्त ऋतु (रन्त्यः) रमणीय हो। (इत्) और (नु) निश्चय से (ग्रीष्मः) ग्रीष्म ऋतु भी (रन्त्यः) रमणीय हो। (इत नु) और निश्चय से (वर्षाणि) वर्षा ऋतु और (अतु) तत्पश्चाद् (शरद्) शरद् ऋतु (हेमन्त) हेमन्त ऋतु (इत नु) और निश्चय से, (शिशिरः) शिशिर ऋतु भी (रत्यः) रमणीय हो।

प्रभु कृपा, ऋतु हों रमणीय।
ईश-कृपा-वश वसन्त ऋतु,
अरु निश्चय उष्ण-ग्रीष्म-ऋतु भी,
इसी भांति वर्षा-ऋतु भी,
हों हमारे हित रमणीय। प्रभु कृपा, ऋतु हों रमणीय।।

वर्षा विगत आती शरद,
शिशिर अरु हेमन्त उन्माद,
सभी ऋतु हों निश्चय सुखद,
अनुकूल, रम्य, सेवनीय। प्रभु-कृपा, ऋतु हों रमणीय।।

Oh God, by Thy grace all seasons may be favourable and delightful for us. Spring be pleasant. Similarly, summer, rainy season, autumn, cold season and its conclusion be enjoyable.

५४. सहस्त्र शीर्षाः पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।
स भूमिं सर्वतो वृत्वात्यतिष्ठद् दशांगुलम्।।617।।

[अध्याय 6, दशति 4, ऋचा 3]

शब्दार्थ–(सहस्त्र शीर्षाः) सहस्त्रों शीश से युक्त, (सहस्त्राक्षः) सहस्त्रों नेत्रों से युक्त, (सहस्त्र पात्) सहस्त्र पावों से युक्त, (सः पुरुषः) वह प्रभु (भूमिम्) पृथ्वी को, (सर्वतः) पूर्णतया, (वृत्वा) व्याप्त कर, (दशाङ्गुलम्) दस अंगुल भूमि को, (अति) लांघकर, पार कर (अतिष्ठत्) स्थित है। संपूर्ण भूमि को घेरकर भी उसका हाथ खाली-का-खाली है।

यह पुरुष-सूक्त का मन्त्र है। पुरुष-सूक्त सभी वेदों में पाया जाता है। सामवेद के मन्त्रों की संख्या 100 करने के लिए हमने इस सूक्त का एक मन्त्र इस शतक में ले लिया है क्योंकि बाकी 99 मन्त्र सामवेद के अपने मन्त्र हैं जो अन्य वेदों में नहीं पाये जाते। उन 99 में पुरुष-सूक्त का एक मन्त्र जोड़ देने से सामवेद के मन्त्रों की संख्या 100 हो जाती है। क्योंकि सामवेद में भी पुरुष-सूक्त पाया जाता है इसलिए उस सूक्त से एक प्रसिद्ध मन्त्र ले लेना युक्तिसंगत है।

बसे प्रभु पार दश-अंगुल इस विश्व के।
सहस्त्र शीश धरे, सर्वज्ञ, वह,
सहस्त्र नेत्र युक्त, अति प्रज्ञ वह,
सहस्त्र-पग विचरे सब जगह,
भूमि, आकाश, इस सभी दृश्य के। बसे प्रभु पार दश-अंगुल
इस विश्व के।।

बसे प्रभु पार दश अंगुल इस विश्व में,
कर्ता, धर्ता, संहर्ता इस दृश्य में,
परम प्रभु दयानिधि वह है महान्,
बसे वह पार प्रविष्ट इस दृश्य में। बसे प्रभु पार दश अंगुल
इस विश्व में।।

That gigantic-man, purush-God, has thousands of heads, thousands of eyes and thousands of feet. He pervades the earth completely. Crossing the four directions, God stays in the heart which if held in hand goes beyond the hand of ten fingers. The idea is that God cannot be measured. We measure things by the hand of ten fingers but He outgoes the hand of ten fingers. He is immeasureble.

५५. मन्ये वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ ये अप्रथेथामिमितमभि योजनम्। द्यावापृथिवी भवतं स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ।।622।। [अध्याय 6, दशति 4, ऋचा 8]

शब्दार्थ—हे (द्यावा पृथिवी) द्युलोक और पृथ्वी लोक, (ये) जो तुम (अमितम्) असीम, (योजनम्) योजना तक (अभि अप्रथेथाम्) व्याप्त होकर फैले हो, (वाम्) उन दोनों, भूमि तथा द्यु-लोक को मैं (सुभोजसौ) उत्तम दाता (मन्ये) स्वीकार करता हूं। हे (द्यावा पृथिवी) द्युलोक और पृथ्वी लोक, (ते) वे तुम दोनों, (स्योने) सुख दायक, (भवतम्) हो और (नः) हमें (अंहसः) भोजन आदि प्रदान कर चिन्ता और संकट से (मुन्चतम्) मुक्त करें।

चिन्ता व कष्ट दूर करो।
हो भूमि औ' द्युलोक के पालक,
असीम दूरी तक व्यापक,
ये दोनों दाता हैं—इन दोनों को,
मैं स्वीकार करूँ, कृपा करो। चिन्ता व कष्ट दूर करो।।
तुम दोनों हो सुखदायक,
उदार अरु सर्व-प्रदायक,
भोजनादि प्रदान कर सब
कष्ट व चिन्ता मुक्त करो। चिन्ता व कष्ट दूर करो।।

Strewn over limitless space, Oh Earth and Sky! I recognise you as excellent bestower. Both of you be a cause of pleasure and happiness and providing abundantly to us remove all our pains and troubles.

५६. हरी त इन्द्र श्मश्रूण्युतो ते हरितौ हरी।
तं त्वा स्तुवन्ति कवयः पुरुषासो वनर्गवः ।।623 ।।

[अध्याय 6, दशति 4, ऋचा 9]

शब्दार्थ–हे (इन्द्र) सूर्य रूपी प्रभु (ते) तेरी (श्मश्रूणि) किरण रूपी मूछें (हरी) सुन्दर और आकर्षक हैं। (उतो) और (ते) वे दोनों मूछें तेरे (हरितौ) रथ के दोनों अश्व के समान (हरी) सुन्दर और आकर्षक हैं। इसीलिए हे प्रभु (त्वा) तेरी (कवयः) बुद्धिमान और (वनर्गवः) वानप्रस्थी (पुरुषासः) पुरुष (स्तुवन्ति) स्तुति करते हैं।

प्रभु तव सूर्य-रूप सुन्दर।
किरण रूप हो शोभित मूछें,
मानो दो अश्व सुन्दर,
रथ में जुते अश्व ये दो,
वे भी आकर्षक मनहर। प्रभु तव सूर्य-रूप सुन्दर।।
इसी कारण अभिराम की,
ईश, तुझ योग्य-प्रणाम की,
विद्वान् अरु वानप्रस्थी,
करें नित्य स्तुति, हे यश-धर। प्रभु तव सूर्य-रूप सुन्दर।।

Oh God, in the form of the Sun Thou appearest beautiful. Thy beard, represented by rays, is attractive. Similarly, Thy beards as horses yoked in Thy chariot are also captivating. Therefore, wisemen and hermits eulogise and extol Thee.

५७. यद्वर्चो हिरण्यस्य यद्वा वर्चो गवामुत।
सत्यस्य ब्रह्मणो वर्चस्तेन मा संसृजामसि ।।624 ।।

[अध्याय 6, दशति 4, ऋचा 10]

शब्दार्थ–(हिरण्यस्य) ज्योति का, (यत्) जो, (वर्चः) तेज है, (उत्) और (गवाम्) सूर्य की रश्मियों का, (यत) जो,

(वर्चः) तेज है, (सत्यस्य) सत्य स्वरूप (ब्रह्मणः) ब्रह्म का जो (वर्चः) तेज है, (तेन) उस तेज से (मा) हम सब अपने आपको (संसृजामसि) संयोजित करें।

प्रभु तव प्रकाश प्राप्त करें।
तेरी ज्योति का जो तेज।
सत्य स्वरूप का जो तेज,
हम उसे संयोजित करें,
ईश, उसे हम प्राप्त करें। प्रभु तब प्रकाश प्राप्त करें।।
सूर्य किरणों का जो तेज,
पवित्र जीवन का जो तेज,
उसे निज से कर संयुक्त,
प्रभु तुझको हम प्राप्त करें। प्रभु तव प्रकाश प्राप्त करें।।

May we harness ourselves with the glow of Thy light and with the radiance of sun's rays. May we yoke ourselves with the emitting rays of Thy truthful form.

५८. सहस्तन्न इन्द्र दद्ध्योज ईशे ह्यस्य महतो विरप्शिन्।
क्रतुं न नृम्णं स्थविरं च वाजं वृत्रेषु शत्रून्त्सहना कृधी
नः ।।625।। [अध्याय 6, दशति 4, ऋचा 11]

शब्दार्थ–(इन्द्र) हे प्रभु! (हि) क्योंकि (अस्य) इस (महतः) महान् (विरप्शिन्) बल और ब्रह्माण्ड के आप (ईशे) स्वामी हैं इसलिए (नः) हमें (सहः) शत्रुओं का दमन करने वाला (तत्) वह (ओजः) बल (दद्धि) दीजिए। (च) और (क्रतुं न) कर्मानुसार (नृम्णं) दया और कृपा प्रदान कीजिये और (स्थविर) विशिष्ट (वाजम्) शक्ति और अन्न आदि दीजिए। (नः) हमें (वृत्रेषु) पापियों और शत्रुओं के सम्मुख होने पर (शत्रून्) इन शत्रुओं का (सहना) घातक (कृधि) बनाइए।

शक्ति देकर विजय दीजिए।
बृहत् ब्रह्माण्ड के स्वामी,
प्रभु तुम हो बहु बल शाली,
हमें शत्रु-दल विनाशक, वह
दमनकारी बल दीजिए। शक्ति देकर विजय दीजिए।।

करो दया कर्म अनुसार,
दो धन, विशिष्ट बल अपार,
शत्रु अरु पाप कर्म सम्मुख,
संहारक सदा कीजिये। शक्ति देकर विजय दीजिए।।

Oh God, as Thou art Lord of this universe and possessesth great strength, give us that might which can subdue evils and enemies. Bestow upon us Thy kindness according to our deeds and give us solid strength and riches. When faced with evils and enemies, make us their killer.

५९. सहर्ष भाः सह वत्सा उदेत विश्वा रूपाणि विभ्रतीद्वयू ध्नीः। उरुः पृथुरयं वो अस्तु लोक इमा आपः सुप्रपाणाः इह स्त ।।626 ।।

[अध्याय 6, दशति 4, ऋचा 12]

शब्दार्थ–(सहर्ष भाः) हर्षित कान्ति युक्त, (सह वत्सा) उत्तम बछड़ों के साथ (विश्वा रूपाणि) समस्त रूप, (विभ्रतीः) धारण करती हुई (द्वय ऊध्नीः) दुगने उधस वाली (उदेत) उच्च रूप से प्राप्त हो। (अय) यह (लोकः) संसार (वः) तुम्हारे लिए, (उरुः) उत्तम और (पृथुः) पर्याप्त हो। (आपः) नदी और सरोवर के जल (सुप्रपाणाः) सुन्दर पीने के योग्य हों। (इह) इस लोक में तुम्हें (स्त) सुख प्राप्त हो।

हो तुम्हें आनन्द प्राप्त।
हर्षित कान्ति युत, विजय प्रिय,
पाप विनाशक, अद्वितीय,
सर्व रूप धारण कर्त्ता,
वह ईश हो तुम्हें प्राप्त। हो तुम्हें आनन्द प्राप्त।।
यह जग हो रम्य, पर्याप्त,
मधुर जल हों सम्यक् प्राप्त,
जग हो सुखदायी तुम्हें
हो मधु परमानन्द प्राप्त। हो तुम्हें आनन्द प्राप्त।।

May God, who glows with joy, loves victory, adopts all forms, supports everything, unique and match-less, arises and flows in you; May this world be excellent and spacious for you. May the waters of these rivers and ponds be sweet and drinkable for you and you enjoy happiness in this world.

(ख) महानाम्न्यार्चिक (Mahanamnyarchik) —The Middle Part.

६०. विदा मधवन् विदा गातुमनुशंसिषो दिशः ।
शिक्षा शचीनां पते पूर्वीणां पुरूवसो ।।641 ।।

[तिस्र 1, ऋचा 1]

शब्दार्थ–(मधवन्) हे प्रभु! आप (विदाः) सब जानते हैं। इसलिए (गातुम्) उपासक स्तुतिकर्ताओं को भी (विदाः) जानते हैं। उन्हें (दिशः) मार्ग (अनुशंसिषः) दरसाइए। हे (पुरुवसो) विद्यादि बहुत धन युक्त, (पूर्वीणां शचीनां पते) सनातन बुद्धियों के स्वामी (शिक्ष) हमें शिक्षा दीजिये, विद्यादि धन दीजिए।

प्रभु मार्ग-दर्शन कीजिए।
प्रभु आप सब हैं जानते,
स्तोता हृदय पहचानते,
अतएव स्तुति-कर्ता हमें,
पथ का प्रदर्शन कीजिए। प्रभु मार्गदर्शन कीजिए।।
हे सनातन बुद्धि-स्वामी,
विद्यादि बहुल-धन स्वामी,
हमें उचित शिक्षा दीजिये,
विद्यादि धन दीजिए। प्रभु मार्ग-दर्शन कीजिए।।

Oh God, as Thou knowest everything, so Thou knowest thy devotees and worshippers. Show them the right path. Lord of abundant knowledge, riches and ancient intellects, teach us and provide us with knowledge and other riches.

६१. आभिष्ट्वमभिष्टिभिः स्वाऽ३र्न्नांशुः ।
प्रचेतन प्रचेतयेन्द्र द्युम्नाय न इषे ।।642 ।।

[तिस्र 1, ऋचा 2]

शब्दार्थ–(प्रचेतन) पूर्ण रूपेण चेतन, (स्वः न) सूर्य के समान, (अंशुः) प्रकाशमान, हे प्रभु हमें (प्रचेतय) चेतना और ज्ञान युक्त कीजिए। (इन्द्र) हे परम पिता, (त्वम्) आप, (नः)

हमें (इषे) धन और ऐश्वर्य और (द्युम्नाय) यश प्रदान करें। हम (आभिः) इन (अभिष्टिभिः) स्तुतियों से आपकी स्तुति करते हैं।

प्रभु, हमें भी चेतन कीजिए।
सूर्य समान प्रकाशमान,
हे भगवान ऐश्वर्य वान,
आप हैं प्रभु पूर्ण चेतन
हमें भी चेतन कीजिए। प्रभु हमें भी चेतन कीजिए।।
इन स्तुतियों के फलस्वरूप,
हे स्वामी चेतन स्वरूप,
प्रचुर यश हमको दीजिये,
बहुल धन पूरित कीजिए। प्रभु, हमें भी चेतन कीजिए।।

Fully conscious and lighted like the sun God, make us conscious and intelligent. give us fame and wealth. We worship Thee with these adulations and praises.

६२. एवा हि शक्रो राये वाजाय वज्रिवः। शविष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे। मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे आ याहि पिब मत्स्व ।।643 ।। [तिस्त्र 1, ऋचा 3]

शब्दार्थ–(वज्रिवः) दुष्टों पर दण्ड धारक हे प्रभु, (राये) ऐश्वर्य और (वाजाय) बल प्रदान करने के लिए, (एव हि) निश्चय आप (शक्र) समर्थ हैं। (शविष्ठ) बल स्वामी, (वज्रिन्) दण्डधारी तुझे, (नृञ्जसे) प्रसन्न किया जाता है। (मंहिष्ठ) हे महान्, महिमावान, (वज्रिन्) दण्डधारी, (नृञ्जस) प्रसन्न हो। (आयाहि) हमारे निकट आ। (पिब) हम तेरे अमृत को पीकर (मत्स्व) आनन्दित हो जावें।

भगवन हम पर हो प्रसन्न।
धन, बल देने में समर्थ,
हे प्रभु, इनकी प्राप्ति अर्थ,
बलिष्ठ तुझे करें प्रसन्न,
महान, हम पर हो प्रसन्न। भगवन हम पर हो प्रसन्न।।
दुष्ट जन पर दण्ड धारी,
ईश पाप विनाशकारी,
आ समीप, हो हमें प्राप्त,
अमृत पान कर हों प्रसन्न। भगवन हम पर हो प्रसन्न।।

Oh, holder of weapons, Thou art certainly capable of bestowimg strength and riches. Oh, holder of weapons, we crave Thee for strength and prosperity. Oh Great and Mighty one, be pleased with us and come near us. Let us get exhilerated by drinking Thy nectar.

६३. विदा राये सूवीर्यं भुवो वाजानां पतिर्वशां अनु।
मंहिष्ठ वज्रिन्नृञ्जसे यः शविष्ठः शूराणाम् ।।644 ।।

[तिस्र 2, ऋचा 4]

शब्दार्थ–(वाजानां पतिः) हे बलपति (वशान्) हमारी कामनाओं के (अनु) अनुकूल (भुवः) हूजिए। (राये) धन और ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए (सुवीर्यम्) उत्तम पुरुषार्थ को (विदाः) प्रदान कीजिए। (मंहिष्ठ) हे महान् और पूजनीय, (वज्रिन) दण्डधारी, (य) आप (शूराणां) शूरवीरों में (शविष्ठः) प्रमुख और महाबली हैं। हम तुम्हें (मृञ्जसे) प्रसन्न करते हैं।

प्रभु, चाहना करो अनुकूल।
दुष्कामना करो उन्मूल,
करो इच्छायें अनुकूल
धन-हित कर तू पुरुषार्थी,
प्रभु, समस्त जगत् के मूल। प्रभु, चाहना करो अनुकूल।।
हे बलपति, पूज्य प्रदाता,
शूरवीर प्रमुख, विधाता,
हे वज्रधारी प्रभु तुझे
करें प्रसन्न, हो अनुकूल। प्रभु, चाहना करो अनुकूल।।

Lord of all might, make our desires well disposed. Grant us enough strength to obtain prosperity. Oh venerable, great and mighty, holder of weapons, Thou art foremost of all brave persons. We please Thee.

६४. यो मंहिष्ठो मधोनामंशुर्न्न शोचिः। चिकित्वो अभि नो नय इन्द्रो विदे तमु स्तुहि ।।645 ।। [तिस्र 2, ऋचा 5]

शब्दार्थ–(मधोनाम्) धनवानों में (मंहिष्ठ) अति उदार, (चिकित्वः) ज्ञानवान्, (अंशु न) सूर्य के समान (शोचिः) प्रकाशमान प्रभु, (नः) हमें (अभि) पूर्णतया (नय) सुपथ पर ले

चल, (यः) जिससे (इन्द्र) हे प्रभु, हम तुझे (विदे) पा सकें और जान सकें। इसी हेतु (तम्) उस प्रभु की (स्तुहि) हम स्तुति करते हैं।

भगवन्, ले चल हमें
सुपथदाता-जन में अति उदार,
वह प्रभु है दानी अपार,
ज्ञानवान, ऐश्र्यवान,
प्रभु, तू हमें ले चल सुपथ। भगवन्, ले चल हमें सुपथ।।
सूर्य समान प्रकाश-युक्त,
करते स्तुति हम भक्ति-युक्त,
जिससे जानें, पाएँ हम
प्रभु, नित्य बढ़कर स्वस्ति पथ। भगवन्, ले चल हमें सुपथ।।

Lead us onward on virtuous path, Oh God! Thou art most liberal distributor of gifts, knower of all knowledge and lighted like the sun. So lead us, in order that we may know and come near to Thee. For this we pray Thee.

६५. ईशे हि शक्रस्तमूतये हवामहे जेतारमपराजितम्।
स नः स्वर्षदति द्विषः क्रतुश्छन्द ऋतं बृहत्।।646।।

[तिस्र 2, ऋचा 6]

शब्दार्थ–(तम्) उस (अपराजितम्) अपराजित (जेतारम्) विजयी को (ऊतये) रक्षा के लिए हम (हवामहे) पुकारते हैं। (हि) क्योंकि (शक्रः) वह शक्तिमान ही रक्षा करने में (ईशे) समर्थ है। (सः) वह (नः) हमारे (द्विषः) पाप और शत्रुओं को (अति) नष्ट कर हमें (स्वर्सत्) प्रकाश देता है, जिससे (ऋतु) हमारे कर्म, (छन्द) स्तुतियां और (ऋतं) सत्य और विश्वास (बृहत्) प्रशस्त हों।

करें केवल प्रभु का आह्वान।
मात्र प्रभु रक्षा में समर्थ,
करते हम हैं इसी अर्थ,
उस विजयी, अपराजित का,
रक्षा हेतु सदा आह्वान। करें केवल प्रभु का आह्वान।।

कर विरोधी, पाप नष्ट,
करे हृद में प्रकाश स्रष्ट,
कर्म, स्तुति, सत अरु विश्वास
करता प्रशस्त वह महान्। करें केवल प्रभु का आह्वान।।

We hail Thee, O Lord undefeated, ever victorious, for our protection. Only Thou—The Almighty is capable for this task. He destroys our enemies and evils and thus brings us light, extending and brightening our Actions, Praises, Truth and Faith in Him.

६६. इन्द्रं धनस्य सातये हवामहे जेतारमपराजितम्। स नः
स्वर्षदति द्विषः। स नः स्वर्षदति द्विषः ॥647॥

[तिस्र 3, ऋचा 7]

शब्दार्थ–(धनस्य) विद्या आदि धन के (सातये) लाभार्थ हम (अपराजितम्) अपराजित (जेतारम्) विजयी (इन्द्र) ऐश्वर्य युक्त प्रभु को (हवामहे) पुकारते हैं। (सः) वह (नः) हमारे (द्विषः) विरोधियों, शत्रुओं और पापों को (अति) नष्ट कर हमें (स्वर्षत्) सुख प्रदान करता है। (सः) वह, (नः) हमारे हृदय की, (द्विषः) घृणा को, (अति) नष्ट कर, (स्वर्षत्) हमें प्रकाशित करता है।

प्रभु को हृदय से पुकारते हैं।।
विजयी, अपराजित प्रभु को,
ऐश्वर्यवान उस विभु को,
करें हम सदैव आह्वान,
विद्या, धन को माँगते हैं। प्रभु को हृदय से पुकारते हैं।।
करें दुष्ट, शत्रु, औ' पाप नष्ट,
करे मन में प्रकाश स्रष्ट,
मिट जाते कलुष, द्वेष सब,
हृदय से यह सब मांगते हैं। प्रभु को हृदय से पुकारते हैं।।

We hail the undefeated, ever victorious and prosperous God for the sake of knowledge and other riches. He grants us bliss, by defeating our enemies, evils and those persons who oppose us. He enlightens our hearts by overcoming our hatred.

६७. पूर्वस्य यत्ते अद्रिवोंऽशुर्मदाय। सुम्न आधेहि नो वसो।
पूर्त्तिः शविष्ठ शस्यते। वशी हि शक्रो नूनं तन्नव्यं
संन्यसे ।।648 ।। [तिस्र 3, ऋचा 8]

शब्दार्थ–(अद्रिवः) हे वज्रधर, (पूर्वस्य) सनातन-काल से हम उपासक गण (मदाय) आनन्द का (अंशु) लेश-मात्र प्राप्त करने के हेतु (ते) तेरे हैं। (वसो) हे हृदयवासी, (नः) हमें (सुम्ने) सुख में, (आधेहि) प्रतिष्ठिति कर। (शविष्ठ) हे बल्ष्ठि, आपका (पूर्ति) पालन-पोषण (शास्यते) प्रशंसनीय हैं (हि) निश्चय से आप (शक्रः) सर्वशक्तिमान (वशी) सबको वश में रखने वाले हैं। (तत) उस (नव्यम्) स्तुति योग्य आपके प्रति मैं (सन्यसे) अपने आपको अर्पित करता हूँ।

हम निज को करते अर्पित।
हैं सनातन तव उपासक,
आनन्द प्राप्ति हित, हे शासक,
हृदयवासी, वज्रधर प्रभु,
कर तू हमें सुख समर्पित। हम निज को करते अर्पित।।
प्रशंसनीय तव पोषण-पालन,
निश्चय समर्थ तेरा शासन,
हे स्तुति योग्य प्रभु तुझे हम,
करते यह जीवन अर्पित। हम निज को करते अर्पित।।

Oh bearer of thounderbolt, for obtaining just a ray of bliss, we worshippers are devoted to Thee since the beginning of time. Oh Shining One, kindly make us happy. Oh Mighty, Thine protection and support for us is praise-worthy and adorable. Oh Almighty and fascinating one, we offer ourselves to Thee, who is worthy of worship.

६८. प्रभो जनस्य वृत्रहन्त्समर्येषु ब्रवावहै। शूरो यो गोषु
गच्छति सखा सुशेवो अद्वयुः ।।649 ।।
[तिस्र 3, ऋचा 9]

शब्दार्थ–(यः) जो (शूरः) शूरवीर, (सखा) मित्र, स्नेही, (सुशेवः) अत्यधिक दयालु, (अद्वयुः) अद्वितीय और (गोषु)

पृथ्वी आदि लोकों में (गच्छति) व्यापक होकर वर्तमान है (वृत्रहन् प्रभो) दुष्ट और पाप निवारक प्रभो (अर्येषु) विद्वत् जनों से (संब्रवाहै) सम्यक् रूप में वार्तालाप कर सकें, ऐसी कृपा कर।

ईश सुनो विनम्र आलाप।
हे सर्वेश, दुष्ट-विनाशक,
सर्वलोक अरु भू में व्यापक,
करो हमें इस योग्य, प्रभो!
कर सकें विद्वानों से वार्तालाप। ईश सुनो विनम्र आलाप।।
हे स्नेही, शूरवीर, मित्र,
दयालु, अद्वितीय, सुचरित्र,
सब विषय में, तव कृपा से,
कर सकें, हम वार्तालाप। ईश सुनो विनम्र आलाप।।

May we properly converse with wise persons about Him who is Lord of the universe, brave, unique, extremely kind and a friend, who pervades earths and skies and kills enemies and evils.

६९. एवा ह्ये३व एवा ह्यग्ने। एवाहीन्द्र। एवा हि पूषन् एवा हि देवाः ॐ एवाहि देवाः ॥650॥

[पंच पुरीष पद, ऋचा 10]

शब्दार्थ–(एव) वही (हि) निश्चय (एव) वही प्रभु है। (एव) वही (हि) निश्चय (अग्नि) अग्नि है। (एव) वही (हि) निश्चय से (इन्द्र) इन्द्र है। वही (हि) निश्चय (पूषन्) पालक-पोषक है। (एव) वही (हि) निश्चय से (देवाः) अनेक नाम युक्त प्रभु है। (ॐ) प्रभु (एव) वह प्रभु ही (हि) निश्चय से (देवाः) समस्त देवगण है।

वही है, एकमात्र वही।
निश्चय से है प्रभु वही,
अग्नि वह, और इन्द्र वही,
पूषन वही, पालक वही
देव-गण हैं समस्त वही। वही हैं, एकमात्र वही।।

हैं अनेक नाम ईश के,
सम्बोधन विविध ईश के,
किन्तु सबसे समझो मात्र
ओम् वही, एक प्रभु वही। वही है, एकमात्र वही।।

Only He is. No doubt only He, God , is. Surely He is Fire or *Agni*. Surely, He is *Indra*. Surely, He is *Indra*. Surely, He is Nurture or *Pushan*. Surely, He is many divine beings with so many names, Surely, God or *Om* is many divine beings, with so many names.

(ग) उत्तरार्चिक (Uttararchik—The Last Part)

७०. इन्द्र जुषस्व प्रवहा याहि शूर हरिह। पिबा सुतस्य मतिर्न मधोश्चकानश्चारुर्मदाय ।।925 ।।

[अध्याय 5, खण्ड 7, तृच 3, ऋचा 1]

शब्दार्थ–(शूर) हे शूरवीर (इन्द्र) प्रभु, आप (हरिह) दस्यु नाशक और दुख हरणकर्ता हैं, (जुषस्व) हम पर प्रसन्न हों। (प्रवाह) उसके प्रति प्रवाहित होकर, (मतिः न) बुद्धिमान जन के समान (प्रयाहि) उसे प्राप्त करो। वह (चारुः) सुन्दर है, उस (सुतस्य) साक्षात्कार सम्पन्न प्रभु का (मधु) अमृत (मदाय) आनन्द प्राप्ति हेतु, (चकानः) तृप्त होकर (पिब) पान करो।

तृप्त हो, करो ईश-मधु-पान।
शूरवीर को कर प्रसन्न,
दुख-हरण के हो आसन्न,
रिपुनाशक को करो प्राप्त,
बुद्धिमान-जन के समान। तृप्त हो, करो ईश-मधु-पान।।
रमणीय को साक्षात् कर,
शोभित को आत्मसात् कर,
परम आनन्द प्राप्ति हेतु
तृप्ति पूर्ण करो मधु-पान। तृप्त हो, करो ईश-मधु-पान।।

Try to please that brave, conquerer, killer of evils and enemies and remover of all sorrows. Like wise men move and flow towards and approach Him. After getting to the beautiful and shining, drink nectar to your complete satisfaction for eternal bliss.

७१. इन्द्र जठरं नव्यं न पृणस्व मधोर्दिवो न। अस्य सुतस्य स्वाऽ३र्नोप त्वा मदाः सुवाचो अस्थुः ॥953॥

[अध्याय 5, खण्ड 7, तृच 3, ऋचा 2]

शब्दार्थ–(जठरं) अति प्राचीन, फिर भी (नव्यं) नवीन के (न) समान, (मधोः) आनन्ददायक प्रभु की (दिवः) दिव्य और उत्तम पुरुष के (न) समान (पृणस्व) अपने हृदय में उसकी अभिवृद्धि करो। (अस्य) इस (सुतस्य) स्तुति प्राप्त प्रभु का (त्वा) आप (सुवाचः) सुन्दर वाणियों की प्रेरक (मदाः) तृप्तियां (स्वः न) सूर्य की किरणों के समान (उप अस्थु) तुझे प्राप्त हो।

भरो हृदय में प्रभु की लगन।
दिव्य गुण युत जन के तुल्य,
प्रशंसनीय मनुज के तुल्य,
प्राचीन है वह तदपि नवीन,
प्रभु में हो जाओ मगन। करो हृदय में प्रभु की लगन॥
तुम आनन्द में मग्न होकर,
मधुर वाणी को कण्ठ में भर,
स्तुत-ईश के निकट होकर
हृदय में हो प्रभु में मगन। करो हृदय में प्रभु की लगन॥

Like a wise and divine person increase your devotion to this ancient, yet modern and new, victorious God. Singing His praises in joyous, sweet and loud voice approach near Him, who already has been praised.

७२. इन्द्रस्तुराषाण्मित्रो न जघान वृत्रं यतिर्न। बिभेद वलं भृगुर्न ससाहे शत्रून्मदे सोमस्य ॥954॥

[अध्याय 5, खण्ड 7, तृच 3, ऋचा 3]

शब्दार्थ–(राषा) शीघ्र अन्धकार और शत्रुओं को समाप्त कर देने वाला (इन्द्रः) प्रभु (मित्रः न) मित्र के समान, (यतिः न) सन्यासी के समान, (भृगुः न वलम्) सूर्य के समान आवरण को (सोमस्य) सौम्य उपासक जन के (वृत्रम्) हृदय-अन्धकार और शत्रुओं को (जघान) समाप्त कर देता है। इन (शत्रुन्) शत्रुओं को (मदे) हर्षित होकर (विभेद) छिन्न-भिन्न कर (ससाहे) पराजित कर देता है।

प्रभु दूर करो हृदय अन्धेरा,
तुम हो मित्र-सम हितकारी,
ऐश्वर्य-युक्त सुखकारी,
सूर्य-सम प्रकाशकारी,
करो दूर हृदय अंधेरा। प्रभु दूर करो हृदय अन्धेरा।।
प्रभु दूर करो हृदय अंधेरा,
साथ ही हर्ष से भरकर,
तुरत शत्रु-मर्दक बनकर,
सौम्य-जन के शत्रु-जन भी,
करता समस्त, कर प्रहारा। प्रभु दूर करो हृदय अन्धेरा।।

God destroys the darkness and evils of His gracious devotees, like a friend, like an ascetic and like the Sun. With joy He quickly disperses the strength of these enemies and evils and thus defeats them.

७३. पावमानीः स्वस्त्ययनीः सुदुधा हि घृतश्चुतः। ऋषिभिः संभृतो रसो ब्राह्मणेष्वमृतं हितम्।।1300।।

[अध्याय 10, खण्ड 7, ऋचा 3]

शब्दार्थ–(ऋषिभिः) ज्ञानी पुरुषों ने जो (रसः) प्रभु की स्तुतियां (संभृतः) एकत्रित की हैं, वे (पावमानी) पवित्रकारी, (स्वस्त्ययनीः) कल्याणकारिणी, (सुदुधाः) अत्यधिक फलदायिनी और (हि) निश्चय (धृतश्चुतः) प्रकाश से पूरित हैं। (ब्राह्मणेषु) प्रभु की खोज करने वाले पवित्र व्यक्तियों के लिए ये (अमृतम्) अमृत के समान (हितम्) हितकारी हैं।

प्रभु-स्तुतियां हैं हितकारी।
ज्ञानियों द्वारा एकत्रित,
स्तुतियां ये प्रकाश-पूरित,
कल्याणकारिणी हैं, ये सब,
फलदायिनी, पवित्रकारी। प्रभु स्तुतियां हैं हितकारी।।
ईश खोजो पवित्र जन हित,
स्तुतियां ये प्रेरणा-पूरित,
मधुर गान ये भक्ति-युक्त,
अमृत सदृश हैं हितकारी। प्रभु स्तुतियां हैं हितकारी।।

God's praises, compiled by saints and sages, are purifying, beneficial, extremely fruitful and certainly flowing with shine for holy persons, who are God's seekers, these praises are like nectar.

७४. पावमानीर्दधन्तु न इमं लोकमथो अमुम्।
कामान्त्समर्द्धयन्तु नो देवीर्देवैः समाहृताः ॥1301॥

[अध्याय 10, खण्ड 7, ऋचा 4]

शब्दार्थ–(देवीः) दिव्य-गुण-युक्त (पावमानीः) पवित्रकारी स्तुतियां (नः) हमारे (इमम्) इस (लोकम्) और (अमुम्) उस लोक को (दधन्तु) प्रकाशित करें। (अथो) और (देवेः) विद्वानों द्वारा (समाहृता) संग्रहित ये स्तुतियां (नः) हमारी इन (कामान्) अभिलाषित कामनाओं की (समर्द्धयन्तु) उत्तरोत्तर वृद्धि करें।

प्रभु-स्तुतियां ये करें प्रकाशित।
दिव्य गुण युत पवित्रकारी,
प्रभु-स्तुतियां ये हितकारी,
हमारे इस जग को करें
दृढ़, उत्तम और सुभाषित। प्रभु-स्तुतियां ये करें प्रकाशित।।
ज्ञानियों द्वारा संग्रहित,
विद्वत् जन से विस्तारित,
शुभ कामनाओं की वृद्धि
कर, शुभ को करें प्रसारित। प्रभु-स्तुतियां ये करें प्रकाशित।।

Divine and purifying; these praises enlighten our this world. Compiled and collected by divine persons, these praises increase our longings for the good and the beautiful.

७५. येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा।
तेन सहस्त्रधारेण पावमानीः पुनन्तु नः ॥1302॥

[अध्याय 10, खण्ड 7, ऋचा 5]

शब्दार्थ–(देवाः) दिव्य-गुण-युक्त-पुरुष (येन) जिस (पवित्रेण) पवित्रता से (आत्मानं) स्वयं को (सदा) सदैव (पुनते) पवित्र करते हैं, (तेन) उसी (सहस्त्र धारेण) असंख्य रीति से (पावमानीः) पवित्रकारी प्रभु-स्तुतियां (नः) हमें (पुनन्तु) पवित्र करें।

स्तुतियां हमको करें पुनीत।
दिव्य-जन जैसे करें पवित्र,
स्वयम् को, बनाएँ सच्चरित्र,
प्रभु की स्तुतियां भी हमको
हर विधि करें पुनीत। स्तुतियां हमको करें पुनीत।।
असंख्य-विधि शक्तिदायिनी,
पूर्ण पवित्रता प्रदायिनी,
ये प्रभु की स्तुतियां हमको
श्रेष्ठ बनाकर करें पुनीत। स्तुतियां हमको करें पुनीत।।

Divine persons always purify themselves with means of purification, God's praises, strengthen us in many ways and purify us.

७६. पावमानीः स्वस्त्ययनीस्ताभिर्गच्छति नान्दनम्।
पुण्यांश्च भक्षान्भक्षयत्यमृतत्वं च गच्छति ।।1303 ।।

[अध्याय 10, खण्ड 7, ऋचा 6]

शब्दार्थ–(पावमानीः) पवित्र कारिणी, (स्वस्त्ययनीः) कल्याणकारिणी (ताभिः) उन प्रभु-स्तुतियों से मनुष्य (नान्दनम्) आनन्द को (गच्छति) प्राप्त करता है, (च) और वह (पुण्यान्) पुण्यों को (भक्षान्) अपना कर उन्हें (भक्षयति) आत्मसात् कर लेता है और (अमृतत्वं) अमरता को (गच्छति) प्राप्त कर लेता है।

प्राप्त करे मनुज आनन्द।
ये स्तुतियां पवित्रकारिणी,
हर विधि कल्याणकारिणी,
इनके फल स्वरूप पाता,
मनुष्य, मोह अरु आनन्द। प्राप्त करे मनुज आनन्द।।
पुण्यों को अपना कर के,
उन्हें आत्मसात् कर के,
करता प्राप्त नर अमरता,
हो, जाता परम आनन्द। प्राप्त करे मनुज आनन्द।।

With purifying one-self and with beneficial God's praises, a person obtains joy and bliss. After attaining virtues, he imbibes them and attains immortality.

७७. अग्ने विश्वेभिरग्निभिर्जोषि ब्रह्म सहस्कृत।
ये देवत्रा य आयुषु तेभिर्नो महया गिरः ॥1503 ॥

[अध्याय 14, खण्ड 2, ऋचा 1]

शब्दार्थ–हे (सहस्कृत) शक्तिदाता (अग्ने) अग्नि-स्वरूप प्रभु, अपने (विश्वेभिः) समस्त (अग्निभिः) स्वरूपों से (ब्रह्म) अपने ज्ञान को (जोषि) प्रसन्नता पूर्वक प्रदान कर (ये) जो (देवत्रा) दिव्य-गुण सम्पन्न और (आयुषु) आत्मदर्शी दीर्घायु वाले व्यक्ति हैं, (तेभिः) उन सब के साथ (नः) हमारी (गिरः) स्तुति वाणियों को भी (महय) महिमा सम्पन्न कर।

करो स्तुति-वाणियां महान।
शक्ति दाता, अग्नि स्वरूप,
हे भगवन, आनन्द रूप,
विचरण कर तुम विविध रूप,
करते प्रसन्नता प्रदान। करो स्तुति-वाणियां महान।।
जो नर हैं दिव्य-गुण युक्त,
आत्मदर्शी, आत्म-प्रयुक्त,
साथ उनके हमारी स्तुति
वाणियां भी करो महान। करो स्तुति-वाणियां महान।।

Oh God, giver of strength, while Thou movest in Thy various forms. Thou giveth joy and pleasure, Kindly make our voices of praise joyful and great, like the voice of those persons who have divine qualities and are drawn inward.

७८. प्र स विश्वेभिरग्निभिरग्निः स यस्य वाजिनः।
तनये तोके अस्मदा सम्यङ् वाजैः परीवृतः ॥1504 ॥

[अध्याय 14, खण्ड 2, ऋचा 2]

शब्दार्थ–(सः) वह प्रभु (यस्य) जिसकी कृपा से हम (वाजिनः) अन्न और बल से (प्र) पूर्ण होते हैं, (सः) वह (अग्निः) प्रभु अपने (विश्वेभिः) समस्त (अग्निभिः) स्वरूपों में (अस्मत्) हमारी (तनये तोके) सन्तानों और वंशधरों को (वाजैः) अन्न और बल से (सम्यङ्) पूर्णतया (परीवृतः) युक्त और परिवेष्ठित करे।

सन्तति को दे अन्न औ' बल।
परमेश की कृपा से हम,
प्राप्त करते निशिदिन स्वयम्,
विविध धान्य, अन्नादि और,
शत्रु विनाशक शक्ति औ' बल। सन्तति को दे अन्न औ' बल।।
वह प्रभु निज विविध रूप में,
अपने नाना नाम रूप में,
हमारी सन्तान को दे,
सम्यक् रूप में अन्न औ' बल। सन्तति को दे अन्न औ' बल।।

God, by whose grace we are endowed with riches and strength, may, in His all forms, bestow our children and offsprings riches and strength.

७९. सुमन्मा वस्वी रन्ती सूनरी ।।1654।।

[अध्याय 17, खण्ड 4, तृच 3, ऋचा 1]

शब्दार्थ–हे प्रभु मेरी वाणी (सुमन्मा) उत्तम स्तुति, आनन्द और निष्ठापूर्ण, (वस्वी) समृद्ध, (रन्ती) रमणीय और (सूनरी) आनन्द और सत्य पूर्ण हो।

मेरी स्तुति हो आनन्द पूर्ण।
हे भगवन, आनन्द रूप,
प्रकाशमान, ज्योति स्वरूप,
मेरी वाणी यह हो सदैव,
मेरी स्तुति हो आनन्द पूर्ण। मेरी स्तुति हो आनन्द पूर्ण।।
रमणीयता से अभिवृद्ध,
यह वाणी हो हर विधि समृद्ध,
सदा रहे उत्तम स्तुति युत,
आनन्द पूर्ण और सत्य पूर्ण। मेरी स्तुति हो आनन्दपूर्ण।।

Oh God, my voice be always full of excellent praises, devoted to Thee, rich, beautiful, joyful and truthful.

८०. सरूप वृषन्ना गहीमौ भद्रौ धुर्यावभि। ताविमा उप सर्पतः ।।1655।।

[अध्याय 17, खण्ड 4, तृच 3, ऋचा 2]

शब्दार्थ–(सरूप) प्रत्येक वस्तु में समान रूप से वर्तमान, (वृषन्) सुख-वर्षक, हे प्रभु हमारी (इमौ) इन ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों दोनों को जो (भद्रौ) उत्तम और मित्रतापूर्ण तथा (धुर्यो) पूर्णतया समर्थ हैं, (अभि) व्याप्त कर हमें (आगहि) प्राप्त हो। (तौ) दोनों (इमौ) ये इन्द्रियां हमें (उप सर्पत) निश्चय तेरे निकट लाएँ।

हे प्रभु तू हो हमें प्राप्त।
सर्वत्र समान वर्तमान,
हे सुख-वर्षक प्रभु महान,
इन इन्द्रियों को व्याप्त कर
पूर्ण रूप हो हमें प्राप्त। हे प्रभु, तू हो हमें प्राप्त॥
इन्द्रियां ये श्रेष्ठ, समर्थ,
मित्रता पूर्ण हैं तेरे अर्थ,
ला रहीं निकट हमको वे,
करुणा-निधि हों हमें प्राप्त। हे प्रभु तू हो हमें प्राप्त॥

Present in everything in uniform, Oh God, giver of happiness, come close to us by approaching our organs of sense and organs of action, which are friendly, responsible and stable. Both these organs are bringing us nearer and ever nearer to Thee.

८१. नीव शीर्षाणि मृद्व मध्य आपस्य तिष्ठति।
शृङ्गेभिर्दशभिर्दिशन्॥1656॥

[अध्याय 17, खण्ड 4, तृच 3, ऋचा 3]

शब्दार्थ–(आपस्य) प्राप्त देह के (मध्य) बीच में जो मन (तिष्ठति) बैठा है, उसके (शीर्षाणि) सम्मुख स्थित इन्द्रियों को, (निमृद्वयम्) शुद्ध करके (इव) इस प्रकार (दशभिः) दसों इन्द्रियों को, (शृङ्गेभिः) उच्च बनाकर उस प्रभु के (दिशन्) सम्मुख करो।

सम्मुख करो जगदीश के।
प्राप्त शरीर के मध्य स्थित,
मन जो फिरे अव्यवस्थित,
इन्द्रियों को शुद्ध कर, तुम,

खुद सम्मुख करो ईश के। सम्मुख करो जगदीश के।।
दसों इन्द्रियां उच्च बना,
इन्द्रिय प्रशासक मन बना,
निज नयन सम्मुख करो तुम
उस जगदुपास्य ईश के। सम्मुख करो जगदीश के।।

In the midst of the body, which you have acquired, sits the mind. In front of this mind are organs of senses and action. Purify and elevate these ten organs and thus place them before God. The idea is that the organs and the mind should think of God and God only.

८२. ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम्।
अजस्त्रं धर्ममीमहे ।।1708 ।।

[अध्याय 18, खण्ड 4, तृच 4, ऋचा 1]

शब्दार्थ–(ऋतावानं) सत्यवान, (वैश्वानरम्) सर्वत्र व्याप्त और स्तुत, (ऋतस्य) सच्चे (ज्योतिष:) तेज के (पतिम्) स्वामी, (अजस्रम्) सर्वकाल विद्यमान, (धर्मम्) देदीप्यमान प्रभु को हम (ईमहे) पुकारते हैं।

ईश्वर को हम पुकारते।
सर्वत्र स्तुत अरु सत्यवान,
जो रहे सदा विद्यमान,
ऐसे न्याय युक्त प्रभु को
हम स्तुति कर हैं पुकारते। ईश्वर को हम पुकारते।।
वह प्रभु है सत्य, तेज पति,
करता नष्ट समस्त कुमति,
निज पवित्रता अरु मुक्ति हित
मन-भावन को पुकारते। ईश्वर को हम पुकारते।।

We hail God, who is truthful, present and worshipped everywhere, lord of true light, omnipresent and just.

८३. य इदं प्रतिपप्रथे यज्ञस्य स्वरूत्तिरन्।
ऋतूनुत्सृजते वशी ।।1709 ।।

[अध्याय 18, खण्ड 4, तृच 4, ऋचा 2]

शबदार्थ–(यज्ञस्य) उपासना यज्ञ के फलस्वरूप (यः) जो प्रभु (स्वः) सुख और ज्योति को (उत्तिरन्) बढ़ाता है और जो (इदम्) इस जगत् में (प्रति) सब ओर (पप्रथे) व्याप्त है, वही (वशी) निज बल और चमत्कार से (ऋतून्) विभिन्न ऋतुओं को (उत्सृजते) उत्पन्न करता है।

वह करे ऋतुएँ उत्पन्न।
उपासनारूपी यज्ञ से,
जो सुख की वर्षा करे,
व्याप्त होकर इस जगत् में,
सब ज्योतियों को उत्पन्न करे। वह करे ऋतुएं उत्पन्न।।
वही ईश बल अपार से,
निज अद्भुत चमत्कार से,
निश्चित रूप करता विविध,
मनोहारी ऋतु उत्पन्न। वह करे ऋतुएँ उत्पन्न।।

On account of worship, who contributes to our happiness, He creates light and pervades this universe, The same God by His strength and magic creates all different seasons.

८४. अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य।
सम्राडेको विराजति ।।1710।।

[अध्याय 18, खण्ड 4, तृच 4, ऋचा 3]

शब्दार्थ–(भूतस्य) भूतकाल और (भव्यस्य) भविष्यत् काल के प्राणियों द्वारा (कामः) वांछित (सम्राट्) उत्तम रीति से प्रकाशमान (एकः) अद्वितीय (अग्निः) प्रभु (प्रियेषु) प्रिय (धामेषु) लोकों में (विराजति) विराजमान है।

सब लोकों में है विराजमान।
वांछित जो था भूतकाल,
रहेगा फिर भविष्य काल,
समस्त जनों द्वारा इच्छित,
वह प्रकाशवान भगवान। सब लोकों में हे विराजमान।।

जन-जन चहेता सम्राट्,
वह अद्वितीय प्रभु विराट्,
सर्वत्र व्याप्त, ज्योति-स्वरूप
सब प्रिय-धाम में है विद्यमान। सब लोकों में है विराजमान।।

God, who was desired by the people of past and who will be desired by the people in future, is the ruler of all these worlds. he is sovereign, unique, bright and shining.

८५. त्वामिच्छवसस्पते यन्ति गिरो न संयतः ।।1769।।

[अध्याय 20, खण्ड 1, तृच 2, ऋचा 2]

शब्दार्थ–(संयतः न) संयत पुरुषों की जिस प्रकार प्रशंसा की जाती है, (शावसः पते) हे बल के स्वामी प्रभु, (त्वां) आपको (गिरः) स्तुति वाणियां उसी प्रकार (यन्ति) प्रदान की जाती हैं।

वैसी ही हो ईश-प्रशंसा।
संयत हैं जो उत्तम जन,
योग्य प्रशंसा विद्वत् जन,
उनकी जैसे करते सब,
मुक्त कण्ठ से सदा प्रशंसा। वैसी ही हो ईश प्रशंसा।।
हे प्रभु, सब बल के स्वामी,
समस्त जग के हो तुम हामी,
स्तुति-वाणियां करें सब वैसी
तव भगवन् नित्य प्रशंसा जैसी। वैसी ही हो ईश प्रशंसा।।

Lord of might, as all people praise those persons who attain self-control and are self possessed, in a similar manner our voices sing Thine praises and glorify Thee.

८६. अग्निरिन्द्राय पवते दिवि शुक्रो वि राजति।
महिषीव विजायते ।।1825।।

[अध्याय 21, खण्ड 2, सूक्त 4, ऋचा 1]

शब्दार्थ–(अग्निः) प्रभु, (इन्द्राय) आत्मा को (पवते) पवित्र करता है और (दिवि) प्रकाशमान हृदयाकाश में (शुक्रः) स्पष्ट रूप से (विराजति) शोभति हो जाता है। (महिषी) उत्तम माता के (इव) समान (विजायते) विविध रूपों में प्रकट होता है।

आत्मा को प्रभु करे पवित्र।
प्रकाशित जो हृदयाकाश,
स्थित हो उसमें बन प्रकाश,
अग्नि रूप कृपालु भगवान,
यत्न से आत्मा को करे पवित्र। आत्मा को प्रभु करे पवित्र।।
उत्तम माता के समान,
हृद स्थित प्रभु शोभायमान,
आत्मा का पालन-पोषण
करता, करके उसे पवित्र। आत्मा को प्रभु करे पवित्र।।

God purifies the soul and with grace enter the enlightened heart in an enlightened form. He, like a good mother, nurses this soul.

८७. नम सखिभ्यः पूर्वसद्भ्यो नमः साकन्निषेभ्यः।
युञ्जे वाचं शतपदीम्।।1828।।

[अध्याय 21, खण्ड 2, सूक्त 7, ऋचा 1]

शब्दार्थ–(पूर्व सद्भ्यः) मुझसे पूर्व प्रभु की साधना में संलगन व्यक्तियों को (नमः) मैं नमस्कार करता हूं। (साकन् निषेभ्यः) प्रभु की साधना में साथ बैठे (सखिभ्यः) मित्र-गण को भी (नमः) मैं नमस्कार करता हूं। (शतपदी) असंख्य प्रकार प्रस्तुत, असंख्य पद युक्त (वाचः) स्तुति वाणियों को मैं (युञ्जे) प्रभु की प्रशंसा में युक्त करता हूं।

करता सबको हूं नमस्कार।
मुझ से पूर्व जो थे मग्न,
प्रभु-साधना में संलग्न,
उन सब जन को विनय-पूर्ण,
मेरा नमन हो स्वीकार। करता सबको हूं नमस्कार।।
नाना विधि से स्तुति करता हूं,
नाना नामों से स्मरण करता हूं,
साधना में युक्त जो मेरे मित्र,
उन्हें मेरा नमन हो स्वीकार। करता सबको हूं नमस्कार।।

I bow to those people who were engaged in God's worship before me. I also bow to these friends who are sitting with me in His worship. In innumerable ways and in innumerable praises. I apply my voice for the worship of God.

८८. युञ्जे वाचं शतपदीं गाये सहस्त्रवर्तनि।
गायत्रं त्रैष्टुभ जगत् ॥1829॥

[अध्याय 21, खण्ड 2, सूक्त 7, ऋचा 2]

शब्दार्थ–(गायत्रं) गायत्री, (त्रैष्टुभ) त्रिष्टुप्, और (जगत्) जगती छन्दों में आबद्ध (सहस्त्र वर्त्तनि) अनेक प्रकार से गायी जाने वाली और (शतपदी) अनेक पदों से युक्त (वाचं) स्तुति वाणी को (युञ्जे) प्रभु से युक्त कर (गाये) मैं गाता हूं।

गाता हूं मैं स्तुति-वाणी।
गायत्री, त्रिष्टुप अरु छन्द
जगती करूँ स्तुति स्वच्छन्द,
इन तीनों छन्दों से युत,
विविध-पदी गाऊँ वाणी। गाता हूं मैं स्तुति-वाणी॥
श्रद्धा-भक्ति से कर युक्त,
जगदीश से कर संयुक्त,
विविध रूप जो गान युक्त
वह गाता मैं स्तुति-वाणी। गाता हूं मैं स्तुति-वाणी॥

Meditating God, I sing with my voice God's praises, in *Gayatri*, *Trishtup* and *Jagati* hymns, which are sung in innumerable ways and have countless steps.

८९. गायत्रं त्रैष्टुभं जगत् विश्वा रूपाणि सम्भृता।
देवा ओकांसि चक्रिरे ॥1830॥

[अध्याय 21, खण्ड 2, सूक्त 7, ऋचा 3]

शब्दार्थ–(गायत्रं) गायत्री, (त्रैष्टुभम्) त्रिष्टुप् और (जगत्) जगती इन छन्दों के (विश्वा) समस्त (रूपाणि) रूपों को (संभृता) अपना और एकत्रित कर (देवा) दिव्य-गुण-युक्त व्यक्तियों अर्थात् विद्वानों ने इन्हें प्रभु स्तुति के हेतु (ओकांसि) शरण स्थल (चक्रिरे) बना लिया है।

जगदीश स्तुति-हित शरण-स्थल।
दिव्य गुणी विद्वानों ने,
क्रान्तदृष्टा मुनि जनों ने,
गायत्री आदि छन्दों को
बना लिया स्तुति आश्रय स्थल। जगदीश स्तुति-हित शरण-स्थल।।
इन छन्दों के सर्व रूप,
एकत्रित कर, दे शुभ स्वरूप,
ईश स्तुति के हेतु उन्हें,
बना लिया निज आश्रय स्थल। जगदीश स्तुति-हित शरण-स्थल।।

The wise persons, with divine qualities, have made refuge, a shelter for protecton, all forms of *Gayatri, Trishtup* and *Jagati* hymns, after collecting and adopting.

९०. अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः इन्द्रोज्योतिः ज्योतिरिन्द्रः ।
सूर्यो ज्योतिः ज्योतिः सूर्यः ॥1831॥

[अध्याय 21, खण्ड 2, सूक्त 8, ऋचा 1]

शब्दार्थ–(अग्निः) अग्नि (ज्योतिः) ज्योति-स्वरूप प्रभु है। (ज्योतिः) ज्योति-स्वरूप प्रभु ही (अग्निः) अग्नि है। (इन्द्रः) इन्द्र भी (ज्योतिः) ज्योति-स्वरूप प्रभु है। (ज्योतिः) ज्योति-स्वरूप प्रभु ही (इन्द्रः) इन्द्र है। (सूर्यः) सूर्य, (ज्योतिः) ज्योति-स्वरूप प्रभु है। (ज्योतिः) ज्योति-स्वरूप प्रभु ही, (सूर्यः) सूर्य हैं। अर्थात् अग्नि, इन्द्र, सूर्य, सब ही ज्योति-स्वरूप प्रभु हैं।

भिन्न-भिन्न सब रूप है ईश।
अग्निरूप है, ज्योतिरूप है ईश,
ज्योतिरूप है, अग्निरूप है ईश,
इन्द्ररूप है, ज्योतिरूप है ईश,
ज्योतिरूप है, इन्द्ररूप है ईश। भिन्न-भिन्न सब रूप है ईश।।
सूर्यरूप है, ज्योतिरूप है ईश,
ज्योतिरूप है, सूर्यरूप है ईश,
अग्नि, इन्द्र, अरु सूर्य ज्योति
सब ही, विभिन्न रूप है ईश। भिन्न-भिन्न सब रूप है ईश।।

Agni or Fire is illuminating God. Illuminating God is *Indra. Surya* or Sun is illuminating God. Illuminating God is *Surya* or Sun. All these forms represent God.

९१. पुनरूर्जा नि वर्तस्व पुनरग्न इषायुषा।
पुनर्नः पाह्यंहसः ।।1832 ।।

[अध्याय 21, खण्ड 2, सूक्त 8, ऋचा 2]

शब्दार्थ–(अग्ने) हे प्रभु, आप (ऊर्जा) बल और (इषा) अन्न-जल आदि, (आयुषा) जीवन शक्ति प्रदान करने वाले साधनों से, (पुनः पुनः) बार-बार, (निवर्तस्व) हमारे पास आओ, और पालन-पोषण करो। (पुनः) बार-बार, (नः) हमें, (अंहसः) संकट और पाप से, (पाहि) बचाओ।

बार-बार कर प्रभु पोषण।
हे ईश अन्न, जल, बल से,
जीवन, शक्ति, बल, सबल से,
तू बारम्बार हमारा,
कर सदैव पालन-पोषण। बार-बार कर प्रभु पोषण।।
अरु संकट और पाप से,
रिपु-जन-प्राप्त संताप से,
सदैव कर हमारा रक्षण,
उचित रूप कर तू पोषण। बार-बार कर प्रभु पोषण।।

May God, support us continuously with strength, food, drinks and vital things in life. Similarly protect and save us always from troubles, evils, enemies and sins.

९२. सह रय्या नि वर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया।
विश्वप्स्न्या विश्वतस्परि ।।1833 ।।

[अध्याय 21, खण्ड 2, सूक्त 8, ऋचा 3]

शब्दार्थ–(अग्ने) हे प्रभु! (रय्या) धन, सम्पत्ति और ऐश्वर्य के (सह) साथ, (निवर्तस्व) हमारे पास आइये (विश्वतः परि) सर्वश्रेष्ट और (विश्वप्स्न्या) समस्त पाप नाशक, (धारया) अपनी कृपा धारा से हमें, (पिन्वस्व) पुष्ट करो।

करो पुष्ट निज कृपा की धार।
करो प्रभु हमें भरपूर प्यार,
दे ऐश्वर्य, सम्पदा और धन,
सन्तोष में हमें हमारा मन,
करो पुष्ट निज कृपा-अपार। करो पुष्ट हे कृपा के आधार।।
सर्व-ज्ञात निज करुणा से,
पाप-विनाशक निज गरिमा से,
ईश, हमें परिपुष्ट करो,
सर्वोत्तम कृपा की अपार धार। करो पुष्ट निज कृपा की धार।।

Oh God, support us with riches and prosperity. With Thine splendid and evil destroying kind support, make us well and strong.

९३. अभि वाजी विश्वरूपो जनित्रं हिरण्ययं विभ्रदत्कं सुपर्णः। सूर्यस्यभानुमृतुथा वसानः परि स्वयं मेधमृज्रो जजान ॥1843 ॥

[अध्याय 21, खण्ड 3, तृच 4, ऋचा 1]

शब्दार्थ–(वाजी) बलवान, (विश्व रूपः) समस्त रूप धारणकर्ता, (सुपर्णः) सुन्दर, (ऋतुथा) नियम से, (सूर्यस्य) सूर्य की, (भानुम्) किरणों को, (वसानः) प्रकाशित करने वाला, (हिरण्ययम्) ज्योति-पूर्ण, (अत्कम्) सर्वत्र विचरण कर्ता, (जनित्रम्) उत्पन्न सृष्टि का, (विभ्रतः) पोषण करता हुआ, (ऋजः) जगत् का स्वामी प्रभु, (मेधम्) बुद्धि को, मेधा को, (परि) पूर्णतया, (अभि) प्रेरित कर (स्वयम्) अपने-आप हृदय में (जजान) उत्पन्न हो जाता है।

स्वयं हृद् में होता उत्पन्न।
बली, समस्त रूप धारी,
ज्योतिपूर्ण, जग संचारी,
नियमित रूप सूर्य, किरणों,
में, प्रकाश को करे सम्पन्न। स्वयं हृद् में होता उत्पन्न।।

उत्पन्न सृष्टि का पोषक, विभु,
सर्वत्र विचरण करता प्रभु,
बुद्धि को पूर्ण प्रेरित कर,
स्वयं हृदय में होता उत्पन्न। स्वयं हृद् में होता उत्पन्न।।

God, who is mighty, present in various forms, beautiful, shines with rays of the sun with regularity, imperishable and illuminating, impells the intellect and then takes birth in the heart involuntarily.

९४. अप्सु रेतः शिश्रिये विश्व रूपं तेजः पृथिव्यामधि यत्सम्बभूव। अन्तरिक्षे स्वं महिमानं मिमानः कनिक्रन्ति वृष्णो अश्वस्य रेतः ॥1844॥

[अध्याय 21, खण्ड 3, तृच 4, ऋचा 2]

शब्दार्थ–(यत्) जो प्रभु! (अप्सु) बिना भोजन, (रेतः) बीज में, (शिश्रिये) निवास करता है और जो (पृथिव्याम्) पृथ्वी में, (अधि) विपुल और विविध रूप में, (संबभूव) उत्पन्न होता है, वही (विश्वरूपम्) समस्त रूप धारी, (तेजः) तेजस्वी, (वृष्णः) वर्षा करने वाली, (अश्वस्य) विद्युत् की (रेतः) शक्ति बन कर (अन्तरिक्षे) आकाश में, (स्वं) अपनी (महिमानम्) महिमा को, (मिमानः) प्रकट करता हुआ (कनिक्रन्ति) गर्जना करता है।

नभ में करता वह गर्जन।
जो बीज में करे निवास,
आहार बिन लेवे श्वास,
अनेक रूप धर जगत में,
जो पैदा, वह हर्ष-वदन। नभ में करता वह गर्जन।।
नभ में महत्व करे प्रकट,
वह प्रभु तेजस्वी, औघट,
वर्षक विद्युत् की प्रचण्ड
शक्ति बन, करे वह गर्जन। नभ में करता वह गर्जन।।

Which stays in the seed without taking food and which exists in the world in many forms, the same brilliant, vital and many faced God, assuming the form of energy of electricity, which causes rain, roars in the sky, showing His greatness and might.

९५. अयं सहस्रा परि युक्ता वसानः सूर्यस्य भानुं यज्ञो दाधार। सहस्रदाः शतदा भूरिदावा धर्ता दिवो भुवनस्य विश्पतिः ॥1845॥

[अध्याय 21, खण्ड 3, तृच 4, ऋचा 3]

शब्दार्थ–(अयं) यह, (दिवः) आकाश का, (धर्त्ता) धारण-कर्ता, (भुवनस्य) जगत् की, (विश्वपतिः) प्रजाओं का पालक, (सहस्रदाः) सहस्रों वस्तुओं का दाता, (शतदाः) सैकड़ों पदार्थों का दाता, (भूरि दावाः) अपरिमित वस्तुओं का दाता है। वह, (यज्ञः) यज्ञकर्ता (सूर्यस्य युक्ता) सूर्य से संबद्ध (सहस्रा) हज़ारों, (भानुम्) किरणों को, (परि) पूर्णतया, (वसानः) प्रकाशित करता हुआ, (दाधार) धारण किये हुए है।

हे ईश्वर महान् दाता।
वह प्रभु, जो नभ का धर्ता,
जगत् प्रजा, पालन-कर्ता,
शत अरु सहस्र वस्तु दाता,
है अपरिमित, बहुल दाता। है ईश्वर महान् दाता।।
पूजन योग्य वह जगदीश,
असीमित दाता वह जगदीश,
सहस्र रवि की किरणों से,
जग को प्रकाशित करे विधाता। है ईश्वर महान् दाता।।

This bearer of sky and supporter of the people of the world, is a bestower of hundred, thousand and unlimited gifts. This adorable one shines thousands rays of the sun and upholds them.

९६. असौ या सेना मरुतः परेषामभ्येति न ओजसा स्पर्धमाना। तां गूहत तमसापव्रतेन यथैतेषामन्यो अन्यं न जानात् ॥1860॥

[अध्याय 21, खण्ड 1, तृच 4, ऋचा 3]

शब्दार्थ–(मरुत:) हे वीर सैनिको! (असौ) यह, (या) जो, (परेषां) शत्रुओं की, (सेना) सेना, (ओजसा) बल से, (स्पर्धमाना) स्पर्द्धा करती हुई, (न:) हमारे सम्मुख, (अभ्येति) आ रही है, (ताम्) उसे, (अपव्रतेन) कार्य विनाशक, (तमसा) अन्धकार से तू, (गूहत) आच्छादित कर दे, (यथा) इस प्रकार कि, (ऐतेषाम्) इन शत्रुओं में, (अन्य: अन्यम्) ,एक-दूसरे को, (न) नहीं, (जानात्) पहचान सके।

अन्धा कर दो यह शत्रु-दल।
स्पर्द्धा कर चला आ रहा,
जो बल से बढ़ा आ रहा,
ढक दो विनाशक तिमिर से
सम्मुख विद्यमान जो शत्रु-दल। अन्धा कर दो यह शत्रु दल।।
हे जगदीश प्रकाशमान,
जो शत्रु सम्मुख विद्यमान,
पहचान न सकें परस्पर,
अन्धा हो जाये यह शत्रु-दल। अन्धा कर दो यह शत्रु-दल।।

Oh, shining one! cover with adverse darkness this army of the enemy, which is coming in front of us, competing with might. Cover them with darkness in such a way that they may not be able to distinguish one another.

९७. कङ्काः सुपर्णा अनु यन्त्वेनान् गृध्राणामन्नमसावस्तु सेना। मैषां मोच्यघहारश्च नेन्द्र वयां स्येनाननुसंयन्तु सर्वान् ।।1864 ।।

[अध्याय 21, खण्ड 1, तृच 6, ऋचा 1]

शब्दार्थ–(इन्द्र:) हे प्रभु, (कङ्का) कङ्कनामक मांसाहारी, (सुपर्णा) पक्षीगण, (एनान्) इन शत्रुओं पर, (अनुयन्तु) जैसे ही ये आएँ उस प्रकार इन पर पड़ जावे, (असौ) ताकि यह शत्रु-सेना (गृध्राणाम्) गिद्धों का (अन्नम्) भोजन (अस्तु) हो जाए। (एषाम्) इन शत्रुओं में, (चन) कोई भी, (अघहार:) पापी (मा) नहीं, (मोचि) छुटने पाए। (एनान्) इन सबको (वयांसि) ये पक्षीगण, (अनुसंयन्तु) पूर्णतया खा जाएँ।

एक पापी न रहे शेष।
शत्रु-सैन्य बने गिद्ध-भोज,
करें कङ्क-पक्षी सहभोज,
इन पापी-जन का कोई
अंश नहीं रहे अवशेष। एक पापी न रहे शेष।।
दस्यु-शत्रुओं का पक्षीगण,
प्रभु! पूर्णतया करें भक्षण,
आहार करें शत्रु दल का,
हो ईश तव कृपा विशेष। एक पापी न रहे शेष।।

Oh God, see to it that no one escapes from these evil and vicious enemies. Rapacious birds may fall on them. They may become food for vultures. These birds may eat them completely.

९८. अमित्र सेनां मधवन्नस्माञ्छत्रुयतीमभि। उभौ तामिन्द्र
वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति ।।1865 ।।

[अध्याय 21, खण्ड 1, तृच 6, ऋचा 2]

शब्दार्थ–(वृत्रहन्) दुष्ट दस्यु विनाशक, (मधवन्) समस्त धन के स्वामी प्रभु, तुम, (इन्द्र) इन्द्र रूप, (च) और, (अग्निः) अग्नि रूप, (उभौ) इन दोनों रूपों में, (अस्मान् अभि) हमारे प्रति, (शत्रुयतीम्) शत्रु भाव रखने वाली, (ताम्) उस, (शत्रु सेनाम्) शत्रु सेना को, (प्रति दहतम्) सामना कर भस्म कर दो।

शत्रु-सेना को प्रभु करो भस्म।
भगवन, तुम अग्नि रूप धर,
शत्रु विनाशक इन्द्र बनकर,
द्वेष-भाव-युत शत्रु सेना
के हो सम्मुख, करो भस्म। शत्रु-सेना को प्रभु करो भस्म।।
प्रभु, तुम हो दुष्ट विनाशक,
समस्त-धन-स्वामी, सबके पालक,
अग्नि अरु इन्द्र दोनों बन
इस शत्रु दल को करो भस्म। शत्रु-सेना को प्रभु करो भस्म।।

Oh bountiful and destroyer of enemies, God, adopt the form of *Indra*, the conqueror, and *Agni*, the burning fire, and confront unfriendly army, which is enemical to us. Destroy it and burn it.

९९. इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ युवानावनाधृष्यौ सुप्रतीकावसह्यौ। तौ युञ्जीत प्रथमौ योग आगते याभ्यां जितमसुराणां सहो महत्॥1869॥

[अध्याय 21, खण्ड 1, तृच 7, ऋचा 3]

शब्दार्थ–(इन्द्रस्य) प्रभु की, (बाहू) दोनों भुजाएँ, (स्थविरौ) दृढ़, (युवानौ) सदा युवा और शक्तिशाली, (अनाधृष्यौ) अपराजित, (असह्यौ) किसी से भी सहन नहीं की जाने वाली, (सुप्रतीकौ) देखने में सुन्दर और (प्रथमौ) सर्वोत्कृष्ट हैं। (याभ्यां) इन बाहुओं से, (असुराणाम्) दुष्ट दस्युओं का, (महत्) महान्, (सहः) बल, (जितम्) जीता जाता है। हे प्रभु आप, (तौ) इन भुजाओं को, (योगे) अवसर, (आगते) आने पर, (युञ्जीत) कार्य में लाएँ।

अवसर पर बल प्रकट करो।
ईश तव भुजाएँ बल-युत,
चिर-युवा ये हैं शक्ति-युत,
अपराजित अरु असहनीय,
सुन्दर श्रेष्ठ अरु अवर्णनीय। अवसर पर बल प्रकट करो॥
दुष्ट असुरों का महा बल,
जीतते बाहुओं के बल,
हे प्रभु, अवसर आने पर
अपना बाहु-बल प्रकट करो। अवसर पर बल प्रकट करो।

God's arms are strong, young and forceful, invincible, unbearable, beautiful and excellent. These arms win mighty strength of enemies and opponents. Oh God, kindly apply them when the opportunity occurs.

१००. अन्धा अमित्रा भवताशीर्षाणोऽहय इव। तेषां वो अग्निनुन्नानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम्॥1871॥

[अध्याय 21, खण्ड 1, तृच 8, ऋचा 2]

शब्दार्थ–(अमित्राः) हे शत्रुओ और पापियो, तुम (अशीर्षाणः) फण या सिर कटे, (अहयः) सांप के, (इव) समान, (अन्धाः) अन्धे, (भवत्) हो जाओ। (अग्निनुन्नाम्) प्रभु द्वारा (वः) धकेले गए तुम्हारे (तेषां) इन शत्रुओं और पापियों में से (वरम्) श्रेष्ठ शत्रुओं और पापियों को (इन्द्रः) प्रभु (हन्तु) समाप्त कर दे।

हे शत्रु–जनो, करो पाप समाप्त।
हे पापी और शत्रु जनो,
सम्मुख समस्त अमित्र–जनो,
फण कटे हुए सांप–समान,
हो अन्धे, हो जाओ समाप्त। हे शत्रु–जनो, करो पाप समाप्त।।
प्रभु पालित हे उन्नत जन,
अवरोधक यदि बने दुश्मन,
शत्रु–जन अरु पापों को प्रभु
निज शक्ति से करो समाप्त। हे शत्रु–जनो, करो पाप समाप्त।।

Oh enemies and evils! you become blind and ineffective like headless serpents. If these enemies and evils obstruct persons who are elevated by God, then Oh God, kill these causing obstruction.

अथर्ववेद ज्ञान-गंगा-लहरी

(101 मन्त्रा:; Verses)

(SURGING WAVES OF ATHARVAVEDA-GYAN-GANGA)

1. पृथिवी-सूक्त (भाग 1) (Prithivi Sukta—Part I) [The Earth As Mother—Part I]	18 Mantras
2. पृथिवी-सूक्त (भाग 2) (Prithivi Sukta—Part II) The Earth As Mother—Part II]	22 Mantras
3. पृथिवी-सूक्त (भाग 3) (Prithivi Sukta—Part III) [The Earth As Mother—Part III]	23 Mantras

Note : (Total mantras of Prithivi Sukta are 18+22+23=63)

4. ब्रह्मचर्य-सूक्त (Brahmacharya Sukta) [The Life of Physical, Intellectual and Moral Development]	26 Mantras
5. साम्मनस्य-सूक्त (Sammanasya Sukta) (Social Unity)	7 Mantras
6. मधु-सूक्त (Madhu Sukta) [Honeyed Life]	5 Mantras

अथर्ववेद ज्ञान-गंगा-लहरी

पृथिवी सूक्त-१; Prithivi Sukta—I

(The Earth as Mother—I Part, 18 Verses)

पृथिवी-सूक्त अथर्ववेद का 12वाँ कांड है। इसमें भूमि-माता का गुण-गान किया गया है। मानव का सृष्टि के आदि-काल से, जिस भूमि में वह जन्मा है, उसके साथ सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रेम-संबंध रहा है। उसी वातावरण में और उसी भूमि में उसकी जड़ें जमी हैं, पनपी हैं। वह वहाँ के नदी-नालों, जंगलों-पर्वतों को, वहाँ की परिस्थिति को आजीवन स्मरण करता, उसके लिए तरसता और उसे सराहता रहता है। पृथिवी-सूक्त में उन भावनाओं का बीज है, जिनसे "वन्दे-मातरम्" जैसे गीतों का प्रवाह हुआ है। इन्हीं भावों को अथर्ववेद के राष्ट्र-सूक्त में व्यक्त किया गया है। इस खंड में 18 मन्त्र हैं। वेद कहता है :

The *Prithivi Sukta* is a chapter of the 12th Part *(Kanda)* of the *Atharva Veda*. It deals with the Earth *(Bhoomi)* as our benefactress. Man from the beginning of history has his social and cultural roots grounded in the Earth he associates himself with his birth. He praises the hills and the dales, the rivers and the forests he has grown up with. This is his motherland, and his home in that land is his 'home, sweet home, there is no place like home'.

The *Sukta* reminds one of the feelings one develops with one's motherland. Out of such emotions spring forth the songs as *'Vande Mataram'*—the national song of our motherland—India.

Here is what the *Atharva Veda* says about the Earth—one's motherland—or the land of the State—*Rāshtra*—(राष्ट्र), one belongs to. Consequently, some have styled it as a *Rāshtra Sukta* (राष्ट्र सूक्त). The *Veda* says :

१. **सत्यं बृहत्, ऋतं उग्रं, दीक्षा, तपः, ब्रह्म, यज्ञः पृथिवीम्**
धारयन्ति। सा नो भूतस्य, भव्यस्य पत्नी, उरुं लोकं
पृथिवी नः कृणोतु॥ १ ॥

भावार्थ–"सत्य" जो अपने स्वभाव से ही (महान्) है; "ऋत"–अर्थात्–"नियम" जो अपने स्वभाव से ही (उग्र) हैं–उग्र इसलिए क्योंकि नियमों में किसी की रियायत नहीं की जाती–नियम, नियम ही हैं, उनका पालन सदा निरपवाद रूप से होता है। "दीक्षा" का अर्थ है (आत्म-समर्पण); "तप" का अर्थ है शारीरिक तथा मानसिक कठोरता (तथा कष्ट को सहना); "ब्रह्म" का अर्थ है क्षुद्रता से (महत्ता की तरफ़) बढ़ना; "यज्ञ" का अर्थ है–(निः स्वार्थभाव);–ये गुण हैं जो किसी राष्ट्र को बनाये रखते हैं। हमारा जो हो चुका है और जो होना है–वह सब पृथिवी के ही हाथ है। "पत्नी"–पालन करने हारी–वही है। यह पृथिवी हमारे लिए अवश्य विस्तृत द्वार खोल दे–जहाँ हम सब जगह विचरण कर सके। पृथिवी को 'पत्नी' पालन करने के कारण कहा है।

Truth which by its very nature is great (सत्यं बृहत्); Right-eousness which by its very nature is irresistible (ऋतं उग्रं) : Devotion or devotedness (दीक्षा); Hard labour or Perseverance (तपः); Determination to be great (ब्रह्म); but all the same willingness to sacrifice one's narrow interest (यज्ञ)—these are the virtues that sustain the Earth (or a State).

Earth is the mistress of all what was ours, what is ours, and what would be ours. Let the Earth open for us her spaces far-flung, great, and wide.

The verse enumerates six virtues that sustain the Earth (or a State). They are—Truth, Righteousness, Devotion to a Cause, Hard labour, Determination to overcome obsta- cles in the path of Greatness, and Sacrifice of Selfishness. One in whom these combine. the Earth welcomes him with open arms.

२. असंबाधं बध्यतः मानवानाम्, यस्याः उद्वतः प्रवतः
समं बहु। नानावीर्याः ओषधीः याः विभर्ति, पृथिवी
नः प्रथतां राध्यतां नः ॥ २ ॥

भावार्थ–मानवों के जीवन में कई ऊँच-नीच, अच्छे-बुरे, संबद्ध-असंबद्ध अवसर आते हैं, हे पृथिवी माता! इन ऊँचाइयों और नीचाइयों को मिटाकर आप सम (लेवल) कर दो। आपके

पास भिन्न-भिन्न समस्याओं को हल करने के नानाविध उपाय हैं जैसे रोगों की नाना-विध औषधियाँ होती हैं। आप हमारे मनोरथ सिद्ध कर दो।

Let the Earth inspire the intelligence of men to rend asunder the obstacles that obstruct their ambitions to level down her unevenness in the form of high and low surfaces, even though there be abundance of smooth planes. The Earth bears herbs of various virtues. Let the Earth spread out for us and fulfil our needs.

For a successful life in the world one comes across small and big obstacles which are compared here with low and high surfaces of the Earth. One has to surmount these obstacles and make one's path even and smooth. Just as the Earth made smooth and level, bears innumerable herbs potent to cure the illnesses, so life-though fraught with one thousand and one difficulties is successfully lived by getting inspiration from the Earth.

३. **यस्यां समुद्रः, उत सिन्धुः, आपः, यस्यां अन्नं, कृष्टयः**
संबभूवुः। यस्यां इदम् जिन्वति प्राणत् एजत् सा नो
भूमिः पूर्वपेये दधातु॥ ३॥

भावार्थ–जिस पृथिवी पर समुद्र हैं, नदियाँ हैं, जल हैं, नहर हैं; जिस पृथिवी पर खेती से भिन्न-भिन्न अन्न उत्पन्न होते हैं; जिस पृथिवी पर प्राणधारी, चलते-फिरते जीव-जन्तु रहते हैं; वह पृथिवी हमारी ऐसी पालना करे जैसे वह हमारे पूर्वजों की करती आई है।

On whom rest the ocean, the rivers, the waters of wells, the tanks, and the lakes; On whom grow grains and other agricultural produce; On whom exist all that breathe and move-let the Earth place us also in the hands of the Lord who has already granted protection to those who deserve it, even before they are born.

४. **यस्याः चतस्त्रः प्रदिशः पृथिव्याः, यस्यां अन्नं कष्टयः**
संबभूवुः। या विभर्ति बहुधा प्राणत् एजत् सा नो
भूमिः गोषु अपि अन्ने दधातु॥ ४॥

भावार्थ–वह भूमि जिस की पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण–में 4 दिशाएँ हैं, जिस पृथिवी पर कृषि से भिन्न-भिन्न अन्न उत्पन्न होते हैं, जो भिन्न-भिन्न जीव-जन्तुओं को धारण करती है, वह हमें अन्नों के साथ दूध देने वाली गौओं को भी पालना प्रदान करे।

The Earth to whom belong the four quarters—the East, the West, the North, and the South; On whom all grains and agricultural produce grow; Who bears the innumerable beings that breathe and move; Let that Earth place us in the midst of plentiful agricultural lands growing food and kine yielding milk.

५. यस्यां पूर्वे पूर्वजनाः विचक्रिरे यस्यां देवाः असुरान् अभ्यवर्तयन्। गवाम् अश्वानाम् वयसः च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥ ५॥

भावार्थ–जिस पृथिवी पर पूर्वज स्वतंत्रता से भ्रमण करते रहे, जिस पृथिवी पर दिव्य गुण वाले व्यक्तियों ने असुरों या दुष्टों का नाश कर दिया, जिस पृथिवी पर गौ, घोड़े और पक्षियों का निवास रहा, वह पृथिवी हमें भाग्य तथा वर्चस्व प्रदान करे।

इस मन्त्र में पूर्वजों, गायों, घोड़ों तथा पक्षियों का ज़िक्र किया गया है। पूर्वजों का वर्णन करते हुए उनके चलाये जीवन-क्रम, उनकी संस्कृति से अभिप्राय है; गौओं का वर्णन करते हुए पालन पोषण से अभिप्राय है, घोड़ों का वर्णन करते हुए क्रियाशीलता से अभिप्राय है, पक्षियों का वर्णन करते हुए पृथिवी से ऊपर आकाश तथा अन्तरिक्ष में जो-कुछ है उससे अभिप्राय है। भगवान् हमें सब-कुछ दे–यही इस मन्त्र में प्रार्थना की गई है।

The Earth, on whom people in olden times attained achievements; the Earth in whom the divine forces defeated the evil ones; the Earth where the kine. the horses, the birds found their habitat—let that Earth grant us fortune and brilliance.

In this verse the elders are extolled for having achieved success in defeating the evil on the Earth which may inspire us to follow them and to seek blessings from the mother Earth in the form of fortune and grandeur which is

in her power to bestow. The blessing is sought for possessing the kine and the horses which respectively represent all forms of nourishment and conveyance of the Earth. Birds represent fortune in the sky. All of them can be had if the Earth is explored and her blessings are invoked by determination, by putting one's hardest labour directed to production.

The mention of kine, horses, and birds is significant. The kine as yielding milk represent nourishment; the horses as they are the fastest runners represent activity; the birds as they soar high in the sky represent all that is above the Earth. As the Earth sustains the kine, the horses, and the birds, she may also sustain the human beings who invoke her blessing.

६. विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतः
निवेशनी। वैश्वानरं विभ्रती भूमिः अग्निं इन्द्र ऋषभा
द्रविणे नः दधातु ॥ ६ ॥

भावार्थ–विश्व का भरण करने वाली, सब धनों को धारण करने वाली, चलती हुई भी स्थिर, छाती में सुवर्ण से ऐसे भरी हुई जैसे सांस से छाती भर जाती है, संसार भर को अपने भीतर रखे हुए, सब प्राणियों की हितकर अग्नि को अपनी कोख में धारण करनेवाली यह पृथिवी जिसका स्वामी इन्द्र–परमैश्वर्ययुक्त परमात्मा है–हमें धन–धान्य से भरपूर कर दे।

Fulfilling the needs of everyone, holding within herself all kinds of riches, firm and stable, containing gold in her entrails, repository of all that moves and has its being, bearing fire within which is useful for the whole of mankind, let the Earth, whose Lord is *Indra,* assign us wealth.

७. यां रक्षन्ति अस्वप्नाः विश्वदानीम् देवाः भूमिं पृथिवीं
अप्रमादम्। सा नो मधु प्रियम् दुहाम् अथो उक्षतु
वर्चसा ॥ ७ ॥

भावार्थ–दूर–दूर तक विस्तृत (पृथु विस्तारे) जिस भूमि की, बिना आराम लिए और बिना सोये, दिव्य–शक्तियाँ रक्षा

करती हैं, वह भूमि हमें जो कुछ दूध की तरह प्रिय और मीठा प्रदान करे और साथ ही हमें तेजस्वी बनाए।

The divine forces sleeplessly and ceaselessly protect the Earth who gives to the world all that she has; Let the Earth yield us honey and all that is dear to us and then saturate us with grandeur.

Here all the bounties are acknowledged with reverence and gratitude. The Earth gives us all that we need and everything that is dear to us. It is further said that the Earth by herself is helpless. It is the divine forces that protect the Earth. And this protection comes as if the divine protector is at his job every moment, day and night, without a wink, without any relaxation.

८. **या अर्णवे अधि सलिलं अग्रे आसीत्, यां मायाभिः**
अन्वचरन् मनीषिणः। यस्याः हृदयं परमे व्योमन् सत्येन
आवृतम् अमृतं पृथिव्याः। सा नो भूमिः त्विषिम् बलं
राष्ट्रे दधातु उत्तमे॥ ८॥

भावार्थ–सृष्टि के आदि में पृथिवी द्रव (सलिल) की अवस्था में थी। भगवान् की मनीषा ने अपनी युक्ति से उसे द्रव से ठोस बना दिया। पृथिवी का हृदय सत्य रूप अमृत से ढका हुआ है, अर्थात् पृथिवी की हर वस्तु में प्रधानता सत्य की है। सत्य पर निष्ट यह पृथिवी हमें तथा हमारे राष्ट्र को सत्य पर दृढ़ रहने का बल दे, हम सत्य से कभी न डिगें।

The Earth was in a quasi-liquid state in the beginning of creation surrounded as she was by ocean in all directions. This was followed by the skilful (divine forces), by various devices and (she came to thc present solid state). The immortal heart of the Earth covered with the Truth rests in the highest firmament. Let the Earth instal us in a state (government) of splendour, strength, and highest good.

In this verse two important statements are made. One—that the Earth in the beginning was in a liquid state and was brought down to the present solid state through skilful devices by the Divine Forces. Second—that the immortal

heart of the Earth is covered with the Truth and rests in the highest region. The first statement is corroborated by science which says that life came out of water. As regards the second statement, it means that the Truth is the heart beat of life and nothing but the Truth prevails in the world though momentarily we may find falsehood forging ahead. The truth shines at the top with all its brilliance. The devotee prays that by the grace of God he may live in that region of the Earth where the government may be strong, administering to the highest good of her inhabitants, where the Truth reigns supreme.

९. यस्यां आपः परिचराः समानीः अहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति। सा नो भूमिः भूरिधारा पयः दुहाम् अथो उक्षतु वर्चसा॥ ९॥

भावार्थ--जिस पृथिवी में दिन-रात पानी बिना रुकावट के सबको समान रूप से मिलता है, प्रभूत जल से भरी वह भूमि पानी से हमारा सिंचन करे और तेज से सींचती रहे।

The Earth whereupon the waters spread everywhere in the form of wells, lakes, and rivers, and flow without cessasion equally everywhere, day and night; let that Earth with abundant streams, also of milk, may now saturate us with grandeur.

Here the waters and the milk have been placed in the same category. The State in which one yearns to live is pictured as one where there is no dearth of water—an essential ingredient of life, and milk-an essential ingredient of nourishment.

१०. याम् अश्विनौ अमिमाताम् विष्णुः यस्याम् विचक्रमे। इन्द्रो याम् चक्रे आत्मने अनमित्रां शचीपतिः। सा नो भूमिः विसृजताम् माता पुत्राय मे पयः॥ १०॥

भावार्थ–पृथिवी जिसे दिन-रात गाया जाता है, जिसकी गति सूर्य से अति-क्रमित होती है, शचीपति इन्द्र ने जिसे शत्रुओं से रहित कर दिया है, वह हमारे लिए धन-धान्य को ऐसे ला छोड़े

जैसे माता पुत्र के लिए दूध ला छोड़ती है।

The Earth who is measured by day and night, in whom the sun overstrides her movements, who has been rendered free from enemies by *Indra*—the Lord of Action, let that Earth release us water and milk as the mother does to her children.

११. गिरयः ते पर्वताः हिमवन्तः हिरण्यं ते पृथिवी स्योनम्
अस्तु। बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं
पृथिवीं इन्द्रगुप्ताम्। अजीतः अहतः अक्षतः अध्यष्ठां
पृथिवीम् अहम्॥ ११॥

भावार्थ—हे पृथिवी! तेरी पहाड़ियाँ, पहाड़, बर्फ़ीले पहाड़, हे पृथिवी! तेरे भीतर का सुवर्ण मेरे लिए सुखप्रद हो। यह पृथिवी भिन्न रूपों वाली है—कहीं चितकबरी, कहीं काली, कहीं लाल—विश्व-रूप है। यह चारों तरफ़ फैली हुई है। इसमें रहता हुआ मैं हर क्षेत्र में विजयी रहूँ, कोई चोट न लगे, कोई प्रहार न हो। परमात्मा से रक्षित पृथिवी का मैं अधिष्ठाता बनकर निवास करूँ।

O Earth! Let thy hills, snowy mountains and forests be pleasant; let me—unconquered, unwounded, and uninjured—stay on and inhabit the Earth protected by *Indra*—the Lord of supreme strength; the Earth of multiple hues and colours—brown, black, and red; the Earth who is steady and spread far and wide.

१२. यत् ते मध्यं पृथिवी यत् च नभ्यं याः ते ऊर्जः तन्वः
संबभूवुः। तासु नः धेहि अभि नः पवस्व माता भूमिः
पुत्रः अहम् पृथिव्याः। पर्जन्यः पिता स उ नः
पिपर्तु॥ १२॥

भावार्थ—हे पृथिवी, जो तेरी नाभि के बीच में है, जो तेरे तन के ऊपर है, हमें सब परिस्थितियों में ऊर्जावान् बनाए रखो। हमें पवित्रता प्रदान करो। आप मेरी भूमि-माता हो, मैं आपका पुत्र हूँ। यह मेघ जो पृथिवी को वर्षा से तर करके अन्नादि उत्पन्न करता है, वह मेरा पिता पालनकर्ता है।

O Earth! whatever thou containest in thyself, in the centre of thyself, whatever grows out of thyself—from out of thy body—set us in those surroundings. O Earth! purify us. O Earth! thou art my mother, I am thy son. The cloud that drenches the Earth with rain so that there be plenty of growth is my father. Let him also protect us.

१३. यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते
विश्वकर्मणः। यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यां ऊर्ध्वाः
शुक्लाः आहुत्याः पुरस्तात्। सा नो भूमिः वर्धयद्
वर्धमाना॥ १३ ॥

भावार्थ–वह भूमि जो दिनोदिन बढ़ती चली जा रही है वह हमें भी बढ़ाए। इस भूमि में यज्ञ की वेदी बनी हुई है, इसमें जगह-जगह यज्ञों की धूम-मची हुई है–इनका विस्तार हो रहा है, यज्ञ का उच्च स्वर दिनों-दिन उच्च से उच्चतर होता जा रहा है, आमने-सामने के विस्तृत यज्ञ में आहुतियाँ डाली जा रही हैं, जैसे वह सब-कुछ बढ़ता जा रहा है, वैसे ही हमारी भी वृद्धि हो।

The Earth on whom, the experts in all skills, surround and enclose the sarcificial alter; the Earth on whom the skilful extended the *Yajna* far and wide; on whom they set up according to measurement posts high and bright before the beginning of oblations; let that extending Earth make us also. increasingly great.

This verse imagines a spiritual expansion by way of propagation of *Yajna* everywhere. It imagines a world in which posts, high and bright, flying the sacrificial flag are set up all over the world and the atmosphere is resounding with the chanting of the *Veda Mantras*, offering oblations. The devotee invokes the Mother Earth to impart him greatness, as gradually the significance of *Yajna* (sacrifice) is understood and the spirit of the *Yajna* pervades the Earth.

१४. यः नः द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद् यः अभिदासात्
मनसा यः वधेन। तं नः भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि॥ १४ ॥

भावार्थ–हे पृथिवी! जो हमसे द्वेष करे, जो हम पर आक्रमण

करे, जो हमें अधीन बनाना चाहे, हमें गुलाम बनाना चाहे, जो हमारा मन से या शारीरिक तौर पर हनन करना चाहे, उनके ऐसा सोचने से पहले ही उन्हें रौंध डालो।

Whosoever hates us, O Earth! whosoever marches armies against us, whosoever tries to destroy us in mind or tries to kill us in body, O Earth, exterminate him for us, because you act before the other acts.

१५. त्वत् जाताः त्वयि चरन्ति मर्त्याः, त्वं बिभर्षि द्विपदः चतुष्पदः। तव इमे पृथिवी पञ्च मानवाः, येभ्यः ज्योतिः अमृतम् मर्त्येभ्यः उद्यन् सूर्यः रश्मिभिः आतनोति ॥ १५ ॥

भावार्थ–दो पाये तथा चौपाये सब प्राणी आप से उत्पन्न हुए हैं, आप ही उनका पालन-पोषण करते है, यह पृथिवी आपकी है, ये सब मानव आपके हैं, जिन प्राणियों के लिए आप उदीयमान सूर्य की अमर रश्मियों द्वारा प्रकाश, ताप और जीवन प्रदान करते हो।

All mortals—bipeds and quadrupeds—are born of thee, move about on thee. Thou bearest them and sustainest them. O Earth! all these manifold mortals for whom the rising sun with his rays extends his immortal light are thine.

There is a mention of 'five men' (*Panch Manavah*—पंच मानवाः) in the text. 'Five men' in the *Vedic* culture represent a group of men, just as *Panchayat* (पंचायत) means the representative group of a village. They may be five, or even more or less. Here also 'five men' means a group of men.

१६. ताः नः प्रजाः सं दुह्रताम् समग्राः वाचः, मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥१६ ॥

भावार्थ–सब प्राणियों की सम्मिलित प्रार्थनाएँ एक ही आवाज़ कहती हैं–हे पृथिवी, हमें जो-कुछ दो, मीठा दो, हमारे हित का दो। हमें वाणी का मिठास दो।

Let the united voice of all the creatures yield one thing for all of us: O Earth! give us sweetness of life, like the sweetness of honey.

१७. विश्वस्वं, मातरम् ओषधीनाम्, ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्। शिवां स्योनाम् अनु चरेम विश्वहा॥ १७॥

भावार्थ–हे भगवन्! संसार आपका ही है। भिन्न-भिन्न ओषिधियों को यह पृथिवी उत्पन्न करती है जिससे मानव स्वस्थ रहता है, आप तो विश्व के "स्व" ही हो, इसलिए आप तो "स्व" में ही स्थित रहते हो। यह चलायमान पृथिवी चलती हुई भी अपने धर्म के कारण स्थित है। आप चाहो तो विश्व का संहार कर सकते हो–"विश्वहा" हो परन्तु फिर भी मानव को सुख ही देते हो, उसका शिव, अर्थात् कल्याण ही करते हो। 'स्वस्थ' का अर्थ है–'स्व'–अपने में 'स्थित'।

The Earth owns all; she is the progenitor of medicinal herbs that heal; though rotating she is fixed; she is maintained by the basic principles that uphold society; she administers to our well-being; she is so pleasant. On the Earth we move about who has the potentiality even to destroy all that exists upon her.

१८. महत् सधस्थं महती बभूविथ, महान् वेगः एजथुः वेपथुः ते। महान् त्वा इन्द्रः रक्षति अप्रमादम्। सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्यस्य इव संदृशि, मा नः द्विक्षत कश्चन॥ १८॥

भावार्थ–हे भगवन्! आपका विस्तार सीमा रहित है, आप स्वयं महान् हो, आपकी शक्ति महान् है, आपका कंपन महान् है। इन्द्र आपकी निरन्तर रक्षा करता है। हे पृथिवी देवता! हमें सुवर्ण के समान तेजस्वी बनाओ, हमें आशीर्वाद दो कोई हमसे कोई शत्रुता न करे।

O Earth! great is thy expanse, and great thou becometh. Great is thy force. great trembling and great quaking. Only the greatness of *Indra*—the Almighty Supreme Being—working ceaselessly can protect thee under these conditions. O Earth! make us shine with the shine of gold and bless us so that none may hate us.

The devotee, seeing the vastness of the Earth, and she being fixed and stationary, in spite of being shaken, off and on by earthquakes, is lost in the admiration of the Lord *Indra*—the Almighty Supreme Being—who can work such a miracle as upholding the stupendously vast Earth in empty space without falling and going to pieces. It is the poet's imagination where physics feels shy to tread.

पृथिवी सूक्त–2

Prithivi Sukta—II

(The Earth as Mother—II Parts, 22 Verses)

१९. अग्निः भूम्यां, ओषधीषु अग्निं आपः बिभ्रति, अग्निः
अश्मसु। अग्निः अन्तः पुरुषेषु, गोषु, अश्वेषु
अग्नयः ॥ १९ ॥

भावार्थ–पृथिवी-सूक्त के पहले 18 मन्त्रों में "भूमि" की चर्चा की गई है। अब आगे इसी प्रकरण को बढ़ाते हुए "अग्नि" की चर्चा की गई है। उसकी चर्चा करते हुए कहते हैं कि पृथिवी में अग्नि है, औषधियों में अग्नि है, जल में अग्नि है, यहाँ तक कि पत्थर में भी अग्नि है। पुरुषों में, पशुओं में, गायों में, घोड़ों में-सभी में अग्नि है। हर वस्तु में अग्नि होने का कारण ही उनका जीवन है। इस खंड में 22 मन्त्र है।

Having spoken of the greatness of the "Earth" in the previous *Sukta,* the verse of the present *Sukta* speaks of the other supreme element of the universe—the "Fire". It says:

Fire is in the Earth, fire is in the Herbs, fire is in the Waters and even Stones contain "Fire". Not only in the Inanimate, even in the Animate world its life is maintained by fire—in men, kine etc., is the fire that keeps them alive.

By no stretch of imagination *Agni* here can mean a Deity though western scholars go on repeating that *Agni* was a Deity. *Agni,* here, definitely means fire, and Fire again means Heat generated by it. It is due to heat that vegetation grows and life in the world of the living is maintained. All hydro-electric plants are pouring forth fire in the form of electricity out of water; solid, when broken, emits heat and fire—and hence the *Mantra* says that there is fire in water and stone.

२०. अग्निः दिवः आतपति, अग्नेः देवस्य उरु अन्तरिक्षम्।
अग्निं मर्तासः इन्धते हव्यवाहम् घृतप्रियम् ॥ २० ॥

भावार्थ–अग्नि से द्यु-लोक में तपिश होती है, महान् अन्तरिक्ष से सूर्य-चन्द्र-तारे अग्नि-देव के ही प्रतीक हैं, मानव लोग अग्नि को ही जलाते हैं, अग्नि को घृत डाला जाय तो अग्नि भभक उठती है।

२१. अग्निवासाः पृथिवी, असितसूः त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु॥ २१॥

भावार्थ–संसार को अग्नि ऐसे लपेटे हुए है जैसे वस्त्र लपेटा जाता है। "सित" का अर्थ हैं–सफ़ेद, "असित" का अर्थ है–जो सफेद न हो। अग्नि काली नहीं है, लाल-वर्ण की है। "त्विष्" का अर्थ है–चमकीला, द्युतिमान्। "संशित" का अर्थ है–तेज। हे अग्ने! तुम द्युतिमान् तथा तीक्ष्ण रूप की हो। मैं तुझसे प्रार्थना करता हूँ कि मुझे भी द्युतिमान् तथा तीक्ष्ण कर दो।

Fire or heat generated by the Sun gives warmth to the world; this vast atmosphere belongs to the Divine Fire, for look to the starry heaven which is studded with fiery constellations; mortals kindle fire which loves ghee and carries the oblation offered to it far and wide.

Thus, let the Earth who is surrounded by fire all around as if she were clad with it, bearing fire in the animate and the inanimate world, and knowing the white flames as well as the black smoke, make me brilliant and sharp of intellect.

The Earth appears inert and fire appears brisk and active with its flames on the assault. A combination of these two makes the world alive. This prompts the devotee to pray that One, which inhabits the body and which is nothing but a combination of particles of dust is enkindled into life, so let the fire of soul enkindle the body into activity.

२२. भूम्यां देवेभ्यः ददति यज्ञं हव्यं अरंकृतम्। भूम्यां मनुष्याः जीवन्ति स्वधया अन्नेन मर्त्याः। सा नः भूमिः प्राणं आयुः दधातु। जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु॥ २२॥

भावार्थ–भूमि पर देवों को यज्ञ की अलंकृत हवि दी जाती है; भूमि पर मानव अपने बल पर अन्न से जीता है; वह भूमि हमें

प्राण तथा आयु प्रदान करे। पृथिवी मुझे दीर्घ-जीवी बनाए।

It is on the Earth that beautifully done and ornamented offerings are given to the persons divine as if they were being offered in a sacred function; it is on the Earth that mortal men live with their own vigour complemented with food. let that Earth enable us to breathe long, live long; let that Earth do us the favour to attain old age.

२३. यः ते गन्धः पृथिवि संबभूव, यं बिभ्रति ओषधयः, यं आपः। यं गंधर्वाः अप्सरसः च भेजिरे, तेन मा सुरभिं कृणु, मा नः द्विक्षत कश्चन॥ २३॥

भावार्थ–हे पृथिवी! आप से कैसी मन-मोहिनी गन्ध निकल रही है, यह गन्ध ओषधियों में और जलों में भी जा बसी है; उसी गन्ध को गायक या विद्वान् तथा गायिकायें क्रियाशील इस्तेमाल कर रहे हैं; उसी गन्ध का हम प्रयोग करें। कोई हमसे द्वेष न करे।

गधर्वाः—गां वाणीं दधति-विद्वांसः। अप्सरसः-अप्सु कर्मसु-सरन्ति-कर्मकृतः।

O Earth, what an exquisitely sweet odour one experiences emanating from thee; the same odour bears herbs and waters; the same odour is shared by songsters and songstresses; with that odour do thou make me odourous. Let no one hate me.

The devotee prays that as an exquisitely sweet odour issuing forth from the Earth is a source of attraction, similarly, he should smell sweet so that no one may hate him. Who hates a flower that spreads sweetness all around?

२४. यः ते गन्धः पुष्करम् आविवेश, यम् संजभ्रुः सूर्यायाः विवाहे। अमर्त्याः पृथिवि गन्धं अग्रे, तेन मा सुरभिं कृणु, मा नः द्विक्षत कश्चन॥ २४॥

भावार्थ–हे पृथिवी! तेरी मन-मोहिनी जो गन्ध मेरे कमल-पुष्पों में आ बसी है जिस सुगन्ध को बेटी सूर्या के विवाह के समय लाये थे, जिस गन्ध को अमर लोग पृथिवी में सर्वोत्तम गन्ध मानते हैं, उस गन्ध से मुझे सुरभित कर दो। हमसे कोई द्वेष न करे।

O Earth, what an exquisitely sweet odour emanating from thee has entered into the lotus; the odour that is procured at the wedding of the bride; the odour that the immortals treat foremost of the earth. Do me the favour of smelling sweet with that odour so that no one may hate me.

२५. यः ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगः रुचिः। यः अश्वेषु वीरेषु यः मृगेषु उत हस्तिषु। कन्यायां वर्चः यद् भूमे, तेन अस्मान् अपि संसृज, मा नः द्विक्षत कश्चन॥ २५॥

भावार्थ—हे पृथिवी, आपकी मन-मोहिनी गंध मानव-समाज में, पुरुषों तथा स्त्रियों में—यहाँ तक कि वीर-पुरुषों, घोड़ों, हाथियों और मृगों तक में भी पायी जाती है, ऐसी सुखद गंध कन्याओं में, भी विद्यमान है, उस गंध से हमें भी सजीव करो। हम से कोई द्वेष न करे।

O Earth, what sweet odour, magnificence, and brilliance of thine is found in human beings, in women and men; in horses, in heroes, in deers, and in elephants: what splendour in a maiden; O Earth, with that odour, magnificence, brilliance, and splendour provide us so that no one may hate us.

२६. शिला भूमिः अश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता। तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्यै अकरं नमः॥ २६॥

भावार्थ—भूमि क्या है? शिलाएँ है, पत्थर हैं, मिट्टी है—परन्तु ऐसी पृथिवी टुकड़े-टुकड़े होकर गिरकर चकनाचूर हो जाने के स्थान में ऐसे ठहरी हुई है जैसे इसे जकड़कर रखा हो। उसके बाहर तो पत्थर, चट्टान और मट्टी है, परन्तु इसकी छाती में सोना है। ऐसी भूमि को हमारा नमस्कार है।

What is Earth? rocks, stones, and dust! But that Earth is held together and her various components do not fall apart, as from rock to dust every particle is held together. Outside there are rocks and stones and dust, but inside she holds mines of gold. I pay homage to such a wonderful Earth.

२७. यस्यां वृक्षाः वानस्पत्याः ध्रुवाः तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवीं विश्वधायसं धृताम् अच्छा वदामसि ॥ २७ ॥

भावार्थ–जिस पृथिवी पर लाखों-करोड़ों वृक्ष जिनका बोझ विश्व को नष्ट कर दे, वे उसे नष्ट करने के बजाय उसको धारण कर रहे हैं। विश्व का धारण करने वाली ऐसी भू-माता को हम उसे भू-भाग धारण करने के कारण नमस्कार करते हैं, उसकी इस अच्छाई का गुणगान करते हैं।

The Earth on whom stand so much vegetation firmly rooted resulting in countless trees which by their number may even destroy everything in the world, yet this Earth holds all this without letting anything to be destroyed. To that all-supporting Eath we address praises.

२८. उदीराणाः उत् आसीनाः तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः । पद्भ्यां
दक्षिण सव्याभ्याम् मा व्यथिष्महि भूभ्याम् ॥ २८ ॥

भावार्थ–हम उठें, बैठें, खड़े हों, दौड़े–किसी भी हालत में हों, हमारा दायाँ या बायाँ पाँव न दुःखे, न लड़खड़ाए। हम मातृभूमि में कभी व्यथित न हों।

We, while arising, sitting, standing, striding forth with vigour, with our right and left foot on Earth, may not be hurt nor stagger, O Earth!

२९. विमृग्बरीम् पृथिवीं आ वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा
वावृधानाम्। ऊर्जं पुष्टं विभ्रतीम् अन्नभागं घृतं त्वा
अभिनिषेदेम भूमे ॥ २९ ॥

भावार्थ–हे भूमे! आप जो अत्यन्त शुद्ध हो (मृजूष् शुद्धौ, वि-मृग-वरीम्), आप ब्रह्म-तेज से दिनोंदिन वृद्धि को प्राप्त हो रही हो। आपसे मैं क्षमायाचना करता हूँ। आपका पुष्टि, अन्नभाग, धन बढ़ रहा है। आप हमारे पास इन गुणों के साथ रहिये ताकि हमें भी ये गुण प्राप्त हों।

O Earth, I address thee, whose treasures are worth investigation; Whose virtue lies in forgiveness of her erring children; Who is always flourishing by the blessings of the Supreme Being; Who bearest brilliance, nourishment as

everybody's share of food and fat *(Ghee)*. O Earth, we pray that we may stay on thee.

३०. शुद्धाः नः आपः तन्वे क्षरन्तु, यः नः सेदुः अप्रिये तं
निदध्मः । पवित्रेण पृथिवि मा उत् पुनामि ॥ ३० ॥

भावार्थ–शुद्ध जल हमारे शरीर को शुद्ध करने के लिए हमारी तरफ़ झरे, जो हमें जीर्ण-शीर्ण करते हैं, उन जलों को अप्रिय जनों के पास छोड़ते हैं हे भूमि माते, पवित्र जल से मैं अपने को पवित्र करता हूँ।

Let pure waters flow for cleansing our body; whatever there is destructive in us we leave it to the one who loves not. With thee as purifier, O Earth, I purify myself.

The *Mantra* speaks of purity—physical and mental. One purifies one's body with clean water; one's mind by letting the opposite party indulge in impure thoughts without oneself being affected by them. The devotee affirms that he will keep his body and mind clean and pure, and will let his opponents do what they like.

३१. याः ते प्राचीः प्रदिशः, याः उदीचीः, याः ते भूमे
अधराद् याः च पश्चात्। स्योनाः ताः मह्यं चरते भवन्तु,
मा नि पप्तम् भुवने शिश्रियाणः ॥ ३१ ॥

भावार्थ–हे भूमे! आपकी पूर्व, उत्तर या नीचे और पीछे जो भी दिशाएँ हैं मैं भौतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से कहीं न गिरूँ और चलते-फिरते कहीं न गिरूँ।

O Earth, whatever thy front directions, whatever upward, whatever downward, whatever backward—all these directions may be pleasant to me while moving about. Let there be no fall of mine in this world having taken refuge in thee.

The devotee invokes the Earth that as he has taken shelter on her, he may be protected on all sides. Let there be no danger to his life, from the front, from the back, from above, and from below. He may feel safe in every direction.

३२. मा नः पश्चात्, मा पुरस्तात् नुदिष्ठाः, मा उत्तरात्
अधरात् उत। स्वस्ति भूमे नः भव, मा विदन्
परिपन्थिनः वरीयः, यावय आ वधम्॥ ३२॥

भावार्थ–हमारे शत्रु हम पर पीछे से आक्रमण न करें, न सामने से, न ऊपर से, न नीचे से। हे भूमि माते हमारा कल्याण करो। हमारे शत्रु हम से बाज़ी न मार ले जाएँ। आप हमें प्रेरणा दें कि हम अपने शत्रुओं का वध कर दें।

Let not our enemies attack us from behind, nor from the front, nor from above, nor from below; O Earth, be for our well-being; Let not our enemies get the better of us. Goad us on to their destruction.

३३. यावत् ते अभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना। तावत्
मे चक्षुः मा मेष्ठ उत्तरां उत्तराम् समाम्॥ ३३॥

भावार्थ–हे भूमि! जब तक और जहाँ तक मैं इस भूमि पर पृथिवी तथा सूर्य के सहयोग से देखता हूँ या जितना देखता हूँ उतना ही मेरी दृष्टि क्षीण होने के स्थान में उत्तम-से-उत्तम होती जाय।

To whatever extent and howsoever long I see thee, O Earth, in conjuction with the sun, to that extent and so long may the sight of my eye not fail. Instead, from year to year, it may be better and better.

३४. यत् शयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यं अभि भूमे पार्श्वम्।
उत्तानाः त्वा प्रतीचीं यत् पृष्ठीभिः अधिशेमहे। मा
हिंसीः तत्र नः भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि॥ ३४॥

भावार्थ–जिस भूमि पर शयन करता हुआ मैं दाईं या बाईं तरफ़ (पासे) हो जाता हूँ या (उतान) लेटता हूँ या पश्चिम (प्रतीची) दिशा की तरफ़ लेटता हूँ, या पीठ के बल लेटता हूँ–मैं किसी भी तरह सो रहा हूँ मेरी हिंसा मत करना। कहने का अभिप्राय यह है कि मेरे शत्रु मेरी सोती हालत में मुझपर वार कर मुझे न मारें, लड़ना-मरना हो तो सामने आएँ।

While sleeping I turn to the right or to the left side, face upwards or face on the back. O Earth, who helps eve-

ryone to lie in rest, destroy us not.

The devotee prays for an undisturbed sleep, unmolested by the enemies or by anyone else.

३५. **यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तत् अपि रोहतु। मा ते**
मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयं अर्पिपम्॥ ३५॥

भावार्थ–हे भूमे! मैं कृषि के लिए जहाँ भी खनन करूँ–खोदूँ—वहाँ जो-कुछ रोपण करूँ, उगाऊँ, वह शीघ्र ही उग आये। मैं जो खोदूँ वह तेरे मर्म-स्थान को चोट न पहुंचाये, तेरे हृदय को न दुखाए।

What of thee, O Earth I dig (for sowing and cultivation) let that may grow very soon; Thou who art of the greatest speed. Whatever and whenever I dig of thee, it may not hurt thy vitals and thy heart.

Here the devotee turns into a poet. While ploughing the fields for cultivation he digs deep for plentiful harvest. But lest the Earth, while being dug deep, may feel hurt in her vitals and heart, he apologises and begs for forgiveness.

३६. ग्रीष्मः ते भूमे वर्षाणि शरत् हेमन्तः शिशिरः वसन्तः।
ऋतवः ने विहिताः हायनीः अहोरात्रे पृथिवि नः
दुहताम्॥ ३६॥

भावार्थ–हे भूमे! तेरे लिए निम्न ऋतुएँ बनाई गई हैं–ग्रीष्म, वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर, बसन्त, इन से एक साल बनता है। हे भूमे! इन छहों ऋतुओं में दिन-रात दूध दो।

O Earth! six seasons have been formed for thee—the hot season, the rainy season, the autumn, the winter, the cold, and the spring season—these making one year. O Earth! yield unto us milk, day and night, during all these seasons.

३७. या अप सर्प विजमाना विमृग्वरी, यस्यां आसन्
अग्नयः ये अप्सु अन्तः। परा दस्यून् ददती देवपीयून्
इन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम्। शक्राय दध्रे वृषभाय
वृष्णे॥ ३७॥

भावार्थ–पृथिवी का वर्णन करते हुए मन्त्र कहता है कि जो पृथिवी मानों विवेकपूर्वक (विज्–विवेक) अलग से (अप) भ्रमण करती है, अपने निश्चित मार्ग पर घूमती है, (सर्प–सर्पति गतिकर्मा। नि0 2-14); जिसके भीतर जलों के साथ अग्नि भी है; वह दस्युओं को (वृत्र को) परे फेंक देती है (परा ददति); और सब प्रकार के सुखों की वर्षा करने वाले शक्तिशाली वृषभ के लिए धारण की गई है, जो 'इन्द्र' का सहारा लेती है, 'वृत्र' का नहीं; उसे हमारा नमस्कार है।

O Earth, of the greatest speed! thou art speeding away from the serpent (वृत्र); thou in whom were the fires that are hidden into the waters; thou who art moving away from the God-defiling destructive forces; who art choosing the divine, (इन्द्र), not the evil (वृत्र) ; thou bearest the powerful and virile as one who possesses the strength of a bull.

Many things are attributed in this verse to the Earth. She possesses the greatest speed—this is one thing which is acknowledged by science. The second thing said is that the Earth is speeding away from the serpent. Serpent here stands for the serpentine movement. Serpentine movements are zig-zag, neither circular nor straight. The movement of the Earth is round the sun, it is circular. This is meant when the verse says that the Earth is moving away from the serpent. The third thing mentioned is that the Earth has waters in which fire is hidden. Waters contain fire hidden in them is proved by the fact that electricity is generated by hydro-electric plants. The fourth thing mentioned is that the Earth is worth living on when the destructive forces are eliminated and the divine overcome the evil. The fifth thing mentioned is that the inhabitants of th Earth should be powerful, virile, and strong.

Serpent stands for crookedness, destruction, evil, and weakness. *Sarp* (सर्प), *Dasyu* (दस्यु), *Vritra* (वृत्र)—all represent the forces of evil; *Apas* (आपस), *Deva* (देव), *Indra* (इन्द्र), *Vrishabha* (वृषभ) represent the forces of goodness. The significance of the *Mantra* is that the forces of evil destroy

the Earth, and the forces of goodness sustain her.

३८. यस्याँ सदः हविः धाने, यूपो यस्यां निमीयते, ब्रह्माणः
यस्यां अर्चन्ति ऋग्भिः साम्ना यजुर्विदः। युज्यन्ते यस्यां
ऋत्विजः सोमं इन्द्राय पातवे॥ ३८॥

भावार्थ—वह भूमि जहाँ जनता के लोग एकत्रित होकर यज्ञ में हवि देते हैं, जहाँ एकत्रित होकर खाते-पीते हैं, जहाँ रण-क्षेत्र में विजय का डंका बजाकर अपना विजय-ध्वज खड़ा करते हैं, जहाँ बड़े-बड़े यज्ञ कर ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद का सस्वर पाठ करते हैं और विजय दुंदुभि बजाते हुए जहाँ अपने वीरों—इन्द्र—का गुणगान करते हुए ऋत्विक् लोग विजयी वीरों के साथ सोम-रस-पान करते हैं, उस वेला को हम याद करते हैं।

The Earth where people meet in assemblies, practise sacrificial acts, where there is abundance of food; where they plant their flagstaff of victory; where the learned knowing the ways of worship pray the divine with songs in verses; where the priests also join with others for partaking of *Soma* which has been prepared for the victorious.

The verse describes the celebration of the victory in the conflict between the divine and the evil forces about which mention has been made in the previous verse.

३९. यस्यां पूर्वे भूतकृतः ऋषयः गाः उत् आनृचुः। सप्त
सत्रेण वेधसः यज्ञेन तपसा सह॥ ३९॥

भावार्थ—वह भूमि जिस पर पुरातन कार्यवाहियों को स्मरण कर-करके ऋषिगण, ऋचाएं गाते हैं और तप के साथ सात विजय-यज्ञ मनाते हैं, उस भूमि तथा उन ऋषियों का हम अभिवादन करते हैं।

The Earth on whom the *Rishis* (ऋषयः) speak and sing in verses the glorious deeds of the past of the forbears of the country; these learned ones do so by seven sittings coupled with sacrifice and penance.

The significance of the statement made in the verse is that we generally praise the heroic deeds of our ancestors and pay them only lip service. We do not follow their deeds

in action. Here it is said that we should consider the importance of their deeds by seven sittings which means many times, and be willing to follow them even if we have to make sacrifices and have to undergo hardships.

४०. सा नः भूमिः आ दिशतु यत् धनं कामयामहे। भगः
अनुप्रयुडत्ताम् इन्द्रः एतु पुरोगवः ॥ ४० ॥

भावार्थ—वह भूमि जिस दिशा से भी धन की कामना करें उसी दिशा से धन-धान्य से हमें लाद देगी। पृथिवी पर हमारे लिए तो यह होगा—परन्तु हम वाणी से भी जो चाहेंगे, इन्द्र भूमि माता हमें वह झट देगी—इसके बाद भाग्य हमारा साथ देगा।

That Earth about whom so many attributes have been recounted orders for us the riches we desire. (This we claim on account of our effort), Fortune may join this afterwards. Our effort be the fore-runner.

The verse lays emphasis on one's effort. After having made the effort it is expected that the Earth will command the fulfilment of our desires. Fortune may follow, not precede the effort is the essence of this *Mantra*.

The verse 38 of this *Sukta* makes a mention of *Soma Ras*. European scholars have interpreted *Soma Ras* as wine. On this basis it is said that *Vedas* sanction drinking of wine. But this is wrong. Wine is made after long, long preservation but *Soma Ras* is prepared when *Yajna* is performed at the spur of the moment.

Mr. Chagla, when he was Central Minister of Education put the same question to me when I was member of Parliament. I told him that *Soma Ras* could not be wine as *Soma Ras* was prepared on the spot while performing *Yajna;* wine is never prepared this way. To this he had no answer. The same question was put to me by Mr. B.G. Kher when he was Chief Minister of Bombay with the same answer.

Later on, I came to know that Mr. Chagla and Mr. Kher had a discussion on the topic and my explanation thereon.

पृथिवी सूक्त–3

Prithivi Sukta—III

(The Earth as Mother—III Part, 23 Verses)

पिछले पृथिवी–सूक्त के दो भागों में हमने इस सूक्त के 40 मन्त्रों की व्याख्या की है। पृथिवी–सूक्त में कुल 63 मन्त्र हैं। शेष मन्त्रों की व्याख्या हम यहाँ कर रहे हैं। इस खंड में 23 मन्त्र हैं।

Prithivi Sukta consists, in all, of 63 *Mantras.* We have dealt with 40 of them. Now we shall undertake to deal with the rest of them:

४१. यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्याः व्यैलवाः । युध्यन्ते
यस्यां आक्रन्दः यस्यां वदति दुन्दुभिः । सा नः भूमिः
प्रणुदतां सपत्नान् असपत्नम् मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥

भावार्थ–जिस मातृ–भूमि पर वीर लोग बसते हैं, नाचते हैं, तरह–तरह की बोलियाँ बोलते हैं, जिस भूमि पर चिल्ला–चिल्लाकर युद्ध करते हैं, ढोल बजाते हैं, वह भूमि हमारे दुश्मनों से रहित हो जाय।

The Earth on whom the mortals speaking various tongues sing and dance; On whom they fight with drums resounding loud; Let that Earth drive out our rivals and make herself free from them.

Having made the Earth free from enemies and fit for habitation, the singer of the *Mantra* yearns for peaceful days in the following *Mantra:*

४२. यस्यां अन्नं ब्रीहियवौ यस्याः इमाः पञ्च कृष्टयः ।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमः अस्तु वर्ष मेदसे ॥ ४२ ॥

भावार्थ–जिस भूमि पर नाना प्रकार के अन्न उत्पन्न होते हैं, जिसमें भिन्न–भिन्न लोग निवास करते हैं। हे भूमि! जिसे जल की वर्षा करने वाले मेघ की पत्नी कहा जा सकता है, उस आपको नमस्कार है।

Earth on whom grow foodgrains in the form of rice and barley; On whom are settled manifold groups of hu-

man beings; The Earth whose spouse is the cloud who fattens her with rain; To that Earth be my homage.

Here there is again a mention of five varieties of human beings—*Panch Krishtayah* (पञ्च कृष्टयः) . In the 15th verse there is a mention of *Panch Mānvāh* (पञ्च मानवाः)—five varieties of human beings. We have stated earlier that in the *Vedic* culture 'Five men' *(Panch Mānvāh)* or *(Panch Krishtayah),* (पञ्च मानवाः or पञ्च कृष्टयः) represents a group of human beings, just as *Panchāyat* (पञ्चायत) means a representative body of a village. They may be five, or even more or less. Five (*Panch*—पंच) represents a group, not just the figure five.

४३. यस्याः पुरः देवकृताः, क्षेत्रे यस्याः विकुर्वते। प्रजापतिः
पृथिवीम् विश्वगर्भाम् आशां रण्यां नः कृणोतु॥ ४३॥

भावार्थ–यह भूमि जिसके शहरों का निर्माण शिल्पशास्त्रज्ञों ने किया है, जिसके मैदान विशेष रूप से खुले बनाये गये हैं, उस भूमि को प्रजा का पति चारों दिशाओं से रमणीक बनाए।

Whose cities are planned by men of sterling qualities; In whose fields and landscapes are conducted multifarious activities; Let the master of all beings make resplendent and pleasant to us the Earth who contains everything in her womb—the Earth in every direction.

४४. निधिं विभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिम् हिरण्यम् पृथिवी
ददातु मे। वसूनि नः वसुदा रासमाना देवी दधातु
सुमनस्यमाना॥ ४४॥

भावार्थ–भूमि माता हमें धन-सम्पत्ति, मणि-माणिक्य, सुवर्ण जो इसके भीतर गुहा में भिन्न-भिन्न प्रकार से पड़े हैं, हमें प्रदान करें। वसु देने वाली पृथिवी हमें वसु (हीरा-मोती) प्रदान करे और प्रसन्नता से प्रदान करे।

Let the Earth give us wealth, jewels, and gold which she bears in her hidden places in many forms. Let the Divine Earth, giver of wealth, be pleased in mind, while bestowing treasures; Let her sustain us.

४५. जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्। सहस्त्रं धारा द्रविणस्य मे दुहाम् ध्रुवा इव धेनुः अनपस्फुरन्ती॥ ४५॥

भावार्थ–यह पृथिवी माता भिन्न-भिन्न वाणियों वाले, भिन्न-भिन्न विचारों वाले, भिन्न-भिन्न निवास-स्थानों पर रहने वाले जन-समूह को अपने में धारण करती हुई, सहस्त्र धन-राशि हमें ऐसे प्रदान करें जैसे गाय स्थिर खड़ी रहकर, बिना टाँगें मारती हुई दुग्ध प्रदान करती है।

Let the Earth, bearing in various ways, people of different languages and of different customs particular to their locality, yield to me a thousand streams of wealth as the cow yielding milk standing steady and unresisting.

४६. यः ते सर्पः वृश्चिकः तृष्टदंश्मा हेमन्तजब्धः भृमलः गुहाशये। क्रिमिः जिन्वत् पृथिवि यत् यत् एजति प्रावृषि तत् नः सर्पन् मा उप सृपत्। यत् शिवं तेन नः मृड॥ ४६॥

भावार्थ–हे पृथिवी, सर्दी से मार खाये (हेमन्त जब्धः) जो साँप, बिच्छू, ज़हरीले जानवर या जो-जो ऐसे जानवर हैं, जो वर्षा-ऋतु आने पर पृथिवी से निकल कर क्रियाशील हो जाते हैं, वे रेंगते हुए हमारे नज़दीक न आएँ। भूमि माते, हमारे लिए जो-कुछ कल्याण कर हो वह देकर हमें सुखी कीजिए।

O Earth! whatsoever harsh biting, winter smitten serpents and scorpions lie hidden to seek warmth in thee; whatsoever worm becomes lively and becomes active in rainy season; Let that serpent, scorpion, or worm, while creeping, not come near us; Whatsoever is good for us, with that be pleasant for us.

४७. ये ते पन्थानः बहवः जनायना रथस्य वर्त्म अनसः च यातवे। यैः संचरन्ति उभये भद्रपापाः, तं पन्थानं जयेम, अनमित्रं, अतस्करं यत् शिवं तेन नः मृड॥ ४७॥

भावार्थ–रथ तथा अन्य किसी वाहन से आने-जाने के जो तुम्हारे मार्ग हैं, जिनसे भले लोग तथा दुष्ट लोग आते-जाते हैं, या

उन दोनों प्रकार के लोगों के आने-जाने का रास्ता है, हम उन मार्गों को जीत लें। अपने अधीन कर लें, उन रास्तों में न कोई दुश्मन रहे, न चोर-डाकू रहे। जो हमारे लिए शुभकर हो, वह भूमि माते! देकर हमारा कल्याण कीजिए।

Whatsoever many paths thou hast for going about for people, for chariots and for carts; The paths by which men, both good and evil, travel; Let us conquer those paths making them free from enemies and marauders; Whatsoever is good for us, with that be pleasant for us.

४८. मल्वं बिभ्रती गुरुभृद्, भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते
मृगाय॥ ४८॥

भावार्थ–हे भूमे! आप मलिन तथा गुरु (शुद्ध), भद्र तथा अभद्र (पाप)–सब प्रकार की वस्तुओं को सहन करती हो, आपके लिए वराह, शूकर तथा मृग, ये सब एक समान हैं, पृथिवी को इन सबके लिए दे रखा है, आओ–चोरों डाकुओं तथा शत्रुओं एवं लुटेरों से उस स्थान को स्वतंत्र करें क्योंकि आपके भीतर इन सब प्राणियों के लिए संवेदना है, यही आपकी महानता है। आपके राज्य में शूकर, हरिण, शाक-भक्षी, मांस-मक्षी सबके लिए स्थान है। आपका राज्य सबके लिए खुला है।

O Earth! Thou upholdest the lightest and the heaviest; Thou endurest the extinction of the saint and the sinner; Thou in conjunction with the cloud makest room for the boar and the deer.

In this *Mantra* there is a mention of the Earth making room for the boar and the deer. The conjunction of the Earth with the cloud signifies plenty, for the Earth without the rains. coming from the clouds would be a dry place uninhabitable by the boar and the deer. Both the boar and the deer represent the two kinds of animals—vegetarians and non-vegetarians. The quintessence of the *Mantra* is that the Earth sustains all—amongst the material things—light and heavy; amongst the non-material ones—men and animals; amongst the animals—vegetarians and non-veg-

etarians.

४९. ये ते आरण्याः पशवः मृगाः वने हिताः सिंहाः व्याघ्राः
पुरुषादः चरन्ति। उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनाम् इतः
ऋक्षीकाम् रक्षः अप बाधय अस्मत्॥ ४९॥

भावार्थ–हे भूमे! जंगलों में जो पशु फिरते हैं, मृग आदि घास खानेवाले तथा सिंह, व्याघ्र आदि मानुष-भक्षी, गीदड़, भेड़िये, रीछ आदि तथा राक्षसी स्वभाव वाले मनुष्यों को हमसे परे भगा दीजिए।

Those forest-animals of thine, who go about settled in woods—deers, lions, and tigers, man-earters; the jackal, the wolf. and the vilest bears amongst the demons—do thou force them away from us, O Earth!

५०. ये गन्धर्वाः अप्सरसः ये च अरायाः किमीदिनः।
पिशाचान् सर्वा रक्षांसि तान् अस्मत् भूमे यावय॥ ५०॥

भावार्थ–हे भूमे! हम से उनको दूर कीजिये जो गन्धर्व हैं–सिर्फ़ गाने-बजाने वाले हैं, जो अपसराएँ हैं–विषय-भोग के लिए पास आती हैं, फिर भाग जाती हैं; जो हर वस्तु को–"किं इदम्"–'यह क्या है'–यह कहकर उसे बेकार समझकर परे फेंक देते हैं, जो त्याग नहीं कर सकते, जो पिशाच हैं, जो राक्षस हैं।

O Earth! keep those away from us who are simply glibtalkers but not doers (*Gandharvāh*—गन्धर्वाः); those who make promises but run away in time of need (*Apsarasah*—अप्सरसः); those who cannot give or make sacrifice (*Ārāyāh*—आरायाः); those who regard everything insignificant (*Kim-idinah*—किं ईदिनः) and those who inflict injuries on others (*Pishachāh*—पिशाचाः)—keep away all these Demons.

In this *Mantra* we have translated *Gandharvah* as glibtalkers from 'गां धारयन्ति इति गन्धर्वाः'—those who are masters of tongue only; *Apsarasah* as promise-breakers from 'अप् सृ सरणे'—those who go back; *Ārāyāh* as reluctant to sacrifice from 'अ' (not), and 'रा दाने' (to give)—nogivers, and *Kim-idinah* as those who treat everything insignificant from 'किम्' what and 'इदम्' (is this)—of what significance is this! The *Mantra* says that through the blessings of the Mother Earth we may keep away from those who simply talk high but never act, who always make promises but never fulfil them, who sit tight over their wealth but never part with it for the betterment of society, who treat everything, however important, as trite and insignificant and who like Demons inflict injuries on others.

५१. यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुनाः वयांसि। यस्यां वातः मातरिश्वा ईयते रजांसि कृण्वन् च्यावयन् च वृक्षान्। वातस्य प्रवाम् उपवाम् अनु वाति अर्चिः ॥ ५१ ॥

भावार्थ–पृथिवी जहाँ दोपाये तथा सुन्दर पंखों वाले हंस इत्यादि पक्षी उड़ आते हैं, जहाँ ज़ोर-ज़ोर की हवायें वृक्षों को हिलाकर गर्दा उड़ा देती हैं और हवा की आंधी के साथ वृक्षों के गिरने से त्राहि-त्राहि मच जाती है, हे भूमि माते हमें उससे बचाओ।

The Earth, in whom two-footed winged ones—swans, eagles, hawks, and birds—fly together; In whom wind moving in the sky raises clouds of dust and sets the trees in motion; In whom there are currents of wind followed by their subcurrents; In whom there is light spread all over; Save us from such a place.

५२. यस्याँ कृष्णं अरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यां अधि वर्षेण भूमिः पृथिवी वृता आवृता सा नः दधातु भद्रया प्रिये धामनि धामनि ॥ ५२ ॥

भावार्थ–जिस पृथिवी पर काला और लाल मिलकर दिन-रात बन जाते हैं, जो पृथिवी वर्षा से चारों तरफ़ से भरी हुई है, वह पृथिवी अपनी महत्ता के कारण हमें स्थान-स्थान पर बसने के लिए कल्याणकारी तथा प्यारा-सा आश्रय-स्थान दे।

The Earth on whom dark and brilliant have been joined together in the form of day and night; the broad earth who is wrapped and covered all around with rainwater; Let that Earth, with her nobility, sustain us from place to place.

५३. द्यौः च मे इदं पृथिवी च अन्तरिक्षं च मे व्यचः। अग्निः
सूर्यः आपः मेधां विश्वे देवाः च सं ददुः ॥५३॥

भावार्थ—द्युलोक, पृथिवी लोक, और इनके भीतर का अन्तरिक्ष लोक एवं इसके अतिरिक्त अग्नि, सूर्य, जल तथा अन्य सब देवों ने मुझे मेधा-बुद्धि दी है जिससे मेरा कल्याण हो रहा है। इस कल्याण से मुझ में बल आ गया है। इसलिए मैं एलान करता हूँ:

The Heaven and the Earth, and also the atmosphere spread out in between, surrounding me; Fire, Sun, Waters, and all the Divine Forces—all these together have given me wisdom.

Having fortified himself with invocations of blessings from the Mother Earth, the recitor of the *Mantrās* raises himself to the pedestal of a conqueror of the Earth and a man of achievements and success. Placing himself in such a position he proclaims:

५४. अहम् अस्मि सहमानः उत्तरः नाम भूम्याम्। अभीषाट्
अस्मि विश्वाषाट् आशां आशां विषासहिः ॥५४॥

भावार्थ—मैं सूर्यादि शक्तियों के आशीर्वाद से सब प्रकार के कष्ट सहने योग्य हो गया हूँ। भूमि में मैं उच्च-कोटि का हो गया हूँ। मैं इस पृथिवी को सब दिशाओं से जीत सकता हूँ—मैं विजयी हूँ, विश्व-विजयी हूँ।

I am one who can face all onslaughts, am known as superior by name on the Earth, I am conqueror, conqueror of the world. I conquer the Earth from every direction.

५५. अदः यत् देवि प्रथमाना पुरस्तात् देवैः उक्ता व्यसर्पः
महित्वम्। आ त्वा सुभूतम् अविशत् तदानीम्
अकल्पयथाः प्रदिशः चतस्रः ॥५५॥

भावार्थ—मेरे पृथिवीके विजय कर लने के बाद, मेरे सम्मुख विस्तृत होने वाली भूमि को देवों ने भी आपके विस्तार के महत्व का बखान किया। भूमि को जीत लेने के बाद मैंने उसमें प्रवेश किया। भूमि का विजय कर लेने और उसमें व्यवस्था के प्रवेश कर लेने के बाद उसका सुधार शुरू हुआ और यह कल्पना की गई कि चारों दिशाओं में इसका रूप क्या बनाया जाय।

O Divine Earth! thou art spread out onwards in front (of me); the greatness of thine spreading out has been proclaimed by men who shine; and then, (after my having conquered every bit of the Earth) well-being entered into thee (that is, first having conquered I took to the welfare of people). Thou givest the form to the four quarters (before which the whole land was just an expanse of space with no landmarks in any direction).

In the 54th *Mantra* the recitor assumes the role of a conqueror of the Earth. In his onward march he finds the Earth spread out inviting him for victories to the unknown regions. Wherever he goes great are his achievements. And when he establishes himself and settles down, welfare of all his subjects in all the four directions of the Earth is the goal of his government.

And what transformation takes place in the regions he has established himself in?

**५६. ये ग्रामाः यत् अरण्यं याः सभाः अधि भूम्याम्। ये
संग्रामाः समितयः तेषु चारु वदेम ते।। ५६ ।।**

भावार्थ--भूमि को जीतकर यह निश्चय किया गया कि इसका रहने का भाग कौन-सा हो; निवास का स्थान छोड़कर जंगल का भाग कौन-सा हो; रहने के लिए कौन-सी भूमि ली जाय; और जंगल के लिए कौन-सी भूमि छोड़ दी जाए। जन-समूह के लिए मीटिंग आदि के लिए कौन-से मैदान रखे जाएँ; युद्ध-स्थल कौन-सा हो; सभा-सोसाइटियाँ कहाँ रहे; जहाँ आजकल की तरह पार्टियां जमें और जहाँ प्रेम-भाव से सब लोग मिलें।

Whatsoever are the villages, whatsoever the forests; whatsoever the assemblies on the Earth; whatsoever the associations and the gatherings—in them may we speak good of thee, O Earth!

**५७. अश्वः इव रजः दुधुवे वि तान् जनान् ये आक्षियन्
पृथिवीं यात् अजायत। मन्द्रा, अग्रेत्वरी, भुवनस्य
गोपा, वनस्पतीनाम् गृभिः ओषधीनाम्।। ५७ ।।**

भावार्थ–जैसे घोड़ा अपने पर पड़ी धूल को झाड़ देता है, वैसे ही जो लोग धूल की तरह शासन से चिपके रहते हैं, राज्य की सुव्यवस्था होने पर, शासन भी उन्हें धूल की तरह झाड़ फेंकता है। पृथिवी जब जन्मी है तब से ऐसा ही होते आया है। "अक्षियन्"–शब्द "यज् देव पूजा"–धातु से बना है। राज्य के सुवस्थित होने से पूर्व कुछ लोग तिकड़म से शासन से घुस जाते हैं। ठीक समय आने पर उन्हें झाड़-फेंकने की जरूरत होती है। पृथिवी ही इन्हें झाड़ फेंकती है, क्योंकि असली शासक तो भूमि स्वयं है। पृथिवी के विषय में वेद ने जो विशेषण दिये हैं, वे हैं–"मन्द्रा"–मधुर है; "अग्रेस्वरी"–आगे-आगे चलती है; "भुवनस्य गोपा"–देश के युवकों की रक्षा करना इसका काम है; "वनस्पतीनाम्"–वनस्पतियों की, औषधियों की और वनों की भी राज्य रक्षा करता है।

As a horse shakes off the dust (of his body), so does the conqueror shake off those men who destroy the Earth. This has happened since (the Earth) was born. The Earth who is pleasing, moving with speed, protector of creation, of the youth, container or holder of trees and herbs.

The enemies and the traitors of the Motherland being purged off like the warrior-horse shaking off the dust from the his body is a very significant and impressive simile. The attributes of the Motherland being pleasant and sweet, offering safety and protection, encouraging the youth, being in constant speed and moving on towards progress and expanding, covered all over with trees, flowering plants, and curative herbs—are all that one could wish for, for one's Motherland.

५८. यत् वदामि मधुमत् तत् वदामि यत् ईक्षे तत् वनन्ति मा। त्विषीमान् अस्मि जूतिमान् अव अन्यान् हन्मि दोधतः॥ ५८॥

भावार्थ–मैं जो-कुछ बोलूँगा वह मीठा बोलूँगा, जो कुछ देखूँगा देश के लिए से देखूँगा (वन् षन् संभक्तौ) मैं तेजवान् हूँ। शीघ्र काम कर डालता हूँ, जो गरीबों को दोहते हैं–exploitation–करते हैं. उन्हें ठिकाने लगा देता हूँ।

Whatever I speak, I speak that with the sweetness of honey: Whaterver I see inspires in me devotion; Brilliant am I, man of swift action am I. I smite down those who are committed to violence and exploitation (are violent).

५९. शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती।
भूमिः अधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह॥ ५९॥

भावार्थ–गौ की तरह पृथिवी शान्त हो, सुरभित हो, सुन्दर हो, स्तन में दूध भरा होने के कारण जैसे गाय का स्तन दूध निकालने के लिए किल–किलाता है और रंभाति है, वैसे देश के व्यापारियों के पास इतना धनाधिक्य हो जाय कि भूमि ही बोल उठे कि गाय के दूध भरे स्तनों की तरह मेरे व्यापारियों के पास खज़ाने जमा हो गये हैं, जैसे गाय के स्तनों से दूध निकालते हो, वैसे पृथिवी के खज़ाने से या धनिकों से धन का ग्रहण करो।

Tranquil, fragrant, pleasant, with playful udders, full of milk, let the Earth (like the cow) call unto me overflowing with milk (as the cow calls to her calf).

६०. याम् अन्वैच्छत् हविषा विश्वकर्मा अन्तः अर्णवे रजसि
प्रविष्टाम् भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यत् आविः भोगे
अभवत् मातृमद्भ्यः॥ ६०॥

भावार्थ–"विश्वकर्मा"–अर्थात् संसार को रचने हारे ने जिस धन–सम्पत्ति को अपने त्यागमय यत्नों से ढूँढ़ा वह रजोगुण के राजसिक–लोक में प्रविष्ट हुई–हुई थी, वहाँ छिपी हुई थी। वह लोक क्या था मानों मुंह छिपाने की एक गुफ़ा थी जिसमें छिपे–छिपे रहने को 'योग' कहते थे, परन्तु अस्ल में वह 'भोग' था। जब विश्वकर्मा ने उसे ढूँढ़ निकाला तब वह छिपा हुआ भोग का साधन प्रकट हो गया और वैश्या की जगह उसमें से माता का रूप प्रकट (आविः) हो गया। कहने का अभिप्राय यह है कि कोई स्त्री कितनी ही पतित क्यों न हो, कितना ही मुँह न छिपाती फिरती हो, खोज करने से उसमे मातृभाव दीख ही जाता है।

(Motherland) whom the man of action *Vishvakarmā*—(विश्वकर्मा) after having gone through sacrifices, sought out, lying in water and dust; In which was deposited enjoyment and safety in secret; All that (secret) became manifest for

(one) whom the Earth became a Mother.

The *Mantra* says that the Earth, after all, is nothing but water and dust. But when one treats her as one's Mother, all the secrets of enjoyment and safety lying hidden inside her become manifest. The Earth becomes one's Mother and one her Son.

६१. त्वं असि आवपनी जनानाम्, अदितिः कामदुधा,
पप्रथाना। यत् ते ऊनम् तत् ते आ पूरयाति प्रजापतिः,
प्रथमजा ऋतस्य॥ ६१॥

भावार्थ--हे भूमि माते! तू जन-समुदाय के लिए कृषि के पदार्थ वपन करती है, तू खण्डित नहीं होती, जो कामना हम तुझ से करते हैं उसे पूर्ण करती है, भूमि-विस्तार करती है; जो मुझमें कमी होती है उसे प्रजापति पूरा कर देता है। तू ऋत की प्रथम सन्तान है।

Thou art agro-productive for the people; thou art indestructible; thou art wish-fulfilling; spreading out. Whatever there is deficient in thee that is made good by the progenitor of all that is born; the progenitor of all is the one who is the first-born of the Divine Law—

The *Mantra* says that the Earth though cut by furrows in the soil remains indestructible; not only that, instead of being shortened by cutting by furrows she spreads far and wide. She fulfils the wish of the devotee and whatever remains unfulfilled is made good by the progenitor of the world. The progenitor of the world is called here the first-born which means that there was nothing born before He was. 'Born' here means that He as the Divine Law—*Ritu* (ऋतु) first manifested Himself in setting the world into activity. Manifestation of the Divine Law is called here—'His being Born'.

६२. उपस्थाः ते अनमीवाः अयक्ष्माः अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि
प्रसूताः। दीर्घं नः आयुः प्रतिबुध्यमानाः वयं तुभ्यं
बलिहृतः स्याम॥ ६२॥

भावार्थ–हे भूमि माते! तेरी गोद में जो स्वस्थ, रोग–रहित व्यक्ति हैं, चाहे वे कहीं पैदा हुए हों, सब पार्थिव–मनुष्य ही हैं, वे बेगाने नहीं हैं। यह सब कुछ जानते हुए हम चाहते हैं कि अलग–अलग जगह उत्पन्न होकर भी हम सब दीर्घजीवी हों। हम आपके चरणों में भेंट प्रस्तुत करते हैं।

O Earth! All who are born out of thee and are in thy lap are one of us; Let them be without any disease, ordinary or chronic, Let us intelligently awaken to a long life, and may we be the tribute-bearers to thee.

६३. भूमे मातः नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्। संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्॥ ६३॥

भावार्थ–हे भूमि माता! मुझे अपने पास प्रेम (भद्रया) से प्रतिष्ठित कीजिये–रखिए। हे कवे! दिव्य गुणों को जानते हुए और दिव्य गुणों के साथ 'श्री'–धन–सम्पत्ति का जो सम्बन्ध है उसे जानते हुए मुझे अपने पास रहने का अमूल्य अवसर दीजिये (धेहि)।

O Mother Earth! do thou set me down for my welfare well established; O far-seer, set me down in fortune and prosperity consistent with Divine virtues.

The *Mantra* lays emphasis on fortune and prosperity based on virtue for it is possible to be fortunate and prosperous in the worldly sense without virtue,. The *Mantra* makes virtue as an indispensable adjunct of fortune and prosperity.

उपसंहार

अथर्ववेद के जिस पृथिवी–सूक्त का वर्णन किया गया है वह किसी पृथिवी–विशेष, भू–विशेष अथवा देश–विशेष के सम्बन्ध में नहीं है। जो लोग जहाँ बसे हैं, उन सब पर वह लागू होता है। जहाँ जो बस गया है वह स्थान ही उसकी मातृ–भूमि है। जहाँ तक पृथिवी का सम्बन्ध है, वेद के अनुसार वह ईंट, पत्थर गारा है– "**अन्तः अर्णवे रजसि प्रविष्टाम्**"–परन्तु जिस भूमि में व्यक्ति जन्मा है, जहाँ पाला–पोसा गया है, उसके साथ उसका भावनात्मक सम्बन्ध हो जाता है और उस भूमि को वह मातृ–भूमि

कहने और मानने लगता है–“**माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः**”। अपने देश को वेदों में माता से उपमा दी गई है, यह कहा गया है कि जैसे माता बच्चे को अपना दूध देती हैं–“**माता पुत्राय में पयः**”–वैसे भूमि माता मुझे अपना पुत्र समझकर मेरी पालना करे।

EPILOGUE

The description of Mother Earth in the *Prithvi Sukta* of the *Atharva Veda* does not restrict itself to this or that particular land, it is applicable to every land, of all climes and times, where men settle down and regard the land of their habitation as their Motherland. One of the *Mantrās* has rightly said, what after all is the land of one's adoption? It is nothing but mud and water—‘अन्तः अर्णवे रजसि’ (60)—but the emotional attachment of men who settle thereon makes them call it their Mother. In fact, the *Prithvi Sukta* is addressed to those who are emotionally attached to their country as a Son is attached to his Mother—‘मातृमद्भ्यः’ (60). This attachment to the land of one's birth is so deep and penetrating that the devotee in the *Prithvi Sukta* addresses her as his Mother and styles himself as her Son—‘माता भूमिः पुत्रोहम् पृथिव्याः (12). This relationship is so close that treating oneself as the Child of the Earth one prays that the Earth may yield milk to him as a Mother does to her Babe—‘माता पुत्राय मे पयः’ (10). For one who is in consonance with the land of his birth, his Motherland is like a living organism possessing an immortal heart reverberating with kindness and love resting in the highest firmament—‘यस्याः हृदयम् परमे व्योमन्’ (8). One shudders to hurt her heart—‘मा ते हृदयम् अर्पिपम्’ (35).

The poet in the *Mantrās* of this *Sukta* visualizes the Mother Earth as radiating with a golden aura—‘हिरण्यस्येव संदृशि’ (18); resplendent and pleasing—‘रण्यम्’ (43); even the fragrance of the Motherland emanating from flowers grown all over is enchanting—‘यः ते गंधः पुष्करं आविवेश’ (24).

One admires the animals—tame and wild—roaming about in the forests—'आरण्याः पशवः मृगाः वने हिताः सिंहाः व्याघ्रा' (49)—reminding us of modern sanctuaries of animals. It is a place where useful animals as cows, horses, and birds are protected and looked after—'गवां अश्वानाम् वयसश्च विष्ठा' (5).

The Motherland is a country where people from all over the world are welcome—'जगतः निवेशनी' (6): even every description of race finds a place here—'वैश्वानरं बिभ्रति' (6): so much so that people of different tongues and religions have an equal right—'जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं'–'नाना धर्माणं'—people of different religions are as citizens of the Motherland (45).

The poet of the *Veda* looks to the hills and dales and mountains covered with snow—'गिरयः ते पर्वताः हिमवन्तः' (11)—with pleasure and takes pride in the crystal-clear water of the rivers and the water-falls—'शुद्धाः नः आपः क्षरन्तु' (30).

The foundations of the Motherland are laid on unshakable spiritual rocks—'पृथिवी धर्मणा धृताम' (17), 'selflessness and sacrifice being the essence of individual and social life'—'यस्यां यज्ञं तन्वते' (13), with the background of progressive realisation of Godhead—'ब्रह्मणा वावृधानाम्' (29).

The State—the Motherland—is committed to the Truth which by its very nature is great, to Righteousness which by its very nature is irresistable, to Devotion, Hard work, and Labour (1).

To such an Earth—our Motherland—we pay Homage—'तस्यै नमः' (26).

ब्रह्मचर्य सूक्त

Brahmacharya Sukta

(Life of Physical, Intellectual and Moral Development, 16 Verses)

अथर्ववेद के 11वें कांड का 5वां सूक्त "ब्रह्मचर्य-सूक्त" है। "ब्रह्मचर्य" वैदिक संस्कृति का एक मौलिक विचार है जिसने सिद्धान्त का रूप ले लिया है। इससे उल्टे विचार तो चल रहे हैं, खासकर योरुप में, परन्तु यह अपूर्व विचार भारत की पुण्य-भूमि में ही उपजा है। इस सिद्धान्त के तीन पहलू हैं: पहला पहलू तो यह है कि व्यक्ति अपने निजी, सीमित-क्षेत्र से विश्वजनीन, सार्वभौम तथा सार्वत्रिक-क्षेत्र में–अपने स्वार्थी-क्षेत्र से महान्-क्षेत्र में–"ब्रह्म" का अर्थ "महान्" है–प्रवेश करता है। इसका दूसरा पहलू यह है कि वह अपनी इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखता है। इसका तीसरा पहलू यह है कि व्यक्ति–खासकर बाल्यावस्था का विद्यार्थी या छात्र तपस्या का जीवन व्यतीत करता है, उसका रहन-सहन सादा, गर्मी-सर्दी का सहन करने वाला होता है और वह "वीर्य-रक्षा" पर ज़्यादा ध्यान देता है। उसका मुख्य-लक्ष्य "तप" होता है। अगर यह कहा जाय कि ब्रह्मचारी का जीवन तपस्यामय होता है, तो हम "ब्रह्मचर्य"-शब्द के अभिप्राय को एकदम समझ सकते हैं।

This is the 11th *Kānda* and the 5th *Sukta* of the *Atharva Veda*. It is called the *Brahmacharya Sukta*—ब्रह्मचर्य-सूक्त. *Brahmacharya* (ब्रह्मचर्य) is the original and unique conception of the *Vedic* culture. The concept of *Brahmacharya* (ब्रह्मचर्य) has three meanings—one: in a wider sense, a person moves from a smaller to a bigger dimension—Brahma—'ब्रह्म'—in life; the second: in a stricter sense, a person restrains his senses, particularly, has control over his sex-life; and the third: as a student he strives to live a simple life of hardship avoiding all luxuries and facing every physical discomfort such as heat, cold, and pain with equanimity. His main forte is endurance—Tap—'तप:'. The

Brahmachāri—'ब्रह्मचारी'—is one who works for the fulfilment of the above three aims of life simultaneously. Thus extol the first two stanzas of the *Veda*—a life of endurance—'तप'—which is the basic principle of *Brahmacharya*. This is an original conception of sex-life of Indian culture in which the idea of preservation of '*Virya*'—'वीर्य'—is emphasised.

६४. ब्रह्मचारी इष्णन् चरति रोदसी उभे, तस्मिन् देवाः संमनसः भवन्ति। सः दाधार पृथिवीं दिवं च, सः आचार्यं तपसा पिपर्ति ॥ १ ॥

भावार्थ–ब्रह्मचारी ज्ञान की खोज में द्यु-लोक तथा पृथिवी-लोक–दोनों लोकों में विचरण करता है। उसकी इस खोज में विद्वज्जन उसके साथ सहयोग देते हैं। ब्रह्मचारी पृथिवी-लोक तथा द्यु-लोक के विचरण से जो ज्ञान प्राप्त करता है उसे ठीक से ग्रहण करता है। ब्रह्मचारी तपस्या से गुरुओं को संतुष्ट करता है।

अगले मन्त्र में कहा गया है कि उसके इस परिश्रम से उसके आचार्य ही नहीं अपितु जिन लोगों ने भी उसको सहयोग दिया है, और इस अध्ययन में उसकी सहायता की है, वे उसके परिश्रम से सन्तुष्ट हो जाते हैं।

Wishing to investigate—'इष्णन्'—(the secrets of) both the worlds—the earth and the heaven—'रोदसी उभे' the *Brahmachāri* embarks upon the journey of life—'चरति'. In that task, the men of divine qualities—'देवा—his teachers—are of similar frame of mind. The *Brahmachāri* holds on—'दाधार'—to the investigation (of the secrets) of the Earth and the Heaven. In the investigation, the *Brahmachari* satisfies his teachers—'आचार्यः'—with his endurance and hard application.

Here the aims and the objects of education of a student are clarified. He is to be in search of anything and every thing that is to be sought on the earth and in the heaven. There is no limit to his quest. His teachers are also of the same frame of mind—'देवाः संमनसः भवन्ति'—they are out to help him. They, as if, hold the earth and the heaven together in their hands for investigation. The student works so hard and with such endurance that his teacher—'आचार्य:'—is all but praise for him and is fully satisfied.

In the next *Mantra* it is said that not only his teacher but all who are in any way helpful to him are satisfied with him :

६५. ब्रह्मचारिणं पितरः देवगणाः पृथक् देवाः अनुसंयन्ति
सर्वे । गन्धर्वाः एनम् अनु आयन्, त्रयः त्रिंशत्,
त्रिशाताः, षट् सहस्राः, सर्वान् सः देवान् तपसा
पिपर्ति ।। २ ।।

भावार्थ–ऐसे ब्रह्मचारी जिससे उसके आचार्य सन्तुष्ट हैं, अन्य विद्वान् भी–माता-पिता, आचार्य, धर्माचार्य, गन्धर्वाचार्य–सब विषयों के आचार्य–जिनकी संख्या तीस, तीन सौ, छः हजार तक हो सकती है, सब सन्तुष्ट हो जाते हैं, सबको वह अपनी तपस्या तथा लगन से प्रसन्न कर देता है।

To such a student, who is praised by his teacher—'आचार्य:'—and all others—such as the elders—'पितर:'. men of divine qualities—'देवा:' and the men of arts—'गंधर्वा:'—who may be thirty, three hundred, or even six thousand (which means any number) offer praise, and he satisfies them all with his endurance and application.

६६. आचार्यः उपनयमानः ब्रह्मचारिणम् कृणुते गर्भं अन्तः ।
तं रात्रीः तिस्रः उदरे बिभर्ति, तं जातं द्रष्टुं अभिसंयन्ति
देवाः ।। ३ ।।

भावार्थ–जब आचार्य ब्रह्मचारी का उपनयन-संस्कार करता है, तब उसे अपने इतना समीप ले आता, जैसे माता बच्चे को गर्भ में धारण करती है–"गर्भ अन्तः"। यहाँ तीन रात गर्भ धारण करना पर्याप्त समय तक आचार्य के अत्यन्त निकट रहने का उपलक्षक है। जब ब्रह्मचारी विद्याध्ययन कर उसे समाप्त करता है, उसकी उपमा बालक के जन्म लेने से दी गई है। जब पर्याप्त समय बच्चा गुरुकुल-वास से निकलकर स्नातक बनता है तब देव-गण उसे देखने ऐसे आते हैं जैसे बच्चे के जन्म लेने पर घर

वाले जन्में बच्चे को देखने के लिए इकट्ठे होते हैं।

The teacher—'आचार्य'—of such a student—'ब्रह्मचारी'—brings him close to himself,—so close as the infant is in the womb of its mother. It is so, as if, the teacher as the mother conceived the child in himself and kept him inside for three nights. When after completing his education he issues forth into the world, it is, as if, he were born. The men of divine qualities—'देवा:'—converge from all sides to help him see the light of day.

In no educational system of the world has the closest relationship between the teacher and the taught been expressed with such a telling effect as it is done in this *Mantra.* The teacher conceives the student within himself as the mother does her child. Could the intimate relationship between the teacher and the taught be expressed in a more effective way? The teacher takes upon himself the responsibility not only of the father but also of the mother.

What is the meaning of three nights during which the teacher keeps the student within himself? The three nights are the Physical (*Adhibhautik*—'आधिभौतिक'), the Psychological (*Adhidaivik*—'आधिदैविक'), and the Spiritual (*Adhyātmik*—'आध्यात्मिक'), Three nights means the three-fold ignorance. The student is instructed to keep his body strong, his mind sharp,and his soul vigilant and awake. This growing out of three nights is possible only by staying with the teacher in intimate association with him.

When the student—*'Brahmachāri'*—imbibes all what the teacher—*Achārya*—आचार्य—has to instruct, then he is received as an asset by the society.

६७. इयं समित् पृथिवी, द्यौः द्वितीया, उत् अन्तरिक्षं समिधा पृणाति। ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकान् तपसा पिपर्ति॥ ४॥

वैदिक दृष्टिकोण से सम्पूर्ण-सृष्टि एक 'यज्ञ' है। वे हर वस्तु में 'यज्ञ' देखते थे। संसार एक महान् 'यज्ञ' है, मनुष्य का जीवन भी एक 'यज्ञ' है। सृष्टि की हर वस्तु एक 'यज्ञ' है।

मनुष्य का हर काम एक 'यज्ञ' है। 'यज्ञ' में तीन समिधाओं से उसे दीप्त किया जाता है, सृष्टि-रूपी यज्ञ में तीन समिधाएँ क्या हैं? जिस मन्त्र की हम व्याख्या कर रहे हैं उसमें कहा गया है कि सृष्टि-रूपी यज्ञ को दीप्त करने के लिए पृथिवी पहली 'समिधा' है, द्यु-लोक 'दूसरी' समिधा है, अन्तरिक्ष-लोक 'तीसरी' समिधा है; इसी तरह ब्रह्मचारी के जीवन में यज्ञ प्रदीप्त करने वाली समिधाओं में ब्रह्मचर्य का 'व्रत' लेना पहली समिधा हैं, 'मेखला' दूसरी समिधा है, ब्रह्मचर्य का श्रम अथवा 'तपस्या' तीसरी समिधा है। इन समिधाओं से ब्रह्मचारी का जीवन प्रदीप्त हो उठता है। जो यज्ञ सृष्टि में चल रहा है, वही यज्ञ ब्रह्मचारी के जीवन मे चलता है। इसी भावना को प्रकट करते हुए कहा जाता है कि जो 'सृष्टि' में है वही 'व्यष्टि' में है। व्यष्टि या व्यक्ति का जीवन सृष्टि का प्रतिबिम्ब है। सृष्टि के लोक और व्यक्ति के लोक में ताल-मेल होना ही व्यक्ति का यज्ञ है। "यज्ञेन यज्ञं अयजन्त देवा:" का यही अर्थ है। यज्ञ में देवपूजा, संगतिकरण और दान की भावना मुख्य है, वही भावना 'सृष्टि' में दीखती है, वही भावना 'व्यष्टि' में होनी चाहिए।

This Earth is the first stick of the fuel—समिधा—the heaven is the second, and the space between these two is the third stick of fuel—'समिधा'. With these three sticks of fuel, the *Agnihotra* (*Yajña*—यज्ञ)—in the universe is complete. The *Brahmachāri* with girdle round his waist—'मेखलया', with his effort—'श्रमेण', and with endurance—'तपसा'—as fuels—'समित्'—with these three he performs the *Agnihotra*—(*Yajña*—यज्ञ) of life in the world. Girdle (मेखला) signifies preservation of *virya* (वीर्य)।

Two *Vedic* ideas are adumberated in this *Mantra*. One: The *Vedic* conception is that the microcosm is correlated with the macrocosm. The human body is the miniature universe. Whatever is happening in the universe is also happening in a small scale in the body. What is happening in the universe? The universe is a great *(Yajña)*—'यज्ञ'—in which the Earth—'पृथिवी', the Heaven—'द्यु:'—and the Space in between—'अन्तरिक्ष'—are being offered as fuels—sticks—'समित्'. This *(Yajña)* is a stupendous activity of the

creator with which the aim and the object of creation come to completion—'पृणाति'. This is the *Yajña* in macrocosm. Against this, in microcosm, the *Brahmachāri* also performs *Yajña* in which the girdle—'मेखला', the effort—'श्रम', and the endurance—'तप', are offered as the fuel-sticks—'समिधा—with which the aim and the object of life come to completion. Continuous effort—'श्रम' and endurance—'तप', are the foundation-stones of the successful completion of an activity that brings about success and satisfaction—'पृणाति', 'पिपर्ति'.

६८. **पूर्वः जातः ब्रह्मणः ब्रह्मचारी, घर्मं वसानः, तपसा उत् अतिष्ठत्। तस्मात् जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं, देवाः च सर्वे अमृतेन साकम्॥ ५॥**

भावार्थ–ब्रह्मचारी होने की योग्यता होने के विषय में इस मन्त्र में कहा गया है कि उसमें ज्ञान प्राप्त करने की तीव्र जिज्ञासा होनी चाहिए–'धर्मं वसानः'–"धर्म" का अर्थ है–'गरमी', अर्थात् तीव्रता। जिज्ञासा की इस तीव्रता से वह जीवन में ऊँचा उठता है। ज्ञान प्राप्त करने की तीव्र उत्कंठा न हो, तो वह गुरु के कुल में प्रवेश करके और उपनयन की प्रक्रिया में से गुजर कर भी कोरा-का-कोरा रह जाता है। जब ब्रह्मचारी में ज्ञान की पिपासा उच्च-शिखर पर पहुँची हुई होती है तब उसमें ब्रह्म-सम्बन्धी उच्च-ज्ञान उपजता है।–**"तस्मात् जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठम्"**। इस ब्रह्म-ज्ञान को प्राप्त कर ब्रह्मचारी अमरत्व-ज्ञान वाले देव-गणों की पंक्ति में आ जाता है।

One should be a *Brahmachāri* before one is fit to be born into knowledge. There should be an intense heat (strong desire) in him for the acquisition of knowledge, which means a strong desire for knowledge. By means of such an enduring, hard—'तपसा'—and strong desire he rises to the top of the ladder of life. From this process is manifested in him the highest knowledge—'ब्रह्म ज्येष्ठम्', pertaining to the divine—'ब्रह्मणम्'. Thus, all divine people are in contact with immortality.

The *Mantra* describes the process to attain immortal-

ity. The important step is to be a *Brahmachāri*—which means: (a) determination to move from a smaller to a bigger dimension in life: (b) to control his senses, particularly his sex-life: and (c) to live a simple life of hardship and endurance. With *Tapa* 'तप'—hard labour—(physical, mental. and spiritual)—he moves up the scale of life and attains the highest knowledge which leads him to immortality.

६९. ब्रह्मचारी एति समिधा समिद्धः, कार्ष्णं वसानः,
दीक्षितः, दीर्घश्मश्रुः । सः सद्यः एति पूर्वस्मात् उत्तरं
समुद्रं, लोकान् संगृभ्य मुहुः आचरिक्रत्॥ ६ ॥

भावार्थ–गुरु के कुल में ब्रह्म-विद्या का ज्ञान प्राप्त करने के अनन्तर जब ब्रह्मचारी वहाँ से प्रयाण करता है, तब की स्थिति का वर्णन करते हुए वेद का कथन है कि विद्या समाप्त करने के अनन्तर ब्रह्मचारी आता है–'तप' से प्रदीप्त है, जैसे समिधा के प्रदीप्त होने से आग की ज्वालाएँ प्रकाश को फैलाती हैं, वैसे तप से ब्रह्मचारी का चेहरा प्रदीप्त हो रहा है, परन्तु सर्दी-गर्मी से उसकी त्वचा काली हो गई है मानो काले वस्त्र पहने हों, अथवा तपस्या से कमज़ोर–कृष्ण–हो गया हैं। इस स्थल में 'कृष्ण' का अर्थ 'कृष्' अर्थात् कमजोर भी हो सकता है। यह ब्रह्मचारी ब्रह्म की दीक्षा प्रास कर विद्या में दीक्षित हो चुका है । इसने भोग का नहीं, त्याग का जीवन व्यतीत किया है, इसलिए गुरु के यहाँ निवास काल में इसने क्षौर-कर्म भी नही किया इसलिए यह दीर्घ-श्मश्रु है–दाढ़ी-मूछ बढ़े हुए हैं। वह एक तरह का जीवन बिताकर एकदम उससे दूसरे प्रकार का जीवन बिताने वाला है, ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में आने वाला है–**'पूर्वस्मात् उत्तरं समुद्रम्'**। इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि ब्रह्मचारी अपने ब्रह्मचर्य-काल में कृष्ण-मृग-चर्म वस्त्र धारण करते हुए रहा है, और अब विद्याध्ययन करने के बाद अपनी विद्या बल पर लोगों को मानों अपनी विद्या से पकड़ कर–"लोकान् संगृभ्य" पूर्व दिशा से उत्तर दिशा में–जगह-जगह अपने उपदेशों से प्रचार कार्य करता है अब इसके आगे कहते हैं :

Lo and behold! the *Brahmachāri* comes (after completing his education), face as bright and resplendent—

'समिद्धः'—as the fire of the fuel. He is putting the dark deer skin on his body, with long moustache and beard. Collecting people—'संगृभ्य', again and again—'मुहुः' and edifying them with his ennobling sermons—'आचरिकृत्', he moves swiftly—'सद्यः', from the Eastern to the Western ocean.

As the *Brahmachāri* is required to live a simple and hard life, after completing his education also he is expected to be as simple as possible. To say that he comes from the *Ashram* of the *Achārya* with a deer skin on, and unshaven, is to emphasise the simple and hard life he has been leading. And what does he do after the terminatian of his educational carrer? He moves about addressing the gatherings of people, spreading the message of cultural heritage he has received at the hands of his *Achārya.* His movements are swift and his message is carried all over which is signified by saying that he moves from the Eastern to the Western ocean.

७०. ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्म, अपः लोकं, प्रजापतिं,
परमेष्ठिनम् विराजम्। गर्भः भूत्वा अमृतस्य योनौ, इन्द्रः
ह भूत्वा असुरान् ततर्ह ॥ ७ ॥

भावार्थ–ब्रह्मचारी ने जब जन्म ग्रहण किया था तब आचार्य के गर्भ में प्रवेश किया था। उस समय के विषय में "ब्रह्मचर्य–सूक्त" के तृतीय–मन्त्र में कहा है–"**आचार्यः उपनयमानः ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भं अन्त**"। अब ब्रह्मचारी विद्या रूपी गर्भ में परिपक्व होकर पूर्ण ब्रह्म–ज्ञानी होकर जन्मा है, उस विषय में इस सप्तम मन्त्र में कहते हैं–ब्रह्मचारी अब "ब्रह्म" होकर उत्पन्न हुआ है–"**ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्म**"। अब वह फिर अमृत की योनि में गर्भ बनकर प्रविष्ट होता है–'**गर्भः भूत्वा अमृतस्य योनौ**'। पहले पृथ्वी–लोक में, एक सीमित–स्थान पर था, अब विद्या अध्ययन करने के बाद "अप:लोक" में आ गया। 'अप'–शब्द "आपलृ व्याप्तौ" धातु से बना है। अब वह क्षुद्र–स्थान से आकर एक व्यापक तथा विस्तृत जगत् में प्रवेश कर अपनी ग्रहण की हुई विद्या को लोगों तक पहुँचा रहा है, अमरत्व का सन्देश लोक–लोकान्तर तक पहुंचाने लगा है। अब वह 'इन्द्र' बन गया

है–'ऐश्वर्य-शाली' बन गया है–" इन्द्रो भूत्वा"। जिस 'अपः लोक' का ऊपर वर्णन किया है वह प्रजापति, परमेष्ठी, विराज् का लोक है। पहले ब्रह्मचारी आचार्य के विद्या रूपी गर्भ में प्रविष्ट हुआ था, वहाँ पनपा, बड़ा हुआ, अब **पर-ब्रह्म** के अमर-लोक के गर्भ में प्रविष्ट होकर, तेजस्वी होकर, 'इन्द्र' हो गया है और इन्द्र होकर संसार-व्याप्त आसुरी भावनाओं का उसने संहार करना है–**"असुरान् ततर्ह"**।

The *Brahmachāri* at his initiation is conceived in the womb of immortality—'अमृतस्य योनौ'—as one does in the womb of his Mother. After maturation he comes out as *Indra*—'इन्द्रः' an individual of immeasurable power and strength. As such, he generates the climate of the country full of divine knowledge; *Brahma* (ब्रह्म); good actions—*Apah* (अपः); Intelligent and appreciative people—*Lokam* (लोकम्); Good government—*Prajapatim* (प्रजापतिं); and the understanding of one who is above all—*Parmeshtinam* (परमेष्टिनं)—God. Thus, becoming *Indra* he destroys—*Tatarh* (ततर्ह)—all the evil forces in the society—*Asurān* (असुरान्).

The *Mantra* details the programme the *Brahmachāri*, after receiving education at the *Ashram* of his *Achārya*, has to carry out. He has to destroy the evil forces working in the society and initiate and further the movements for the uplift of the social structure. He disseminates spiritual knowledge, encourages people to associate themselves with good and noble activities, form healthy associations, take part in the government of the country and, above all, to follow the dictates of the Lord of the Universe—God.

७१. आचार्यः ततक्ष नभसी उभे इमे, उर्वी गम्भीरे पृथिवी
दिवं च। ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी, तस्मिन् देवाः
संमनसः भवन्ति॥८॥

भावार्थ–पिछले मन्त्र में कहा है कि ऐश्वर्यवान् इन्द्र ने प्रजापति, परमेष्ठी, विराज के अमृत-रूपी गर्भ में प्रवेश करके शक्तिमान् होकर आसुरी-शक्तियों का विनाश किया। उस मन्त्र में

विनाश के लिए "ततर्ह" शब्द का प्रयोग हुआ है। उसी भावना को जारी रखते हुए इस मन्त्र में "ततक्ष" शब्द का प्रयोग हुआ है। "ततर्ह" और "ततक्ष"–ये दोनों शब्द एक ही धातु से बने हैं जिसका अर्थ है–'तराशना' या रंधे से ऊँच-नीच तराश कर, छीलकर एक-सरीखा कर देना। इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचारी के प्रति आचार्य ने पृथिवी तथा अन्तरिक्ष या संसार के ऊँच-नीच के ज्ञान पर रंधा चलाकर उसे जो सुसंस्कृत कर दिया था, उसे पृथिवी और द्यु-लोक का ज्ञान प्राप्त करा दिया था–**"आचार्यः ततक्ष उभे इमे"**–उसे ब्रह्मचारी ने स्नातक बनकर अपने तप से ठीक वैसा ही बनाये रखा–**"रक्षति तपसा"**। ज्ञान के इस रक्षण-कार्य में विद्वानों की भी सहमति **"संमनसः"** रही।

The *Achārya* has scraped to formation—*Tataksha* (ततक्ष), both the worlds—*Nabhasi ubhe* (नभसी उभे); the wide—*Urvi* (उर्वी) and deep—*Gambhire* (गम्भीरे), the Earth and the Heaven—*Prithivi Divam Cha* (पृथिवी दिवं च). By his enduring effort—*Tapasa* (तपसा) the *Brahmachāri* preserves them. The men of divine qualities are of the same mind—(संमनसः)—as of the *Brahmachāri*.

How could the *Achārya* scrape down the heaven and the Earth and give them a form, as if, from a rugged material? The *Mantra* does not mean it that way. In the first stanza there is a mention that the *Brahmachāri* with the help of the *Achārya*—his teacher—has launched upon the investigation of both the worlds—the heaven the the earth. Here scraping both the worlds means investigation of the Heaven and the Earth, going into all what they contain and have to offer by way of knowledge. In this investigation along with the *Achārya* other men of learning lend a helping hand and are of one mind 'संमनसः'. They contribute to the preservation of knowledge—'रक्षति'—by the hard endurance and serious application—'तपसा' of the *Brahmāchri*.

७२. **इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षां आजभार प्रथमः दिवं च। ते कृत्वा समिधौ उप आस्ते, तयोः अर्पिता भुवनानि विश्वा॥ ९ ॥**

भावार्थ—पहले-पहल ब्रह्मचारी को पृथिवी-लोक और द्यु-लोक में विद्यमान विद्याओं का ज्ञान आचार्य द्वारा भिक्षा के तौर से प्राप्त हुआ था। विद्या का ज्ञान भिक्षा के तौर से प्राप्त होने का तात्पर्य यह है कि वैदिक-संस्कृति में ज्ञान का दान होता है, विक्रय नहीं होता। ज्ञान भिक्षा के तौर पर मांगा जाता है, पैसे से खरीदा नहीं जाता। जब विद्या के भिक्षा के तौर पर मांगे जाने तथा दान रूप में दिये जाने की प्रक्रिया समाप्त हो गई, तब 'ते कृत्वा'—यह करके—ब्रह्मचारी तथा समाज के व्यक्ति पास-पास वैठ गये—**"समिधौ उप आस्ते"**—और तब उस विद्या को समाज को दिया, 'ब्रह्मचारी' तथा समाज इन दोनों ने विद्या को विश्व-मात्र को, भुवन-मात्र को, अर्पित कर दिया, दान में दे दिया, क्योकि विद्या दान रूप में ही मिली थी।

कहने का अभिप्राय यह है कि जो विद्या ब्रह्मचारी को आचार्य ने दी, जिस विद्या से ब्रह्मचारी इन्द्र बना, वह सम्पूर्ण ज्ञान आचार्य तथा इन्द्र रूप ब्रह्मचारी ने विश्व के कल्याण के लिए दान के रूप में संसार भर को दे दिया।

First of all—'प्रथमः'—the *Brahmachāri* obtained—'आजभार'—the knowledge of this vast Earth and the Heaven as a charitable donation—भिक्षा. Then, he made of them oblations for offering worship (to God). In these two are included all the worlds.

During his investigation, the *Brahmachāri* obtains all the knowledge from his teachers concerning every thing contained in the heaven and the earth. This knowledge he obtains as a gift or donation—'भिक्षा'—from his teachers, for in the *Vedic* culture, knowledge is imparted free to one and all. After obtaining knowledge in this way, the *Brahmachāri* also imparts it free, makes this knowledge of the Heaven and the Earth as two burning fuels to give light to the world.

७३. अर्वाक् अन्यः, परः अन्यः, दिवः पृष्ठात् गुहा निधी
निहितौ ब्राह्मणस्य। तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी, तत्
केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान्॥ १०॥

भावार्थ—द्यु-लोक की पीठ से-अर्थात्, जहाँ द्यु-लोक है

वहाँ से देखें, तो यह भूमि लोक अन्य है और इससे परे का लोक अन्य है—अर्थात्, दोनों भिन्न-भिन्न हैं। यह रहस्यमय ज्ञान विद्वानों की ज्ञान-गुहा में ही निहित है—अर्थात्, इन दोनों क्षेत्रों के ज्ञान को सब-कोई नहीं जानता, केवल ब्रह्मज्ञानी आचार्य तथा उसका शिष्य ब्रह्मचारी ही जानता है। उस ज्ञान की ब्रह्मचारी रक्षा करता है, पृथिवी-लोक तथा उससे परे का लोक—इन दोनों लोकों के ज्ञान की—जो उसे आचार्य से दान रूप में प्राप्त हुआ है; ब्रह्मचारी रक्षा करता है, उसे नष्ट नहीं होने देता ।

At the point where the heaven ends—'दिवः पृष्ठात्', there are two worlds: one of them down below—अर्वाक् अन्यः, and the other above—पर अन्यः. Both of them are treasures—'गुहा निधी'—placed in the hidden cave (of the heart) of the *Brahmachāri*. He keeps them safe and protects them by his efforts. The one who knows *Brahma* makes this the only—'केवलम्'—object of his life.

In this *Mantra* there is a mention of two worlds which the *Brahmachāri* explores to widen his knowledge. One of them is down below. That is the earth. And the other is above, at the point where the heaven starts. This is the heaven. The knowledge contained in both of them is a sort of treasure—'निधी'. The *Brahmachāri* preserves both the treasures with his effort. The *Brahmachāri* makes both the worlds—the Heaven and the Earth—as one unit for investigation, and protects them both with his *Tapas*—'तपसा रक्षति'. The idea put forth is that both the heaven and the earth contain treasures of knowledge which the *Brahmachāri* must explore, and make this effort as the ambition of his life—'केवलम्'।

७४. अर्वाक् अन्यः इतः अन्यः पृथिव्याः, अग्नी समेतः
नभसी अन्तरा इमे। तयोः श्रयन्ते रश्मयः अधि दृढाः,
तान् आतिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ॥ ११ ॥

भावार्थ—यहाँ जो रश्मियां हैं उनसे भिन्न, पृथिवी में जो रश्मियां हैं उनसे भी भिन्न, ऐसी दो रश्मियां हैं, जो आकाश में परस्पर मिलती हैं, वे दोनों रश्मियां अपने-अपने क्षेत्र में दृढ़ हैं।

इन दोनों तेजोमय रश्मियों की अपेक्षा ब्रह्मचारी का तेज बहुत बढ़ा-चढ़ा है।

Different from the near one, different from what is on the earth, there are two fires—'अग्नी', which meet together—'समेत', in the space between the heaven and the earth. These rays firmly meet together. The *Brahmachāri* with his *Tapas*—'तपस्', a life of hardness and endurance, outshines—'अति तिष्टति'—both the rays or fires.

The *Mantra* says that on the earth we have fire, but in the space between the heaven and the earth there are two other fires—the fire of the sun and the fire of the moon. When the rays of the sun and of the moon meet, they create a combination of splendour. The *Mantra* says that, in comparison, the face of the *Brahmachāri* outshines the brightness of the combination of the two sets of rays. Such is the infinite energy—*Teja*—'तेज'—imparted by the utilisation and absorption within oneself of the sex-energy that the *Brahmachāri's* face shines with so much brilliance that it outshines the brilliance of the sun and the moon put together. This hyperbolic statement is to emphasise the importance of *Brahmacharya* (physical, intellectual and moral development).

७५. अभिक्रन्दन् स्तनयन् वरुणः शितिंगः बृहत् शेपः अनु
भूमौ जभार। ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां
तेन जीवन्ति प्रदिशः चतस्त्रः ॥ १२ ॥

भावार्थ—जैसे लाल काले रंग का बादल घड़घड़ाता हुआ उत्पादन-शक्ति से पृथिवी को तर-ब-तर कर देता है और पृथिवी की चारों दिशाओं में प्राणी, मेघों द्वारा पृथिवी का सिंचन होने से, अन्न द्वारा जीवन धारण करते हैं, वैसे ही ब्रह्मचारी अपने उपदेशामृत से चारों दिशाओं में बादलों जैसे उच्च-स्वर से वेदों की ध्वनि करता हुआ जीवन-प्रद उपदेशों से जनता की मरु-भूमि में जीवन डालता है।

As a cloud of red and dark hues making loud thunders, having productive power, nourishes the earth, the mountains, and the four quarters of the earth with showers of rain and they get life, so does the *Brahmachāri* with thundering voice, glowing face, virile, replenishes the earth and the mountains and the four quarters of the earth with the eternal waters of the divine message.

In this *Mantra*. the *Brahmachāri* is compared with the dark and red cloud which thunders and brings rain to the earth, the mountains, and the four quarters of the earth so that there be plenty of food for people to eat. The *Brahmachāri* should likewise spread throughout the world the revitalising spiritual message for the benefit of mankind. The physical life is maintained by the rain-water from the clouds, the spiritual life is maintained by the showers of the spiritual message from the *Brahmachāri*.

७६. अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् ब्रह्मचारी अप्सु समिधं आदधाति। तासां अर्चींषि पृथक् अभ्रे चरन्ति तासां आज्यं पुरुषः वर्षं आपः ॥ १३ ॥

भावार्थ–पिछले मन्त्र में अग्निहोत्र की उस प्रक्रिया का वर्णन है जिसमें मेघों द्वारा मानव-जीवन के लिए वर्षा का उल्लेख किया गया है, इस मन्त्र में समिधा द्वारा वर्षा कैसे हो जाती है उसका उल्लेख है। ब्रह्मचारी या उसकी प्रेरणा से समाज जब अग्निहोत्र में समिधा का आधान करते हैं तब समिधा के प्रज्वलन से जो वाष्प उठते हैं वे अग्नि, चन्द्र, वायु, जल में पहुंच कर अभ्र या बादलों में जा पहुंचते हैं। उन वाष्पों का निचोड़ (आज्य-घी) वर्षा के जलों में आता है जिससे अन्न की उपज बढ़ती है।

The *Brahmachari* (while performing *Agnihotra*) places *Samidha* (समिधा)—the burning fuel—in the Fire, in the Sun, in Moon, in the Wind, in the Waters. Their rays—separately—move to the cloud. Out of them is formed the *purusha*—'पुरुषः'. the rain—'वर्षम्', and the water—'आप'.

This *Mantra* speaks of the process how the *Agnihotra* helps to cause the rain. The process implied is as follows: First, the *samidha*—'समिधा', i.e., the material—'सामग्री'—

with which the *Agnihotra* is performed (not only the fuel-sticks but all the materials that are used in performing the Havan) is placed in the fire. After burning, the ethereal fumes of the material—*'Samagri'*—go to the various elements in the world—the sun, the moon, the wind, the waters. All of them for their part remit the essence of the substances received by them from the flaming material to the clouds—'अभ्रे चरन्ति'. After that the rain-water—'वर्षं आपः'—falls to the ground and the man is benefitted by way of higher and better production.

७७. आचार्यः मृत्युः, वरुणः, सोमः, ओषधयः पयः।
जीमूताः आसन् सत्वानः, तैः इदं स्वः आभृतम्॥ १४॥

भावार्थ–आचार्य मृत्यु के समान होता है, आचार्य जल के समान होता है, आचार्य चन्द्रमा के समान होता है, आचार्य औषधि के समान होताहै, आचार्य दूध के समान होता है, आचार्य बादल के समान होता है। सुखद संसार इन गुणों के आचार्यों से भरा होता है।

इस मन्त्र का क्या अभिप्राय है? आचार्य को "मृत्यु" से उपमा दी गई है क्योंकि आचार्य का काम शिष्य के पूर्वार्जित विचारों को मार कर वैदिक-संस्कृति के नवीन विचारों में जन्म देना है; आचार्य "वरुण" के समान है—"वरुण"—का अर्थ जल है, आचार्य को जल से उपमा दी गई है, क्योंकि उसका काम बालक के विचारों की मलिनता को धोकर उसमें पवित्र विचारों का आधान करना है; आचार्य को "सोम" अर्थात् चन्द्रमा से उपमा दी गई है, क्योंकि उसका काम चन्द्रमा की तरह बालक को मानसिक शीतलता प्रदान करना है; आचार्य को "औषधि" से उपमा दी गई है क्योंकि आचार्य का काम बालक को शारीरिक रोगों से मुक्त करना है; आचार्य को "पय" अर्थात् दूध से उपमा दी गई है क्योंकि आचार्य का काम बालक को शक्तिप्रद भोजन से पुष्ट करना है। आचार्य को "जीमूत" अर्थात् बादल से उपमा दी गई है क्योंकि आचार्य का काम वर्षा के समान बालक के लिए ज्ञान की वर्षा करना है। आचार्य का काम ब्रह्मचारी के लिए इस प्रकार का सुखप्रद संसार बनाना है, उसके संसार को इस प्रकार के गुणों से भरपूर कर देना है।

The *Achārya* is like the death. like the water, like the moon, like the medicine, like the milk, like the cloud. With these this pleasent world is full to the brim—'आभृतम्'.

The *Achārya* is like the death because he has to make the student die for his old prejudices and conditionings so that he may receive new light from his teacher; he is like the water because he cleanses the impurities of the body and of the mind of the student; he is like the moon because he gladdens the heart; he is like the medicine because he cures the ills; he is like the milk because he gives the spiritual nourishment; he is like the cloud because he showers the rain of his knowledge all over the world. With these noble qualities of the *Achārya* the world of happiness is full to the brim. Earlier, the *Mantra* dilates on the qualities of the *Brahmachāri;* now, it speaks of the qualities of the *Achārya*—the teacher.

७८. अमा घृतं कृणुते आचार्यः भूत्वा वरुणः यत् यत्
ऐच्छत् प्रजापतौ। तत् ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान् मित्रः
अधि आत्मनः ॥ १५ ॥

भावार्थ–पहले 13वें मन्त्र तक ब्रह्मचारी के विषय में कहा गया था, 14वें मन्त्र से आचार्य के विषय में कहा जा रहा है। इस मन्त्र में कहा है कि आचार्य अपने घर को ब्रह्मचारी के लिए "घी" के समान कर देता है, 'वरुण' के समान कर देता है। "घी" का काम शारीरिक-पुष्टि देना है, "वरुण"-शब्द का यहाँ अर्थ–"वृञ् वरणे" धातु से वरण करने योग्य, ऐसा स्थान जिसे ब्रह्मचारी चाहने लगता है–ऐसा–यह स्थान बन जाता है। जब आचार्य तथा ब्रह्मचारी का ऐसा सान्निध्य हो जाता है, तब "प्रजापति" आचार्य जो-कुछ चाहता है, अपने लिए या अपने मित्रों के लिए चाहता है, ब्रह्मचारी वह सब-कुछ करता है, आचार्य की और आचार्याधीन अन्य व्यक्तियों की सेवा करना उसका कर्त्तव्य हो जाता है।

It is only the *Achārya* who makes the home turn into ghee, i.e., a place of nourishment, development, and plenty. When he becomes the *Varun*—'वरुणः'—i.e., one to be sought after, then whatever the *Achārya* wants for the progress and the protection of the people—'प्रजापतौ'—the *Brahmachāri* procures all that for him, as well as for those who are his friends and his own by relationship.

७९. आचार्यः ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारी प्रजापतिः। प्रजापतिः
वि राजति, विराट् इन्द्रः अभवत् वशी॥ १६॥

भावार्थ–15वें मंत्र तक, पहले ब्रह्मचारी के विषय में कहा, फिर आचार्य के विषय में कहा, अब समाज के विषय में कहते हैं कि प्रत्येक समाज में आचार्य तथा शिष्य दोनों होने चाहिएँ, और जिस समाज में गुरु तथा शिष्य दोनों ब्रह्मचारी होंगे, उस समाज का "प्रजापति"–प्रजा का पालन करने वाला शासक भी ब्रह्मचारी होना चाहिए। जब समाज का शासक ब्रह्मचारी होगा, अपने को नियन्त्रण में रखेगा, तो वह ऐश्वर्यशाली होगा, इन्द्र होगा (इदि परमेश्वर्ये), परम शक्तिशाली होगा। और जब सब लोग ब्रह्मचारी होंगे तो वे प्रजा को वश में रख सकेंगे–"वशी" होंगे।

The *Achārya*—the teacher—should be a *Brahmachāri;* the *Prajapati*—the ruler—should be a *Brahmachāri;* thus the ruler shines; and one who shines is *Indra*—a person of supreme power, but one who possesses supreme power can be only he who has control over himself—'वशी'.

Here the emphasis is on *Brahmacharya.* The teacher should be a *Brahmachāri.* He should be one who is determined to move in life from smallness to greatness, who restrains his senses, particularly has control over his sex-life and who tries to live a life to simplicity, hardness, and endurance. He alone who himself lives a life of *Brahmacharya* can inspire his students to live that life. Not only the *Achārya* but the ruler—'प्रजापतिः'—too should be a *Brahmachāri.* Thus, one who observes the life of self-control can be in the position of an adviser to others to control themselves. Example is better than precept.

८०. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति। आचार्यः
ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणं इच्छते॥१७॥

भावार्थ–तप और संयम के जीवन से ही शासक राष्ट्र की रक्षा कर सकता है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए मन्त्र कहता है कि आचार्य भी अगर स्वयं ब्रह्मचारी होगा तो अपने शिष्य ब्रह्मचारी से सम्मान की इच्छा रख सकता है, जो स्वयं ब्रह्मचारी न होगा उसका शिष्य सम्मान कैसे करेंगे।

By the hard life of endurance and self-control, i.e. the life of *Brahmacharya* only, the ruler can protect the state; the *Achārya*—the teacher—also can aspire to have the respect of his students by the observance of *Brahmacharya.*

There is the continued emphasis on *Brahmacharya,* i.e., self-control. No ruler who has no control over his passions, who indulges in sex-life, who is given to the life of senses and luxury, can be a successful ruler. Similarly, no teacher who is not a *Brahmachāri,* can be a guide to his students. According to the *Vedic* culture *Brahmacharya* is the key to successful material as well as spiritual life.

८१. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अनड्वान्
ब्रह्मचर्येण अश्वः घासं जिगीर्षति॥ १८॥

भावार्थ–कन्या भी ब्रह्मचर्य का जीवन बिताकर युवा अर्थात् ब्रह्मचारी पति को प्राप्त करती है, बैल और घोड़े जैसे जानवर भी घास जैसी वस्तु खाकर ब्रह्मचर्य के बल से युद्ध में जीत जाते हैं।

It is after the life of *Brahmacharya* that the girl gets a young man as her husband. It is due to *Brahmacharya* that the bull and the horse, even though subsisting on grass, have the strength to aspire to be victorious (in a fight).

८२. ब्रह्मचर्येण तपसा देवाः मृत्युं अपाघ्नत। इन्द्रः ह
ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वः आभरत॥१९॥

भावार्थ–ब्रह्मचर्य रूपी तप से दिव्य-गुण के व्यक्तियों ने मृत्यु को भी मार दिया। परमैश्वर्य वाले भगवान्–"इन्द्र"–ब्रह्मचर्य की साधना से दिव्य गुणों वाले साधकों से सुखद स्थानों को भर देते हैं।

ब्रह्मचर्य से मृत्यु को मार देने का विचार अपूर्व और अनसुना विचार है, जो सिर्फ़ वैदिक-संस्कृति में पाया जाता है। इस मन्त्र

में इस विचार का होना सिद्ध करता है कि वैदिक-संस्कृति ब्रह्मचर्य को कितना ऊँचा स्थान देती है। मृत्यु को मार देने का अर्थ है--मृत्यु के भय का न होना। ब्रह्मचारी को मृत्यु का भय नहीं रहता। जिसे मृत्यु का भय न रहे उसके लिए मृत्यु रहती ही नहीं, उसके लिए मृत्यु मानो मर जाती है। जैसा इस प्रकरण में बार-बार कहा गया है, असली मृत्यु तो काम, क्रोध, मद, लोभ के वशीभूत हो जाना है। जो व्यक्ति मृत्युप्रद इन भावों को जीत जाता है वह मृत्यु को जीत जाता है।

By the enduring power of *Brahmacharya,* the divine men destroyed death. *Indra*—the most powerful of the divine persons—filled the divine people with happiness by the observance and power of *Brahmacharya.*

By destroying death, the *Mantra* does not mean that death does not take place at all. When with the observance of *Brahmacharya* one gets over the fear of death, for that one; death ceases. *Brahmacharya* is the realisation of one's victory over the passions of the flesh. This realisation fills one with supreme happiness which is bound to happen to every one who scores victory over any situation. This the *Mantra* calls the death of death.

८३. ओषधयः भूतभव्यम् अहोरात्रे, वनस्पतिः ।
संवत्सरः सह ऋतुभिः ते जाताः ब्रह्मचारिणः ॥ २० ॥

Medicines, past and future, day and night, plants and trees. years and seasons—all become friends of the *Brahmaehāri.*

भावार्थ—सृष्टि में ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन करते हुए व्यक्ति-व्यक्ति के बालक रूप में उसके ब्रह्मचारी-व्रत धारण करने के विषय में अब तक जो-कुछ कहा वह व्यक्ति से शासक पर घटाते हुए मन्त्र ने उसे समाज पर, और आगे चलकर सम्पूर्ण विश्व पर उसे घटाया। जहाँ-जहाँ जीवन है, वहाँ-वहाँ जीवन ब्रह्मचर्य के कारण ही टिका हुआ है, क्योंकि वैदिक संस्कृति में ब्रह्मचर्य ही जीवन है। ब्रह्मचर्य हो तो राष्ट्र की रक्षा कर सकता है, ब्रह्मचर्य हो तो कन्या का युवा पति से विवाह हो सकता है, ब्रह्मचर्य हो तो जरा-मृत्यु से विजय पाया जा सकता

है। वैदिक संस्कृति में ब्रह्मचर्य के विचार को इतना महत्त्व दिया गया है कि जो ब्रह्मचर्य-व्रत पालन करते हैं वे ब्रह्मचारी के सगे-सम्बन्धी हो जाते हैं। यद्यपि यह विचार कवितामय है, तथापि वेद का कथन है कि औषधियों का, भूत-भव्य का, दिन-रात का, वनस्पतियों का, संवत्सर का, ऋतुओं का जीवन ब्रह्मचर्य के कारण ही है।

"ब्रह्मचर्य-शब्द" के इतने व्यापक रूप को देखकर यह कहना होगा कि "ब्रह्मचर्य"-शब्द का वेद में केवल सेक्स या वीर्य-रक्षा से ही सम्बन्ध नहीं है, "ब्रह्मचर्य"-शब्द का वेद में प्रयोग बहुत व्यापक रूप में किया गया है। यह व्यापक रूप क्या है? जब हम "सेक्स" या "वीर्य" शब्द का प्रयोग करते हैं, तब समझ का क्षेत्र बहुत संकुचित हो जाता है। उक्त मन्त्र में कहा गया है कि औषधियाँ भूत-भव्य, दिन-रात, वनस्पतियाँ, संवत्सर, ऋतुएँ—इन सबकी सत्ता का कारण ब्रह्मचर्य है। इस कथन के दो अभिप्राय हो सकते हैं—या तो इसका अभिप्राय यह है कि औषधियों, भूत-भव्य, दिन-रात, वनस्पतियों, ऋतुओं सहित संवत्सर ब्रह्मचर्य के कारण, जीवित हैं या इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचारी में ब्रह्मचर्य के कारण इतना तेज तथा यश उत्पन्न हो जाता है कि ये सब उसके साथ—अर्थात् उसके सहयोगी हो जाते हैं, ब्रह्मचारी का जड़-चेतन के साथ ताल-मेल हो जाता है। शब्दों का अर्थ लिया जाय, तो—"**ते जाताः ब्रह्मचारिणः**" का अर्थ हुआ—"वे ब्रह्मचारी के हो जाते हैं"। जैसे कोई कहे—'मैं आपका हूँ'—तो इसका क्या अर्थ होगा? हमें उक्त तथा अगले मन्त्रों का यही अर्थ युक्ति-संगत लगता है। इस सारे स्थल को कविता की दृष्टि से समझना चाहिए।

This is a poetic expression. The *Brahmachāri* is so much loved and respected and is in tune with Nature and the World around that every thing becomes his. 'His' means the expanse of his Self. Or, they become his associates. The medicines, past and future, day and night, plants and trees, years and seasons—all become his friends.

८४. पार्थिवाः दिव्याः पशवः आरण्याः ग्राम्याः च ये।
अपक्षाः पक्षिणः च ये, ते जाताः ब्रह्मचारिणः ॥ २१ ॥

भावार्थ—पृथिवी के भीतर रहने वाले, द्यु-लोक में उड़ने वाले, जंगलों में विचरने वाले और गाँवों में रहने वाले, पंखों वाले

तथा बिना पंखों के जो जानवर हैं वे सब ब्रह्मचारी के सहयोगी या प्रेमी बन जाते हैं। इस प्रकरण में 20वें मन्त्र में कही गई विचारधारा को सामने रख लेने से भाव स्पष्ट हो जायेगा।

All that is on the earth and in the heaven; the animals of forests and the domesticated ones in villages; and also the birds with wings as well as without wings—all become of the *Brahmachāri*.

Here also the poetic idea is in evidence. All is his—in the heaven or on the earth—all living creatures—men, animals, birds—become his. He is the master of all that he surveys. Such is the significance and the greatness fo the observance of *Brahmacharya*—which means purity of character—that he is in all and all are in him.

Most translators have rendered the stanza meaning that medicines, past and future, day and night etc. and also animals and birds, etc., become *Brahmachāri's*. But if the word *Brahmachāri* is interpreted in genetive singular, then our translation gives a better sense.

८५. पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणान् आत्मसु बिभ्रति। तान्
सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिणि आभृतम्॥ २२॥

भावार्थ–प्रजापति परब्रह्म ने जो सब प्राणी उत्पन्न किये हैं उन सब प्राणियों को ब्रह्मचारी अपना समझता है और सोचता है कि जैसा मैं हूँ वैसे ये भी हैं और अपने और अन्य सभी में कोई भेद नहीं देखता, सबको अपने जैसा, मानो अपने भीतर ही देखता है। जब ब्रह्मचारी सबको अपने भीतर देखता है, और यह भी देखता है कि ब्रह्म उसकी रक्षा करता है तो समझ जाता है कि जैसे ब्रह्म उसकी रक्षा करता है, वैसे वही सब प्राणियों की भी रक्षा करता है क्योंकि सब प्राणी भी उसी के सरीखे हैं।

इस मन्त्र का तात्पर्य यह है कि सब प्राणियों की रक्षा का उपाय यही है कि सब प्राणधारी ब्रह्मचारी के सहयोगी बनें। ब्रह्मचारी के सहयोग में जो होगा उसकी ब्रह्म रक्षा करेगा। सब उसके सहयोगी होंगे तो सबकी रक्षा स्वयं हो जायेगी। सब के "प्राण" होंगे उनके "आत्मा" में; सबकी आत्मा होगी, "ब्रह्मचारी" के हाथ में–इस प्रकार ब्रह्मचारी के सहयोगी होने से ब्रह्मचर्य के

कारण सबकी रक्षा होगी।

All creatures individually and separately—'पृथक्'—created, have their breaths placed in their souls. God protects them all by reposing them all—प्राभृतम्—in (the hands of) the *Brahmachāri*.

It means that the source of life of all living creatures is the breath—'प्राण'—but the breath is reposed in the soul—'आत्मा'. If there is no soul, there is no breath, no life. God protects all living souls—all living creatures–but protection rests in one's observance of *Brahmacharya*—purity of sex-life and high character. If *Brahmachāri* is protected, all are protected.

८६. देवानाम् एतत् परिषूतम् अनभ्यारूढम् चरति रोचमानम्। तस्मात् जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाः च सर्वे अमृतेन साकम्॥ २३॥

भावार्थ–ब्रह्मचारी दिव्य गुणों का सार है, जो किसी से आरूढ़ नहीं होता, अर्थात् जिस पर कोई चढ़ नहीं बैठता, जो किसी के दबाव में नहीं आता। वह विश्व में दीप्तिमान् होकर विचरता है। वह उच्चतम ब्रह्म-विद्या का ज्ञाता है और उसका उपदेष्टा है। उससे ब्रह्म-विद्या उपजती है। ब्रह्म-विद्या के अन्य सब ज्ञाता उस अमर के सम्पर्क में आकर अध्यात्म-विद्या का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस मन्त्र का द्वितीय भाग इसी सूक्त के 5वें मन्त्र का वैसा ही हिस्सा है।

The *Brahmachāri* is a quintessence—'परिष्तम्'—of divine qualities. He is unconquerable—'अनभ्यारुढ़म्'—no body can ride him. Thus, bright and shining, he moves about. From him is born the highest knowledge—'ब्रह्म ज्येष्ठम्'—pertaining to divinity—'ब्राह्मणम्'. Thus, through him, all divine people are in contact with Immortality.

(The second part of this verse is the same as the second part of the 5th verse of the Sukta).

८७. ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजत् बिभर्ति, तस्मिन् देवाः अधि विश्वे समोताः। प्राणापानौ जनयन् आत् व्यानं वाचं मनः हृदयं ब्रह्म मेधाम्॥ २४॥

भावार्थ—तेज से देदीप्यमान ब्रह्मचारी ब्रह्म-विद्या को अपने भीतर धारण करता है, इसलिए उसमें विश्व के सब दिव्य-गुण आकर केन्द्रित हो गये हैं। इसलिए ब्रह्मचारी हमें प्राण, अपान, व्यान, वाणी, मन, हृदय तथा मेधा का ज्ञान देता है।

The *Brahmachāri*, shining and bright, holds in him the divine knowledge—'ब्रह्म'. Hence, all the divine qualities concentrate—'अधि समोता:'—in him. Let him generate—'जनयन्'—in us the force of *Prān, Apan,* and *Vyan*—'प्राण', 'अपान', and 'व्यान'.

By *Pran*—'प्राण'—is meant the anabolic process; by *Apan*—'अपान'—is meant the catabolic process; by *Vyan*—'व्यान'—is meant the metabolic process. In the *Brahmachāri* all these processes are in balance.

८८. चक्षुः श्रोत्रम् यशः अस्मासु धेहि अन्नं रेतः लोहितम् उदरम्॥ २५॥

ब्रह्मचारी उक्त ज्ञान के साथ ही हमें चक्षु, श्रोत्र, यश, रुधिर तथा उदर का भी ज्ञान दे। पहले पद में प्राण, अपान, व्यान, वाणी, मन, हृदय तथा मेधा का ज्ञान माँगा जो सूक्ष्म-तत्व हैं। अब चक्षु, श्रोत्र, यश, अन्न, रेतस्, रूधिर, उदर का ज्ञान माँगा है जो पिछले ज्ञान का हिस्सा हैं।

Let our speech, mind, heart, knowledge, intellect, sight, hearing, food, virility, blood, digestion be regenerated by the observance and practice of *Brahmacharya.*

८९. तानि कल्पत् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपः अतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे। सः स्नातः बभ्रुः पिंगलः पृथिव्यां बहु रोचते॥ २६॥

ज्ञान सागर की तरंगों की पीठ पर थपेड़े खाता हुआ ब्रह्मचारी मानो एक कठिन तप से गुज़रा है। समुद्र में स्नान कर जैसे व्यक्ति नीला-पीला हो जाता है वैसे ही ब्रह्मचारी संसार के ज्ञान-समुद्र में स्नान कर अनेक भवरों में से गुज़रकर शान से पृथिवी में चमक रहा है।

The *Brahmachāri,* having entered the ocean of knowledge—'समुद्रे'—as if, swims on the surface of the current of water—'सलिलस्य पृष्ठे'—practising austerity—'अतप्यत्'. Having bathed in the ocean of knowledge (he comes out)—'स्नात:'—and shines on the earth with splendour—'पिंगल:'—and as the upholder of mankind—'बभ्रुः'.

उपसंहार

जैसे हम पहले लिख चुके हैं "ब्रह्मचर्य" का विचार वैदिक विचारधारा की अपूर्व रिसर्च थी। "ब्रह्मचर्य" का अर्थ सिर्फ़ वीर्य का संरक्षण ही नहीं था, इसका बड़ा व्यापक अर्थ था। इसका अर्थ भौतिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र था। "ब्रह्मचर्य"-शब्द के दो हिस्से हैं-"ब्रह्म" तथा "चर्य"। "ब्रह्म" का अर्थ है-विशाल तथा "चर्य"-'चर' धातु से बना है, जिसका अर्थ है-विचरण। इस दृष्टि से इस शब्द का अर्थ है-विशाल दृष्टि से, हर क्षेत्र में विचरण करना, आगे बढ़ना। "ब्रह्मचर्य" शब्द का अर्थ है-बड़ा होना, छोटे से बृहत् या महान् होना, ब्रह्म होना। जो व्यक्ति छोटी स्थिति से बड़ी स्थिति में जाने का प्रयन्त कर रहा है, वह "ब्रह्मचारी" है।

भौतिक-दृष्टि से इसका अर्थ "वीर्य-रक्षा" भी है। आज का भोगवाद ब्रह्मचर्य या वीर्य-रक्षा की हंसी उड़ाता है, परन्तु वैदिक-संस्कृति में वीर्य-रक्षा को जीवन का महान् उद्देश्य माना गया था। आज के नवयुवक चरित्र-भ्रष्ट होते चले जा रहे हैं; छोटी आयु में ही निकृष्ट आदतों के शिकार हो जाते हैं, और बड़ी आयु होने पर उन आदतों के लिए पछताते हैं, परन्तु वैदिक-संस्कृति के वैज्ञानिकों ने यह ज्ञान दिया था कि शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति का एकमात्र साधन "ब्रह्मचर्य" या वीर्य-रक्षा है। 'वीर्य-रक्षा' या 'ब्रह्मचर्य' पर हमने एक पुस्तक हिन्दी में लिखी है जिसका नाम 'ब्रह्मचर्य-सन्देश' है।

आजीवन वीर्य-रक्षा करना भी "ब्रह्मचर्य" का लक्ष्य नहीं था। "ब्रह्मचर्य" के बाद गृहस्थ-जीवन का भी जीवन में उतना ही स्थान था, जितना ब्रह्मचर्य" का था। तभी ब्रह्मचर्य-सूक्त में ही **"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्"** का मन्त्र दिया गया है।

ब्रह्मचर्य या वीर्य-रक्षा से जो भौतिक लाभ होता है उसके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक लाभ भी कम नहीं होता। ब्रह्मचारी तप

और तग का जीवन व्यतीत करता है। इस सूक्त में "तप" शब्द का दस बार प्रयोग हुआ है। तपस्वी व्यक्ति लोभी-लालची नहीं हो सकता। लोभी-लालची वही होता है जिसकी आवश्यकताएँ बहुत बढ़ी हुई हों। आवश्यकताएँ उसकी बढ़ती हैं जो विलासी भोगवाद का शिकार होता हो।

EPILOGUE

The concept of *Brahmacharya* is a great discovery of the *Vedic* culture. It does not mean celibacy. It is much more than celibacy. It signifies physiological, psychological, and spiritual development of human beings. The word *Brahmacharya* is composed of two words—*'Brahma'* and *'Charya'*. *Brahma* means great, and *Charya* means movement. *Brahmacharya,* therefore, means a movement towards becoming great. The *Brahmachāri* is one who has planned his life as a movement towards greatness.

Physiologically it means control over sex-life. Unbridled and uncontrolled sexual indulgence is a sure step towards the ruination of health. It is only the man who flouting the Biological Law of Sex, revels in sex-life. The nature does not sanction it. Semen (an important hormone)—*'Virya'* (वीर्य)—which can create life, if absorbed in the body, can recreate energy and physical health. Whatever the moderns may say, sex-life does exhaust the man despite giving a temporary exhilaration. The finding of the *Vedic* culture is that sex-life, though a biological instinct, if channelled to higher purposes, releases unlimited energy which can be utilised for mental and spiritual development. To this end, this *Sukta* extols the life of *Brahmacharya.*

It does not, however, mean that sex-life is altogether prohibited by the *Vedas*. The eighth *Mantra* of this *Sukta* says that through *Brahmacharya* an adult marries a grown-up girl—'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'.

Besides the Physiological benefits, the Psychological benefits are also immense. The *Brahmachāri* is a man of character. His main ambition in life is to acquire knowledge in every field, of every description, as the *Mantra* says. He has to go in search of every thing that is in the Heaven and on the Earth—'इष्णन् चरति रोदसी उभे' (see *Mantra* 1). He leads a life of hardship and endurance (see *Mantra* 2). The *Sukta* is full of the word—'*Tapas*'—'तपस्'—which means life of hardship and endurance—'तपसा पिपर्ति' (see *Mantra* 22). He has to sit at the feet of the *Achārya,* live in his *Ashram* and put forth all his efforts, avoiding a life of luxury, to the acquisition of knowledge.

As regards the Spiritual benefits derived by the *Brahmachāri* through his contact with the *Achārya,* the *Sukta* says that his Guru imparts him the knowledge of *Brahma*—'ब्रह्म'—that is the Divinity. The *Brahmachāri* is one who has developed himself Physically, Mentally, and Spiritually. His achievement is not confined to one part of life. He lives a full life—of the body, of the mind, and of the soul.

While eulogising the principle of *Brahmacharya,* the *Sukta* enunciates a dynamic principle of education. It says that the contact between the teacher and the taught should be as close as that between the mother and the child—'कृणुते गर्भं अन्तः' (see *Mantra* 3). Much can be said to amplify this principle, but there is no doubt that a more appropriate expression could not be made on the subject.

The *Brahmachāri* is in tune with Nature. He is in tune with the non-living—plants and trees, with the living—birds, animals, and human beings—'ते जाताः ब्रह्मचारिणः' (see *Mantras* 20 and 21).

The *Brahmachāri* is unconquerable—'अनभ्यारूढ़म्' (see *Mantra* 23); he leads a simple life, but still his face shines with splendour and brilliance—'समिधा समिद्धः; चरति रोचमानः' (see *Mantras,* 6, 23, 24 and 26). Suffering hardship and endurance is his leading characteristic. Even the rulers must observe *Brahmacharya,* otherwise they cannot offer security and give protection to their subjects—'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति' (see *Mantra* 17). According to the *Vedic* ideology, undergoing hardship and leading a life of endurance are the essential virtues for a ruler who wants to govern successfully. In this *Sukta,* in six stanzas the word *Brahmacharya* is used 24 times and the word *'Tapas'*—hardship and endurance—is used 10 times, showing the importance that is given to *Brahmacharya*—'ब्रह्मचर्य'—and *Tapas*—'तपस्'—a life of sexual purity, of simplicity. of hardship, and of endurance.

साम्मनस्य सूक्त

Sammanasya Sukta

(Social Unity; 7 Verses) अथर्व 3-30

आज सब जगह समाजवाद का बोलबाला है। समाजवादी राष्ट्र बने हुए हैं; भारत में भी समाजवादी नाम से राष्ट्रीय पार्टियाँ बनी हुई हैं। समाजवादी विचार वेद में जगह-जगह बिखरे पड़े हैं। उनका कुछ नमूना हम यहाँ दे रहे हैं:

९०. सहृदयं सांमनस्यं अविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यः अन्यं
अभिहर्यत, वत्सं जातं इव अघ्न्या॥ १॥

भावार्थ—परमात्मा का वेद द्वारा मनुष्य को आदेश है कि मैं तुम सबको एक-से मन का और द्वेष-भाव से रहित कर देता हूँ—तुम्हारे "हृदय" तथा "मन" को द्वेषरहित बना देता हूँ। जो तुम लोग एक-साथ रहते हो, तुम्हारा आपसी-सम्बन्ध ऐसा हो जाय कि तुम एक-दूसरे को चाहो, ठीक इस तरह जैसे गाय का प्रेम 'सद्यः जात' बछड़े के प्रति होता है। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि इस मंत्र में गाय को "अघ्न्या" कहा है जिसका अर्थ है—वह प्राणी जिसका हनन न किया जाय। इस शब्द के होते हुए यज्ञ में गौ का वध कैसे चल पड़ा—यह वैदिक-संस्कृति के लिए लज्जा की बात है। इसका अर्थ यह है कि भारत के इतिहास में एक ऐसा भी समय आ गया था जब पंडित लोग भी संस्कृत के शब्दों का अर्थ भूल गये थे, अन्यथा "गौ" के लिए "अघ्न्या"-शब्द के होते हुए गौ कि हिंसा कैसे चल पड़ी!

The *Veda* says: I make you emotionally sympathetic to each other; intellectually of the same mind; each one of you should love each other, just as the cow loves her new-born.

Here the word *Aghnyā*—'अघ्न्या'—is used for cow. *Aghnyā* in Sanskrit means that which should not be killed. The use of this word for the cow is an irrefutable argument to prove that the cow was not killed in the *Vedic* times and the meaning of *Gomedha* was something else. How

could, those who have asked to love each other just as a cow loves her new-born, be advised to kill that very cow who gives the message of love by her example. It is all misinterpretation of the *Vedas* as proclaimed by Rishi Dayanand.

९१. अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये
मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥ २॥

भावार्थ–पुत्र पिता का आज्ञाकारी हो, माता की मनोकामना के अनुरूप चलने वाला हो, पत्नी पति के साथ मीठी वाणी बोले शान्ति से सबका जीवन हो–यही गृहस्थ-जीवन का आदर्श है।

Let the son be to the pattern desired by the father; in tune with the mind of the mother. Let the wife speak in honeyed voice to the husband bringing peace (to the members of the family)—this is the ideal of a householder's life.

९२. मा भ्राता भ्रातरं दिक्षत् मा स्वसारं उत स्वसा। सम्यञ्चः
सव्रताः भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ ३॥

भावार्थ–भाई-भाई के साथ शत्रुता न करे, बहन-बहन के साथ प्रेम से रहे, परिवार के सब सदस्य एक-साथ एक उद्देश्य के साथ रहें, एक-दूसरे के साथ प्रेममयी वाणी से व्यवहार करें–इसी से परिवार में शान्ति रहती है।

Let not the brother hate his brother nor let the sister hate her sister. Let all live meeting together with a common object. Let them speak (with each other) in a language pregnant with noble sentiments.

९३. येन देवाः न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः। तत् कृण्मः
ब्रह्म वः गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥ ४॥

भावार्थ–भगवान् वेदोपदेश द्वारा कहते हैं कि तुम्हारी गृहस्थी में तुम्हारे बुजुर्ग–'देवाः'–तुमसे अलग न हों–"न वियन्ति"–तुम लोग आपस में प्रेम नहीं तो द्वेष-भाव से न रहो–ऐसा विशाल–"ब्रह्म"–बड़ेपन का ज्ञान तुम्हारे घर में तुम्हारे बड़े कर दें। तुम्हारे घर में पुरुष, स्त्रियाँ तथा बच्चे समान-भाव से रहें।

The *Mantra* visualises a household in which the elders of the family—parents—live with the youngsters with love

and affection, they do not fall apart from the rest of the members. It should be a big family in which men, women and children live on grounds of equality—'सज्ञानम्'.

९४. ज्यायस्वन्तः चित्तिनः मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराः चरन्तः। अन्यः अन्यस्मै वल्गु वदन्तः एत सध्रीचीनान् वः संमनसः कृणोमि॥ ५॥

भावार्थ–तुम लोग जो सोच-समझ वाले–"**चित्तिनः**" हो, जिनके ऊपर कुल के बड़े लोगों का आशीर्वादपरक हाथ है–"**ज्यायस्वतः**", एक-दूसरे का आदर करते हुए–"**संराधयन्तः**", आपस में, एक-दूसरे से अलग मत हो–"**मा वि यौष्ठ**"–और आपस में प्रेम-भाव से रहो–"**सधुराः चरन्तः**"।

Blessed by the elders, awake with consciousness, respecting one another, keep together and be knit in your family and do not fall apart. Live a sweet and lovable life.

९५. समानी प्रपा, सह वः अन्नभागः, समाने योक्त्रे सह वः युनज्मि। सम्यञ्चः अग्निं सपर्यत अराः नाभिं इव अभितः॥ ६॥

भावार्थ–तुम्हारा खाना-पीना एक-समान हो, भगवान् का आदेश है कि वे हम सबको एक सामाजिक गठ-बन्धन में बाँधते हैं। सब लोग अग्नि रूप भगवान् की पूजा करो। वे तुम्हें रथ के पहियों में अरों की तरह जोड़ते हैं, जैसे अरे रथ को चलाने के लिए एक नाभि-स्थल में जुड़कर उसे चलाते हैं, वैसे तुम सब भी एक-साथ जुड़कर परिवार-रूपी-रथ को प्रेम-भाव से चलाओ।

Let the reservoir of your drinking water—'प्रपा'—be common. Let you share your food in common. I unite you in a common bond (of love and brotherhood). Getting together—'सम्यञ्चः'—offer prayers to the divine light—'अग्नि'—just as the spokes (of the wheel) are joined together from all sides—'अभितः'—in the navel.

९६. सध्रीचीनान् वः संमनसः कृणोमि, एकश्नुष्टीन् संवनेन सर्वान्। देवाः इव अमृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसः वः अस्तु॥ ७॥

भावार्थ–आप लोग जो साथ-साथ रहते हो (आप्टे कृत संस्कृत-हिन्दी कोश सध्रीची–सहचर), उन्हें मैं समान विचार वाले–"संमनसः"–बनाता हूँ। आपका खानपान (कर्म) भी एक-समान हो। मन से जो आप सोचो, कर्म से भी वैसा ही करो। विद्वान् लोग तुम्हारी अमृत विचारों से रक्षा करें, दिन-रात आपका विचार शुभ हो।

I make you all move together—'सध्रीचीनान्', think together—'संमनसः' By coming together to partake of everything—'संवनेन'—I make you partake of food and every means of livelihood in common—'एकश्नुष्टीन्'. Like the men of divine qualities—'देवाः इव', preserve the immortal virtues in life—'अमृतं रक्षमाणाः' so that your mornings and evenings be peaceful and pleasant—'सायं प्रातः सौमनसः वः अस्तु'।

उपसंहार

साम्मनस्य तथा मधु-सूक्त में पारिवारिक तथा सामाजिक शान्ति का उपदेश दिया गया है। पारिवारिक शान्ति के लिए कहा गया है कि परिवार में माता, पिता, पुत्र, बहन सभी को प्रेम के एक-सूत्र में बंधा रहना चाहिए। वे सभी एक-दूसरे से ऐसे बोलें मानो मधु के शब्द बरस रहे हैं–'मधुमतीं वाचं वदतु'। भाई-भाई में, बहन-बहन में प्रेम की भावना सदा बनी रहनी चाहिए। परिवार के सम्बन्ध में जो-कुछ कहा, वही समाज के विषय में कहा गया है। समाज में सभी व्यक्ति एक-समान माने जाने चाहियें। सभी का जीवन में एक ही लक्ष्य होना चाहिए। इसी को "साम्मनस्य" कहा गया है। इसके स्थान में कि प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ ही को देखे, हर किसी को समाज के हर व्यक्ति के स्वार्थ (हित) को देखना चाहिए। सब लोग समाज के चक्र में ऐसे जुड़े हैं, जैसे पहिये में अरे जुड़े रहते हैं, सारा समाज एक-जुट होना चाहिए। एक लक्ष्य को सामने रखकर समाज आगे बढ़े। वे सभी एक-दूसरे से ऐसे प्रेम से बंधें और एक-दूसरे से ऐसा प्रेम करें जैसे गाय का बछड़ा अपनी गाय-माँ से प्रेम करता है। चक्र के अरे और गाय के बछड़े का दृष्टांत वैदिक-समाजवाद की अनुपम देन है। जैसे चक्के में जुड़े पोर समाज को पथभ्रष्ट नहीं होने देते, इसी प्रकार समाज के भिन्न-भिन्न वर्ग समाज को

उन्नति के पथ पर ले जाते हैं; जैसे गाय अपने बछड़े से प्यार करती है, वैसे ही समाज का हर व्यक्ति एक-दूसरे से प्यार से बरते।

EPILOGUE

This and the *Madhu Sukta* from the *Rig Veda* and the *Atharva Veda* respectively visualise domestic harmony and social equality. For the home it is said that the father, the mother, the brother, the sister—all should be knit together in a bondage of love and affection to each other. They should speak to each other as if their words were of honey—'मधुमती वाचं वदतु'. There should be no ill feeling between brother and brother and sister and sister. For the society it is said that each and every one of its members should be treated on a footing of equality. They should have a common kitchen, a common drinking place, a common aim in life. They should be emotionally one—'सहृदयम्'. psychologically one—'सांमनस्यम्. Instead of looking to their individual interests they should look to each other's interests and advance socially as one unit. They should be so united as the spokes of the wheel are fixed in the navel of the cart. They should love each other just as the cow loves her new-born. The similes of the spoke of the wheel and the new-born of the cow are very apt illustrations of *Vedic* Socialism. Just as the spokes fixed united in the navel of the wheel make it move so should the different units of the society work unitedly to make the society work, and, just as the cow loves her new-born and keeps watch on it, so should men and women in the society love one another, and each one should look to the interests of others so that everyone's interests are safe.

मधु सूक्त

Madhu Sukta

(Honeyed Life; 5 Verses)

अथर्ववेद के प्रथम काँड के 34 वें सूक्त में 5 मंत्र 'मधु' नाम से बड़े महत्त्व के हैं जिनका अध्ययन तथा मनन करने से मानव का जीवन मधुमय हो जाता है, जीवन मिठास से भर जाता है। हमारी वाणी से मिठास भरे शब्द निकलें, हमारा दूसरों के साथ व्यवहार मिठास भरा हो, हमारे जीवन से जो-कुछ निकले वह मीठा हो मधु-सूक्त के मंत्रों का यह आशय है। मधु-सूक्त के मन्त्र इस प्रकार हैं:

The *Atharva Veda (Kanda 1, Sukta 36)* has five *Mantrās* which inspire the devotee to mould life in such a manner that it may emit sweetness of honey all around. Our words should be sweet, our behaviour should be sweet, everything going from us to others should be sweet, sweeter, sweetest. This sweetness is compared to the sweetness of the sugarcane which grows in sweetness and is taken out from the Earth with sweetness.

१७. इयं वीरुत् मधुजाता मधुना त्वा खनामसि। मधो!
अधिप्रजाता असि, सा नः मधुमतः कृधि॥

भावार्थ–यह लहलहाने वाली लता–"वीरुत्" जैसे मीठी जड़ से उपजी है, इसे खोदते हैं तो मिठास-ही-मिठास मिलती है, मिठास से ही यह बढ़ी है, यह मिठास-ही-मिठास है, इसी तरह मेरे हृदय रूपी मीठी जड़ से, जो-कुछ उपजे, कितना ही हृदय को खोजें उसमें मिठास-ही-मिठास मिले। कवि को हृदय रूपी जड़ में मिठास के सिवाय कुछ नहीं दिखता।

This plant of honeyed sweetness has grown out of a sweet root (that is, out of the heart). I dig it out with sweet (hands). As thou art born out of sweetness, so make all of us full of sweetness.

The poet imagines the heart to be the soil of honey.

Out of it grows a plant or a creeper containing honey, that is, Life, which the poet digs out and exclaims: Thou art born out of honey, make us sweet as thyself. One's heart should be full of sweetness, as sweet as honey.

९८. जिह्वाया अग्रे मधु मे, जिह्वामूले मधूलकम्। मम इत्
अह क्रतौ असः, मम चित्तं उपायसि॥

भावार्थ–मेरी जीभ के आगे मिठास हो, मेरी जिव्हा के पीछे मिठास हो, मेरे हर काम में मिठास हो, मेरे चित्त में मिठास हो।

There be honey at the tip of my tongue; abundance of honey at the root of my tongue; honey at my behaviour; come and stay, O honey, in my heart.

One should speak sweet words to everybody, one's behaviour with people should be sweet. This sweetness should not be a feigned affair, it should be a part of one's nature—चित्तं उपायसि.

९९. मधुमत् मे निष्क्रमणं मधुमत् मे परायणम्। वाचा
वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः॥

भावार्थ–जब मैं घर से निकलूँ तो निकलना मिठास के साथ हो; जब लोटूँ तब भी मैं मिठास से भरा होऊँ; घर लौटकर बोलूँ वह भी मीठा हो। मैं मिठास-ही-मिठास जैसा बन जाऊँ।

My coming should be sweet; my going should be sweet; my voice should be sweet; my appearance should be sweet.

१००. मधोः अस्मि मधुतरः मदुघात् मधुमत्तरः। मां इत् किल
त्वं वनाः शाखां मधुमतीं इव॥

भावार्थ–मैं मधु होऊँ–शहद सरीखा हर व्यक्ति के लिए मिठास समान बनूँ, मिठास मुझमें बढ़ती चली जाय, बढ़ते-बढ़ते मधुतर और मधुतम हो जाय। हे मधु! आप मुझमें ऐसे समा जाओ जैसे वृक्ष की शाखा में मधु भरा हो।

Being sweet as honey I may be sweeter than honey; from being sweeter I may be sweeter than the sweet. Oh, Sweetness come unto me—वनः—as the branch of a sweet plant.

**१०१. परि त्वा परितन्तुना इक्षुणा आगाम् अविद्विषे। यथा
मां कामिनी असः यथा मत् न अपगा असः ॥**

भावार्थ–जैसे मीठे तन्तुओं से घिरे गन्ने को मैं बड़े शौक से चूसता हूँ वैसे ही मेरी कामना हर वस्तु में मिठास पाने की हो, मिठास न पाने की न हो। अगर उसमें मिठास न हो, तो भी मुझे उसमें भी मिठास ही मिले। मिठास मुझे कभी न छोड़ जाए।

Let me not entertain ill-will against anybody—अविद्विषे—I solicit thee, O Honey, as one goes to a branching-off, wide spread—परितत्नुना—sugarcane. O Honey, long for me. Do not depart from me.

चतुर्वेदीय प्रकीर्णमंत्र-ज्ञान-गंगा-लहरी

(27 मंत्राः+25 सूक्तियां)

[SURGING WAVES OF THE FOUR-VEDA-GANGA]

क) एकेश्वरवाद (Monotheism)	1 Mantra	ऋग्वेद 1.184.46
ख) ईश्वर की सर्वज्ञता (Omniscience)	1 Mantra	अथर्व० 4.16.42
ग) ईश्वर की सर्वव्यापकता (Omnipresence)	2 Mantras	अथर्व० 4.16.4; 10.8.32
घ) विश्व ही उसंका शरीर है (यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे)- (The Physical World is his Anthropomorphic Manifestation)	3 Mantras	अथर्व० 10.7.32; 33;34
ङ) परमात्मा अशरीरी है (No Anthropomophic Conception of God in Vedas)	1 Mantra	यजुर्वेद, 40.8
च) राष्ट्र तथा समाज विषयक वैदिक विचारधारा (Vedic Conception of the State and Society)	1 Mantra	यजुर्वेद, 22.22
छ) वेद में स्त्रियों की स्थिति (Position of Women in the Veda)	3 Mantras	अथर्व० 14.1.43; 44;50
ज) वेद में सामाजिक-व्यवस्था (Social Life in the Veda)	3 Mantras	ऋग्वेद, 5.6.5; 5.59.6;10.117.6
झ) जनता को उद्‌बोधन (General Exhortation in the Veda)	8 Mantras	ऋ० 10.34.13; अथर्व० 4.13.1;6.45.1;8.1.6; 19.27.8; 19.15.5-6; यजुः० 25.21
ञ) शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः (Hark; Ye, Children of the Immortal)	1 Mantra	ऋग्वेद, 10.13.1
त) मृत्युंजय महामंत्र (The Mantra of Victory Over Death)	1 Mantra	ऋग्वेद, 7.59.12
थ) वैदिक-संस्कृति के कुछ फार्मूले-सूक्तियां (Some Formulea of Vedic Culture)	1 Mantra	अथर्व० 19.71.1
उपसंहार मंत्र (Epilogue)	1 Mantra	अथर्व० 19.71.1

चतुर्वेदीय प्रकीर्ण-मंत्र-ज्ञान-गंगा-लहरी

प्रकीर्ण-मंत्रा:

[IMPORTANT MISCELLANEOUS VEDIC VERSES]

अभी तक हमने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद को लक्ष्य में रखकर इन चारों वेदों से सूक्तों या अध्यायों का चयन किया है, और इन वेदों के ऐसे सूक्तों का चयन किया है जिनके मंत्रों की संख्या सौ के लगभग हो जाती है। अब हम सूक्तों या अध्यायों का नहीं, परन्तु ऐसे मंत्रों का चारों वेदों से चयन कर रहे हैं जो हमारे दिन-रात के काम आते हैं, और वेद-ज्ञान के लिये आवश्यक हैं। इनके साथ ही हम वेद-मंत्रों के कुछ ऐसे संक्षिप्त टुकड़े दे रहे हैं जो आसानी से स्मरण हो जाते हैं और जिन्हें वेद के फार्मूलों की संज्ञा दी जा सकती है। ये वेद की सूक्तियां हैं। चारों वेदों से चयन करने के कारण इस खंड का नाम 'चतुर्वेदीय प्रकीर्ण-मंत्र-ज्ञान-गंगा' रखा गया है।

हमने इस पुस्तक में चारों वेदों के लगभग 100-100 मंत्रों के सूक्तों का अर्थ सहित हिन्दी तथा अंग्रेज़ी में वर्णन किया है ताकि देश-विदेश के सभी पाठकों को वेदों से, वेदों की शैली से, वेदों के विचारों से, वैदिक संस्कृति से और वैदिक-संस्कृति की भूमिका से परिचय हो जाय। वेदों के मंत्रों की संख्या इतनी अधिक है कि पाठकों को सब वेदों में से गुज़ारा नहीं जा सकता। सिर्फ़ ऋग्वेद में ही 10 हज़ार मंत्र हैं इनके अतिरिक्त प्रत्येक वेद के अपने मंत्र अलग हैं। यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा सामवेद के मंत्र मिलाकर एक अथाह सागर बन जाता है जिस सारे में से तैर कर गुज़रना प्रत्येक के वश का नहीं है, परन्तु क्योंकि वेद हिन्दुओं के धर्मग्रन्थ हैं, इसलिये इनका कुछ-न-कुछ ज्ञान होना प्रत्येक हिन्दू के लिये आवश्यक है।

इस पुस्तक में वेद-मन्त्रों का दो प्रकार का चयन किया गया है। इस संग्रह के पहले भाग में हमने सूक्त या अध्यायवार संग्रह किया है। सूक्तों या अध्यायों में से मंत्रों को छांटकर मंत्रों का प्रकीर्ण संग्रह नहीं किया गया, पूरा सूक्त-का-सूक्त या अध्याय

लेकर यह ग्रन्थ लिखा गया है। पूरे सूक्त या अध्याय के ज्ञान से पाठक को जितना वेद-विशयक ज्ञान हो सकता है, उतना गहरा प्रकीर्ण मंत्रों के ज्ञान से नहीं हो सकता। ग्रन्थ के उस भाग के अलावा जिसमें वेदों के सूक्तों का विवरण दिया गया है, एक वह भाग भी है जिसमें वेद के कुछ चुने हुए मंत्र दिये हैं, ऐसे मंत्र जिनका मानवीय-जीवन से, समाज से, राष्ट्र से तथा विश्व से विशेष संबंध है। इस पुस्तक का वह भाग उसी दृष्टि को सम्मुख रखकर लिखा जा रहा है। सूक्तों, अध्यायों तथा प्रकीर्ण मंत्रों के अध्ययन से पाठक समझ सकेगा कि सृष्टि का तथा मानव का विकास किस प्रकार हुआ है।

जिस सूक्त या अध्याय पर लिखा गया है उसमें पहले मंत्र दिया गया है, फिर मंत्र का हिन्दी में भावार्थ दिया गया है, तदनन्तर उसकी अंग्रेज़ी में भावार्थ दिया गया है ताकि हिन्दी जानने वाले भी समझ सकें; अंग्रेज़ी जानने वाले भी समझ सकें। मंत्र, हिन्दी-भावार्थ, अंग्रेज़ी में भावार्थ-इस प्रक्रिया से यह ग्रन्थ लिखा गया है। अनेक स्थानों पर सूक्त या अध्याय का उपसंहार भी दिया गया है।

We have given some *Sūktās* (chapters) from the *Vedās* to give a glimpse of the contents of the sacred books which the Hindus regard as the fountainheads of their religion and culture. As the number of *Mantrās* of the *Vedās* are too many, it is not possible to take the reader through all the *Vedas*. The *Rig Veda* alone contains 10,000 *Mantrās* (stanzas), besides the *Mantrās* of other three *Vedās—Yajur Veda, Atharva Veda,* and *Sāma Veda*.

In this book we have made two kinds of selection due to the vastness of the field we are treading. In the foregoing pages we have dealt with the complete *Sūkta*—chapter—from the given *Veda*. In the pages that follow we have made a random selection of the *Mantrās*—stanzas—that throw light on specific topics and will enlighten the reader on the ideas contained in the *Vedās* and help him evaluate the process of evolution of human thought.

As the selection of *Mantrās* has been made from all the four *Vedās* hence the name of this section has been styled as CHATUR VEDEEYA—'चतुर्वेदीय'. It contains selection of important *Mantrās* from All THE FOUR VEDAS.

(क) एकेश्वरवाद [MONOTHEISM]

ऋग्वेद (Rigveda) 1.184.46

वे पाश्चात्य विद्वान् जो विकासवाद की दृष्टि से सोचते हैं, कहते हैं कि धार्मिक विकास में एकेश्वरवाद का विचार बहुत बाद का विचार है। प्रारंभिक विचार बहुदेवतावाद बाद का विचार था, और होना भी चाहिए। विकास की दृष्टि से बहुदेवतावाद पहले आया, एकेश्वरवाद पीछे आया। इस दृष्टि से वेद जिन्हें हम आदिकाल में आया मानते हैं और जिन्हें मैक्समूलर तथा मैक्डूगल सब धर्मग्रन्थों से पूर्व का मानते हैं, अनेक देवतावादी होने चाहियें। इन विद्वानों का कहना है कि वेद सब धर्म-ग्रन्थों से पुराने हैं, और वे ऋग्वेद को मानव पुस्तकालय में सबसे पुराना ग्रन्थ मानते हैं और इसीलिये उसे अनेक देवता का प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ मानते है। आइये, देखें कि इस सबसे प्राचीन धर्म-ग्रन्थ में परमेश्वर के विषय में क्या लिखा है। ऋग्वेद 1.184.46 का मन्त्र है:

The Western scholars who have written on the *Vedās* are of the opinion that the *Vedās* contain polytheism as they think that in the evolution of human thought monotheism is a later development. But let us see what the *Rig Veda,* which is admittedly the oldest book in the library of mankind and about which Max Muller and McDonell say: "We must rest content with moderate estimate of 13th century B. C. as the appropriate date for the beinning of Rigvedic period", has to say about it. The *Rig Veda* (1, 184, 46) says :

१. **इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निं आहुः अथो दिव्यः सः सुपर्णः**
गरुत्मान्। एकं सत् बिप्राः बहुधा वदन्ति अग्निं यमं
मातरिश्वानम् आहुः ॥

भावार्थ–वह एक है। विद्वत् समाज उसे अनेक नामों से याद करते हैं। वे उसे इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि नाम से पुकारते हैं उसे सुपर्ण कहते हैं, गरुत्मान् कहते हैं, परन्तु

ये सब उसी के नाम है। अगर कहीं दो बैठे बात कर रहे होते हैं, तो वहां तीसरा मौजूद भगवान् होता है।

यह आश्चर्य की बात है कि वेद के स्वयं स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर देने पर कि इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण, गरुत्मान् आदि सब नाम एक ही सत्ता के हैं, पाश्चात्य-विद्वान् इतने पूर्वाग्रही हैं कि वेद की अन्तः साक्षी को भी मानने के लिये तैयार नहीं क्योंकि वे यह कल्पना ही नहीं कर सकते कि ईसा से 3-4 हज़ार वर्ष पहले संसार में कोई ऐसा धर्म हो सकता था जो अनेक देवताओं की स्वतंत्र सत्ता मानने के स्थान में एकेश्वरवाद को मान सकता था। उनके लिये यह समस्या और जटिल हो जाती है, जब वे देखते हैं कि उनका भाई-बन्द प्रो० जेकोबी तो वेदों को ईसाा से 4500 वर्ष पूर्व का कहता है। उनकी समझ में यह नहीं आता कि इतने समय पहले कोई भी धर्म-पुस्तक एक ईश्वर का विचार प्रस्तुत कर सकती थी।

He is One, the wise call Him by many names—they call Him *Indra, Mitra, Varuna, Agni, Yama, Matarishva.* He is called *Suparna, Garutman.*

It is very strange that despite this clear declaration by the *Veda* itself, the Western scholars are so much prejudiced that they are not prepared that in 13th Century B.C. there could be any religion which could think of monotheism. For them the mystery becomes all the more deeper when they are told by another western scholar of the *Vedās*, Prof. Jacobi, that the date of the *Vedās* goes as far back as 4500 B.C.

(ख) ईश्वर सर्वज्ञ है [OMNISCIENCE OF GOD]

अथर्ववेद (Atharva) 4.16.2

ईश्वर के एकत्ववाद के बाद वैदिक-धर्म में ईश्वर में ईश्वर के विषय में दूसरा विचार ईश्वर की सर्वज्ञता का हैः

२. **यः तिष्ठति चरित, यः च वञ्चति, यः निलायं चरति,**
यः प्रतंकम्। द्वौ सन्निषद्य यत् मन्त्रयेते, राजा तद् वेद
वरुणः तृतीयः ॥

भावार्थ–इस मंत्र का कथन है कि संसार में जो-कुछ हो रहा है वह कर रहा है। जो चलता है, फिरता है, छीनता है, झपटता है, दो व्यक्ति जो मन्त्रणा करते हैं, वे समझते हैं कि गुप्त मन्त्रणा कर रहे हैं, परन्तु नहीं जानते कि वह तीसरा न दीखता हुआ भी उनके साथ बैठा होता है और उस सब को जान रहा होता है, जो भी मन्त्रणा या सलाह वे बैठकर कर रहे होते हैं।

संसार की किसी भाषा में इतने स्पष्ट शब्दों में यह बात कभी नहीं कही गई जितने स्पष्ट शब्दों मे इस बात को वेद के इन शब्दों में कहा गया है।

One who stands, one who moves, one who cheats, one who works against from outside, one who works against from inside, KNOW YE, that HE—the *VARUNA*—is the THIRD there who knows what transpires. (*Atharva Veda,* 4-16-2).

(ग) ईश्वर सर्वव्यापक है [OMNIPRESENCE OF GOD]

अथर्ववेद (Atharva) 4.16.2

३. A. उत् यः द्यां अतिसर्पात्, न सः मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः। दिवः स्पशः प्रचरन्ति इदम् अस्य सहस्राक्षाः अति पश्यन्ति भूमिम्॥

भावार्थ–अगर कोई द्यु-लोक से भी परे चला जाय, तो भी वह वरुण-भगवान् के चंगुल से बच नहीं सकता। वह सहस्राक्ष है, भूमि से परे सब जगह उसकी आंखें सब-कुछ देखती हैं, उसके जासूस कण-कण में घूम रहे हैं भगवान् की सर्वज्ञता को इन शब्दों के अतिरिक्त किन शब्दों में प्रकट किया जा सकता है?

Even if one flies beyond the sky, one is not free from the clutches of the realm of *Varuna.* His spies move about everywhere. Thousand-eyed, they scan beyond the earth. (*Artharva Veda,* 4-16-4). *Varuna* here means God.

B. अन्ति सन्तं न जहाति, अन्ति सन्तं न पश्यति। देवस्य पश्य काव्यम्, न ममार न जीर्यति॥

—अथर्व० १०-८-३२

भावार्थ–वह भगवान् हम सब के इतना निकट है कि उसका सान्निध्य छूट ही नहीं सकता, इतना निकट है कि जिसके

निकट है उसके इतना निकट है कि वह उसे देख ही नहीं सकता, देखो भगवान् का यह काव्य, इतना सनातन तथा सदाजीवी है कि न मरता है, न बुढ़ाता हैं जो सत्य-सनातन है, न वह पुराना हो सकता है, न बुढ़ा सकता है, न जीर्ण-क्षीण या मर सकता है। इन शब्दों में वेद में काव्य की पराकाष्ठा हो गई है।

He is so near that one cannot leave Him, and because He is so near it is not possible to see Him. Look at this poetic expression of God in the visible world. O man, this visible poem of God neither dies nor ages. (*Atharva Veda*, 10-8-32).

In these two *Mantrās* God's Omnipresence is expressed by saying that you cannot see Him because He is so near. You see a thing because it is at a distance. When there is no distanee between God and you, how can you see Him? But if you cannot see Him it does not mean that He does not exist. He so much exists that you cannot be without Him. This poetic existence of God is eternal. It will never grow old nor will it ever die. For every poet of all ages and times God in the poetry of the world will ever remain young.

(घ) विश्व ही उसका शरीर है—यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे
[PHYSICAL WORLD IS HIS MANIFESTATION]

अथर्ववेद (Atharva) 10.7.32

यह विशाल पृथिवी, इसके अतिरिक्त अन्तरिक्ष तथा द्यु-लोक तथा इससे परे भी अगर कुछ है तो वह सब भगवान् का मानो दिव्य-शरीर है। इस सिलसिले में अथर्ववेद में निम्न मन्त्र मिलता है।

The wide world with the earth, the space above and what ever is beyond is conceived as the body of the Divine Existence in *Atharva Veda* as depicted in the following *Mantrās* :

A. **यस्य भूमिः प्रमा, अन्तरिक्षम् उत उदरम्।**
दिवं यः चक्रे मूर्धानम्, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।।

भावार्थ—वह भगवान्, भूमि जिसके मानों पैर हैं, अन्तरिक्ष मानो जिसका उदर है, द्यु-लोक जिसका मूर्धा है, उस सबसे बड़ेरे

के लिये हमारा नमस्कार है।

Whose the earth is like His feet, the space is like His abdomen, and the heaven above is like His head: To such a Great One we pay our homage. (*Atharva Veda*, 10-7-32).

B. **यस्य सूर्यः चक्षुः, चन्द्रमा पुनर्णवः। अग्निं यः चक्रे**
आस्यम्, तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

भावार्थ–वह भगवान्, सूर्य जिसकी आंख है, बार-बार नया होने वाला चन्द्रमा भी जिसकी दूसरी आंख है, अग्नि जो सब-कुछ खा जाती है, भस्म कर देती है, जिसका मुख है–उस सबसे बड़े के लिये हमारा नमस्कार है।

Whose the sun and the ever-new moon are the eyes, fire is the mouth:To such a Great One we pay our homage. (*Atharva Veda*, 10-7-33).

C. **यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुः अंगिरसः अभवन्।**
दिशः यः चक्रे प्रज्ञानीः तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

भावार्थ–वह भगवान्, संसार में बह रहा वायु जिसके प्राण और अपान हैं, सूर्य की किरणें जिसकी दृष्टि के साधन हैं, चारों दिशायें जिसके संसार की हर वस्तु के ज्ञान के प्रतीक हैं–उस सबसे बड़ेरे के लिये हमारा नमस्कार है।

Whose wind is the in-going and out-going breath, the rays are the eyes, the directions are the knowledge: To such a Great One we pay our homage. (*Atharva Veda* 10-7-34).

These three *Mantrās* of the *Atharva Veda* clearly point out that God is not residing somewhere above the earth as is believed by some important religions of the world, but this gigantic universe itself is His manifestation.

(ङ) परमात्मा अशरीरी है [NO ANTHROPOMORPHIC CONCEPTION OF GOD IN THE VEDA]

यजुर्वेद (Yajur) 40.8

पाश्चात्य विद्वानों का मूल-चिन्तन विकासवाद है। इसी के आधार पर वे कहते हैं कि आदि कालीन अविकसित व्यक्तियों का विचार परमात्मा के विषय में यह था जैसे हम एक व्यक्ति-विशेष हैं, वैसे परमात्मा भी व्यक्ति-विशेष या पुरुष-विशेष है। परमात्मा एक बड़ा आदमी है। योग दर्शन में परमात्मा के विषय में कहा

गया है; "पुरुष विशेषः ईश्वरः"–ईश्वर पुरुष–विशेष है। योग दर्शन के पुरुष–विशेष का वह अर्थ नहीं है जो अर्थ पश्चिमी विद्वान् लेते हैं। कठिनाई यह है कि संस्कृत में एक शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है, अंग्रेज़ी में ऐसा नहीं है। संस्कृत में "पुरुष"-शब्द मनुष्य तथा परमात्मा–दोनों के लिये प्रयुक्त हो सकता है, मैन या गौड शब्द अंग्रेज़ी में दोनों के लिये प्रयुक्त नहीं हो सकता। संस्कृत का "पुरुष"-शब्द–"पुरि शेते इति पुरुषः"–इस प्रकार शरीर–रूपी पुरि तथा विश्व–रूपी पुरि में जो शयन करता है वह "पुरुष" है–इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग आदमी तथा परमात्मा–दोनों पर लग सकता है, ऐसा अंग्रेज़ी में नहीं हो सकता। प्रश्न यह है कि जिस शब्द का हम अर्थ जानना चाहते हैं उसका आधार क्या है? अगर वैदिक साहित्य में उसका अर्थ जानने के लिये अन्यत्र कहीं इशारे हैं तो उसका सहारा लेकर उस शब्द के अर्थ को जानने का प्रयत्न करना चाहिये। "ईश्वर" शब्द का योग–दर्शन में क्या अर्थ है? इस अर्थ को जानने के लिये ऊपर हमने जो मंत्र दिये हैं वे सहायक हैं। परमात्मा योगदर्शन के अनुसार "पुरुष–विशेष" है। तो क्या वह पुरुष ही है? इसका उत्तर पहले दिये गये मंत्रों से स्पष्ट हो जाता है। उन मंत्रों में कहा है–**"अन्ति सन्तं न जहाति अन्ति सन्तं न पश्यति"–"द्वौ सन्निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणः तृतीयः"**–वह ऐसा पुरुष है जो सर्वज्ञ है, सर्व व्यापक है। अगर ऐसी सत्ता को "पुरुष" कहा जाय और उस शब्द का अर्थ "पुरि शेते"–ब्रह्माण्ड में जो सब जगह व्याप रहा है, किया जाय, तो क्या हर्ज है?

On the basis of evolutionary theory it is said that the primitive conception of God is anthropomorphic. God was conceived in the form of a huge man. The study of the *Vedās* shows that it is not so at least in these scriptures as is clear from the above three *Mantrās*. The evolutionary conception of anthropomorphism is that the primitive idea of Godhead is a huge person with exaggerated qualities of man, residing like man in some unknown place. If the *Vedās* are the oldest books, and they go back in date to at least 14 B.C. according to MacDonell, then let us see what the *Yajur Veda* has to say about God :

८. सः परि अगात्, शुक्रम्, अकायम्, अव्रणम्,
अस्नाविरम्, शुद्धम्, अपापविद्धम्, कविः, मनीषी,
परिभूः, स्वयंभूः याथातथ्यतः अर्थान् व्यदधात्
शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

भावार्थ–वह सब जगह गया हुआ है, शुद्ध स्वरूप है, शरीर रहित है, शरीर नहीं, नस-नाड़ी-व्रण भी नहीं, न उसमें पाप पुण्य हो सकता है, वह ज्ञानमय है, सर्व व्यापक है, स्वयं है–उसका कोई कारण, उसका कोई कर्ता नहीं है, उसने सृष्टि को जैसी है वैसी बनाया है, हर वस्तु का ज्ञान उसने दिया है। परमात्मा का वर्णन इससे अच्छे शब्दों में नहीं हो सकता।

He is pervasive everywhere. He shines. He is bodyless—अकायम्. He can have no wounds (as He has no body). He has no muscles, no sinews, no nerves—अस्नाविरम्. He is pure. He is untouched by sin. He is All-knowing—कविः. He witnesses every thing—मनीषी. He is present everywhere परिभूः, He created—व्यदधात्—for creatures without end—शाश्वतीभ्यः समाभ्यः–things of the world—अर्थान् as they should be—याथातथ्यतः, (*Yajur Veda*, 40.8).

One can very well understand that this description of God given in the *Yajur Veda* cannot fit in with an anthropomorphic description in any way.

(च) राष्ट्र-गीत तथा समाज के विषय में वैदिक विचार

[CONCEPTION OF THE STATE AND SOCIETY]

यजुर्वेद (Yajur) 22.22

९. आ ब्रह्मन् ब्राह्मणः ब्रह्मवर्चसी जायताम्। आ राष्ट्रे
राजन्यः शूरः इषव्यः अतिव्याधी महारथः जायताम्।
दोग्ध्री धेनुः वोढा अनड्वान्, आशुः सप्तिः, पुरंधिः
योषा, जिष्णुः रथेष्ठाः, सभेयः युवा, अस्य यजमानस्य
वीरः पुत्रः जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यः
अभिवर्षतु। फलवत्यः नः ओषधयः पच्यन्ताम्।
योगक्षेमः नः कल्पताम्।

भावार्थ–हे ब्रह्मन्! हमारे राष्ट्र के ब्राह्मण तेजस्वी हों, राष्ट्र

के क्षत्रिय शूरवीर हों, ऐसा शासन करें कि देश में कोई व्याधि या उपद्रव न हो, वाहन के साधनों की कमी न हो, वैश्य ऐसा नियन्त्रण करें कि दूध-दही की कमी न हो, उत्तम गायें, बलिष्ठ बैल, आशुगामी घोड़े हों, देश-वासियों की देवियां घर का ऐसा प्रबन्ध करें कि सारा शहर जगमगा उठे, युवा वर्ग सभा-समिति का नियम पालन करें, गृहस्थियों की उत्तम सन्तान हो। देश का वातावरण निर्दोष हो, ऋतुएं अनुकूल हों, वर्षा की कमी न हो। राष्ट्र तथा समाज की उन्नति के साथ-साथ फल-फूल-वनस्पति खूब फलें-फूलें। देशवासियों का सब तरह से कल्याण हो।

ब्रह्मन्! स्वराष्ट्र में हों द्विज ब्रह्म-तेजधारी,
क्षत्रिय महारथी हों अरिदल विनाशकारी।
होवें दुधारु गौएं पशु अश्व-आशुवाही,
आधार राष्ट्र की हों नारी सुभग सदा ही।
बलवान सभ्य-योद्धा यजमान-पुत्र होवें,
इच्छानुसार बरसें पर्जन्य ताप धोवें।
फल-फूल से लदी हों औषध अमोघ सारी,
हो योग-क्षेमकारी स्वाधीनता हमारी।

O God, let the learned people of our State—ब्राह्मणाः, be brilliant in intellect, and lustrous in face—ब्रह्मवर्चस्वी, with faith in God—ब्रह्म. Let the soldiers—राजन्याः, of our State—*Rashtra*—राष्ट्र, be courageous—शूराः, wielders of weapons—इषव्याः, undoing the criminals—अतिव्याधी, and great warriors—महारथाः, Let the kine of the tillers of the soil yield abundant milk, let their bulls be strong bearing heavy weights, let their horses be capable of running at full speed. Let the women assure the safety of the city—पुरन्धिः. Let the chariot-warriors be victorious. Let the young—युवा—be sociable and cultured enough to move in the Society—सभेयः. Let the son of the devotee be valorous—वीरः. Let the cloud shower rain on the earth, here, there and everywhere. Let the plants and vegetables grow with their ripe fruits. Let there be welfare—योगक्षेमः—of all of us. (*Yajur Veda*, 22-22).

This description of the State in which *Brahmans*,

Kshatriyas and *Vaishyas* are in their best, corresponds with Plato's description of the State who has classified the Society into Philosophers, Soldiers, and Artisans.

The adjective *Purandhi*—पुरंधिः—used for women in the *Mantra* is significant. To call women as saviours of the city speaks highly of the civilisation and the culture enshrined in the *Veda*. *Manu*—the Indian law-giver, says: 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः'—Where women are respected there live men of divine qualities. One can judge the level of civilisation of the Society by seeing the status assigned to women. Women set the standard of civilisation of the Society.

(छ) स्त्रियों की स्थिति [POSITION OF WOMEN]

अथर्ववेद (Atharv) 14.1-43,44,50

सदियों से भारत की नारी अत्यन्त हीन अवस्था में जीवन बिता रही है। इस समय अपने देश में जितनी कुरीतियां हैं उनका संबंध भारत की नारी से जुड़ा है। दहेज, सती-प्रथा, अशिक्षा,पर्दा, बाल-विवाह आदि सब कुरीतियाँ स्त्री से जुड़ी है, परन्तु नारी के संबंध में वैदिक-आदर्श उसे समाज के उच्च शिखर पर बिठाता है। अथर्ववेद के निम्न तीन मंत्र नारी के सम्बध में वैदिक आदर्श का प्रतिपादन करते हैं :

Since centuries woman has been consigned to a low status in India. The woman in this country has suffered all the indignities imaginable. The woman has been consigned to *Purda*, she been deprived of the right of education, she has suffered for centuries all her life, but the *Vedic* ideal puts her on a high pedestal as will be clear from the following *Vedic Mantras* :

यथा सिन्धुः नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञी एधि, पत्युः अस्तं परेत्य॥

भावार्थ-जैसे नदियों के मिलने से समुद्र सरीखा एक बलशाली साम्राज्य बन जाता है, वैसे हे पुत्री, पति के घर में जाकर तू एक साम्राज्ञी बन जायेगी।

As the rivers create a powerful empire in the form of

an ocean after merging in it, likewise, you, O woman, after settling down in the house of your husband will create an empire of which you will be the empress. (*Atharva Veda*, 14-1-43).

सम्राज्ञी एधि श्वशुरेषु, सम्राज्ञी उत देवृषु।
ननान्दुः सम्राज्ञी एधि, सम्राज्ञी उत श्वश्रवाः ॥

भावार्थ—ऐ बेटी, श्वसुर के घर जाकर तू वहां की रानी बनेगी, वहीं के साम्राज्य में जो तेरे देवर होंगे, उनकी भी तू सम्राज्ञी बनेगी, ननदों और सास के लिये भी तू वहां की महारानी होगी।

In the empire of your household you will be the empress for your sisters, father-in-law, empress for your mother-in-law. (*Atharva Veda*, 14-1-44).

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं, मया पत्या जरदष्टिः
यथा असः। भगः अर्यमा सविता पुरन्धिः मह्यं त्वा
अदुः गार्हपत्याय देवाः ॥

भावार्थ—पत्नी का हाथ पकड़कर वर करता है: मैं तेरा हाथ कुल के सौभाग्य के लिये ग्रहण करता हूं, ताकि हम दोनों का भाग्य चमके, हम दोनों एक-साथ वृद्धावस्था तक साथ रहें, अपने कुल के सभी बड़ेरे मिलकर हम दोनों को आशीर्वाद दे रहे हैं कि हम दोनों सफलतापूर्वक गृहस्थाश्रम को निबाहें।

While holding the hand of the bride, the bridegroom says: I hold thy hand for enhancing fortune for both of us. Live with me as thy husband till our old age. All the elders of our Society, fortunate people—भगः, good and noble people—अर्यमा, men of creative intelligence—सविता, women who guard the administration of the city—पुरन्धिः—have blessed us to live together as husband and wife—गार्हत्याय. (*Atharva Veda*, 14-1-50).

(ज) वेद में सामाजिक-व्यवस्था : वैदिक सामाजिक जीवन [SOCIAL LIFE]

—ऋग्वेद (Rigveda) 5.60.5;5.59.6

आज का युग समाजवाद तथा एकता का युग है। छोटे-बड़े का भेद मिट रहा है। आइये देखें कि वैदिक संस्कृति तथा वेदों

का इस दिशा में क्या कथन है :

Ours is the age of Socialism and Equality. Let us see what is the Vedic conception of social life.

अज्येष्ठासः अकनिष्ठासः एते सं भ्रातरः वावृधुः
सौभगाय। युवा पिता स्वपा रुद्रः एषाम् सुदुघा पृश्निः
सुदिना मरुद्भ्यः ॥

भावार्थ—समाज में कोई बड़ा नहीं, छोटा नहीं, ये सब भाई-भाई हैं और सौभाग्य के लिये साथ-साथ समान रूप से समृद्ध होते हैं, साथ-साथ फलते-फूलते हैं। इस समाज का पिता "युवा" है, स्वामी है। अर्थात् अपनी पालना आनेआप करता है, "रुद्र" है—उद्योगशील तथा पराक्रमी है; समाज के लिये अच्छे दिन लाने वाला है—"सुदिना" है।

None is big, none small, all are equal as brothers, and all together move on for prosperity. The common father is eternally young—युवा पिता. He is self-maintained—*Svapa*—स्वपा. He does not depend on anybody. He is powerful—*Rudrah*—रुद्र. The common mother is *Prishni (Prakriti)*—Matter—which is prolific in abundant production—*Sudugha*—सुदुघा for men—मरुद्भ्यः (*Rig Veda*, 5-60-5).

ते अज्येष्टाः अकनिष्ठासः उद्भिदः अमध्यमासः महसा
विवावृधुः। सुजातासः जनुषा पृश्निमातरः दिवः मर्त्याः
आ नः अच्छा जिगातन॥

भावार्थ—वे न बड़े हैं, न छोटे हैं, न विकसित होकर मध्य में हैं; वे अपने साहस से ही विकसित हुए हैं; वे मानव—"**जनुषाः**" हैं जिनका समाज या माता-पिता की तरफ़ से भलीभांति एक-सा पालन-पोषण हुआ है—"**सुजाताः**" भूमि उनकी माता है—"**पृश्नीमातरः**" हैं। वे सब दिव्य गुणों के पुरुष हैं—"**दिव्याः मर्त्याः**"। वे समाज में आयें, समाज का अंग बनें।

इस मंत्र में दो बातें कहीं गई हैं: पहली बात यह कही गई है कि हमारे समाज में न कोई बड़ा, न छोटा, न बीच का है, तो भी सबका प्रयत्न ऊंचा उठने का है "**सहिता विवावृधु**"। दूसरी बात यह कही गई है कि यद्यपि प्रत्येक ऊंचा उठने का प्रयत्न कर रहा है, तो भी ऊंचाई का अर्थ भौतिक न होकर आध्यात्मिक

है–**"दिवः मर्त्याः"**–दिव्यता प्राप्त करने का सबका प्रयत्न है।

They are neither big nor small, nor have they grown to be in the middle, but they all, with courage, scale upward. All equally well born सुजातासः, with earth as their mother—पृश्निमातरः, all divine mortals may come to us very well. (Rig Veda, 5-59-6).

The *Mantra* makes two significant statements: The first statement is that though one is neither big, nor small, nor midway, still the effort of all is to go upwards. The second statement is that this upward movement is towards the divine, the movemnt of the mortals towards the immortal.

ऊपर के दो मंत्रों में जो कहा गया है कि हमारे समाज में न कोई बड़ा होगा, न छोटा होगा, न मध्य का होगा, सब समान होंगे–उसी का जो तार्किक परिणाम होना चाहिये उसका उल्लेख करते हुए निम्न मंत्र में कहा गया है।

In the following *Mantra* the conception of equality of all human beings is brought to its logical conclusion by stating that none has the right to feed himself without seeing that none goes without food. The *Mantra* says :

> **मोघं अन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य। न अर्यमणं पुष्यति न सखायं, केवलाघः भवति केवलादी ॥**

भावार्थ–मैं सत्य कहता हूं कि वह मूर्ख है जो अन्न का भंडार अपने लिये इकट्ठा करता रहता है, और न विद्वानों का पोषण करता है, न दोस्त-मित्रों तथा समाज के अन्य वर्गों का पोषण करता है। उसका सिर्फ़ अपने-आप खाना और दूसरों को न खिलाना केवल पाप का खाना है, और अपना मानो बध कर लेना है।

I tell the truth—सत्यं ब्रवीमि, he is practically senseless—अप्रचेता, who stores wealth. This storage is almost his murder—वध इत् स तस्य. By such a storage neither noble people are helped nor one's friends. One who eats alone—केवलादः, without sharing with others, he eats nothing but sin alone—केवलादी. (*Rig Veda,* 10-117-6).

(झ) जनता को उद्‌बोधन [GENERAL EXHORTATIONS]

ऋग्वेद, 10.13.1, अथर्ववेद, 6.45.1

अक्षैः मा दीव्यः, कृषिं इत् कृषस्व, वित्ते रमस्व
बहुमन्यमानः। तत्र गावः, कितव, तत्र जाया, तत् मे
विचष्टे सविता अयं अर्यः ॥

भावार्थ–ऐ मूर्ख, जुआ मत खेल, खेती कर, परिश्रम से जो मिले उसी धन को बहुत मान और उसी में रमा रह। ऐ जुआरी, भगवान् का आदेश है कि परिश्रम से जो मिले उसी में सब-कुछ है–स्त्री, पुत्र-कलत्र, जानवर।

Don't play with dice; Don't gamble; ply the fields and whatever you get with honest effort regard that as enough.

परः अप इहि, मनस्पाप, किम् अशस्तानि शंससि।
परः इहि, न त्वा कामये, वृक्षान् वनानि संचर। गृहेषु
गोषु मे मनः ॥

भावार्थ–ऐ मन के पाप, दूर भागो, क्यों बुरी बातें सोचते हो, परे हटो, मैं तुझे नहीं चाहता, छिः छिः रे मन के पाप! मुझे अपने बाल-बच्चों में और जानवरों के साथ रहने दो।

Get away, O the sins of the mind;
Why dost thou hanker after the evil?
I want thee not; get away to the forest
Let me remain in my house and with kine.

उत् यानं ते पुरुष न अवयानं, जीवातुं ते दक्षतातिं
कृणोमि। आ हि रोह इमम् अमृतं सुखं रथं, अथ
जिर्विः विदथं आ वदामि ॥

भावार्थ–ऐ पुरुष, तेरा उत्थान हो, पतन न हो, मैं तेरे जीवन को ऐसा चतुर बनाता हूं कि तेरा उत्थान ही हो, पतन न हो। मैं यह सत्य घोषणा करता हूं कि हम सब अमर रथ पर सवार होकर सुख की तरफ़ चलें।

O man, let there be rise for thee, not a fall. I make thy life full of dexterous strength. I proclaim this truth—विदथम्—unto thee; Let us ride over this immortal chariot of the body with pleasure. This is praiseworthy—अथ जिर्विः,. (*Atharva Veda,* 8-1-6).

उत् देवाः अवहितं देवाः उत् नयथा पुनः। उत् आगः
चक्रुषं देवाः देवाः जीवयथा पुनः॥

—ऋक्० १०.१३७.१॥

भावार्थ—हे भगवन्, मुझ पतित को उठाओ, मैं फिर गिर जाऊं तब भी पुनः उठाओ; हे देव, मैं फिर-फिर अगर पाप करूं और समझूं कि मैं उच्च-जीवन से हाथ धो बैठा, तो सदाचारी जीवन के लिये मुझे फिर जीवन प्रदान करो।

O Lord of Divine attributes, help me who has fallen. If I fall, again lend me thy helping hand again. As many times I fall, again and again and feel that I am lost to higher life. Then also, help me to enable me to live a whole life.

आयुषा आयुः कृताम् जीव, आयुष्मान् जीव, मा
मृथाः। प्राणेन आत्मन्वतां जीव, मा मृत्योः उत् गाः
वशम्॥ —अथर्व० १९.२७.८

भावार्थ—ऐ मनुष्य, जो लोग अपने जीवन का आगा-पीछा बना लेते हैं—"आयु कृताम्"—उनकी तरह नियमित आयु को बिता, जीवन को वृथा मत गंवा; उन लोगों की तरह जीवन निभा जो जानते हैं कि उनमें आत्मा है, मुर्दे की तरह मत जी, न मृत्यु के पंजे में फंस। जीने की तरह जी, मुर्दे की तरह न जी। इन्द्रियों को वश में रख।

O man, live the life of those who plan out—Live long, do not think of death. Live like those who are active to the existence of Self—आत्मन्. Don't live like a dead person.

अभयं नः करति अन्तरिक्षं, अभयं द्यावापृथिवी उभे
इमे। अभयं पश्चात् अभयं पुरस्तात्, उत्तरात्, अधरात्
अभयं नः अस्तु॥

भावार्थ—हमें अन्तरिक्ष से भय न हो, द्यु तथा पृथिवी—इन दोनों से भय न हो, पीछे से, सामने से, ऊपर से, नीचे से भय न हो—सब तरफ़ से हम निर्भय रहें।

May we be fearless from mid-region, from the heaven and the earth. May we not have fear from front, behind, and below (*Atharva Veda,* 19-15-5).

अभयं मित्रात्, अभयं अमित्रात्, अभयं ज्ञातात्, अभयं
परोक्षात्। अभयं नक्तम् अभयं दिवा नः, सर्वाः आशाः
मम मित्रं भवन्तु॥

भावार्थ—हमें मित्र से भय न हो, शत्रु से भय न हो, ज्ञात से भय न हो, अज्ञात से भय न हो। रात्रि से भय न हो, दिन में किसी वस्तु या व्यक्ति से भय न हो। सब तरफ़ हमें मित्र-ही-मित्र दिखायी दें।

May we not be afraid of our friends and of foes, of the known and of the unknown. May we be fearless at night and fearless during the day. May all directions be friendly towards us. (*Atharva Veda,* 19-15-6).

भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येम अक्षभिः
यजत्राः। स्थिरैः अंगैः तुष्टुवांसः तनूभिः वि अशेमहि
देवहितं यत् आयुः॥

भावार्थ—हे देवो! हम कानों से अच्छी बात सुनें, आँखों से भली वस्तु देखें, यज्ञादि करते रहें, हमारे अंग-प्रत्यंग स्थिर रहें, उनमें कोई विकार न आये और शरीर से ऐसी आयु व्यतीत करें जो समाज के हित में हो और जिससे समाज में दिव्य गुणों का संचार हो।

O YE adorable one, may we hear with our ears what is auspicious; may we see with our eyes what is auspicious; may we with our limbs and body strong, enjoy the life worthy of men of noble qualities. (*Yajur Veda,* 25-21).

(ञ) शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः [HARK YE, OH, CHILDREN OF THE IMMORTAL]

—ऋग्वेद 10.13.1 तथा यजुर्वेद 11.5

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यम् नमोभिः वि श्लोकः एतु पथ्या
इव सूरेः। शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः, आ ते धामानि
दिव्यानि तस्थुः॥

भावार्थ—परमात्मा की तरफ़ से अमृत-पुत्र मानव-मात्र को उपदेश है: मैं दोनों को जोड़ता हूं—'युजे वाम्'। किन दोनों को? 'ब्रह्म' तथा 'श्लोक' को। 'ब्रह्म' का अर्थ है 'ज्ञान', 'श्लोक' का

अर्थ है 'वाणी'। ब्रह्म' पहले, 'श्लोक' पीछे–यह 'ब्रह्मपूर्व्य-श्लोक हुआ–अर्थात् ज्ञान पहले, वाणी पीछे। जो ज्ञान दिया जाय वह वाणी में आना चाहिये। पर-ब्रह्म की तरफ़ से मानवमात्र को सन्देश है कि ब्रह्मपूर्व्य-श्लोक—अर्थात् ज्ञानपूर्वक वाणी का प्रयोग करो। ऐसे प्रयोग के लिये नमस्कार है। यह स्थिति होनी चाहिये जैसे युद्ध में शूरवीर सैनिक के लिये 'पथ्य' मार्ग का भोजन–होता है। वाणी ज्ञान के लिये ऐसी ही है। जैसे योद्धा के लिये मार्ग का भोजन होता है, जैसे भोजन के बिना योद्धा जी नहीं सकता, वैसे ही ज्ञानानुसार कर्म के बिना मनुष्य का ज्ञान बेकार है। हे अमृत पुत्रो! कान खोलकर सुनो–"शृण्वन्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः"–अगर तुम्हारी वाणी के अनुसार तुम्हारा कर्म होगा तो तुम दिव्य-धाम में जा पहुंचोगे।

I join you both—'युजें वां'—mind and speech—which are the foremost sources of knowledge—'ब्रह्म पूर्व्यम्'. With salutations come our praises (for the combination of mind and speech, which means that we may speak whatever there is in the mind, not the reverse)—'नमोभिः विश्लोकम् एतु'. Just as the soldier carries with him his ration—'पथ्या'—(for sustenance), similarly we should treat our speech to sustain what we have in mind. Hark ye, men, Oh children of the immortal—'अमृतस्य पुत्राः'—thus you will stay—तस्थुः—in the Divine Realms—'धामानि दिव्यानि'. (*Rig Veda,* 10.13.1).

The *Mantra* lays stress on the necessity of thought and speech being in unision. The advice is addressed to all mankind—children of the Immortal Divine, for thus alone we shall have our stay in the Realm Divine. The words Hark Ye, Children of the Divine—'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः'—are very significant and go to the heart of the devotee.

(त) मृत्युंजय महामंत्र [THE MANTRA OF VICTORY OVER DEATH]

—यजुर्वेद 3.60

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
ऊर्वारुकमिव बन्धनात् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

भावार्थ–हम सब त्र्यम्बक की पूजा करते हैं। अय् धातु मात्र्यर्थक है–अर्थात्, हम वेद-वाणी रूपी उस मां की पूजा करते

हैं जो त्रिविध रूप से हमें पुष्टि देती है। हमें भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से हृष्ट-पुष्ट करती है। हम जीवन में मृत्यु के बन्धन से बंधे हुए हैं। जो पैदा होता है उसका मरना निश्चित है, परन्तु वेद-माता हमें मृत्यु के बंधन से इस प्रकार मुक्त कराये जैसे मीठा फल (खरबूजा) पक जाने पर स्वयं गिर पड़ता है। उसका वृक्ष से अलग होना अलग न होने के समान होता है, उसे वृक्ष से पृथक् होने में कोई खींचातानी, किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता। हम भी उस फल की तरह संपूर्ण जीवन में मिठास भरा हुआ जीवन-यापन करें और पके फल की तरह जीवन से मुक्त हो जायें। इस प्रकार हम मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जायेंगें, परन्तु परम पिता भगवान् से हमारा संबंध बना रहेगा, हम मर कर भी अमर रहेंगे। इस मंत्र का प्राणायाम के साथ जप किया जाता है, इसीलिये इस पंत्र को मृत्युञ्जय महामंत्र कहते हैं।

मृत्युंजय महामंत्र का जाप प्राणायाम के साथ किया जाता है। प्राणायाम के तीन भाग हैं पूरक, कुंभक तथा रेचक। प्राणायाम करते हुए पहले शुद्ध वायु में बैठ कर फेंफड़ों से सारी वायु को ज़ोर से बाहर निकाला जाता है। यह 'रेचक' है। जब भीतर की वायु जहां तक निकल सकती है निकल जाय, तब शुद्ध वायु को भीतर खींचा जाता है। जितनी देर भीतर आसानी से रख सकें रखा जाता है। भीतर खींचने को 'पूरक' तथा अन्दर रोकने को 'कुम्भक' कहते हैं। कुम्भक की अवस्था में भीतर की वायु जिसमें कार्बन डायोक्साइड थी और जिसमें कुंभक के कारण बाहर की शुद्ध वायु भीतर आ गई—इन दोनों का आदान-प्रदान होता है जिसे 'औस्मोटिक प्रोसेस' कहते हैं जो कुंभक की स्थिति में होती है। इस स्थिति में कार्बन डायोक्साइड बाहर जाती है और वायु की जीवन-प्रद आक्सीजन भीतर आती है। इसके बाद प्राणायाम की तीसरी प्रक्रिया शुरू होती है जिसमें कार्बन डायोक्साइड को बाहर फेंक दिया जाता है। इसे 'रेचक' कहते हैं। इस प्रकार 'रेचक' दो बार किया जाता है—प्रारंभ में और अन्त में। प्राणायाम की इन प्रक्रियाओं में महामृत्युञ्जय मंत्र का जाप किया जाता है। यह मंत्र ऋग्वेद 7.59.12 में भी पाया जाता है।

While performing *Pranayam* we recite the above *Mantra* during the three stages of *Pranayam—Purak, Kumbhak* and *Rechak*. Purak means inhaling of fresh air;

Kumbhak means retention of fresh air; *Rechak* means exhalation of the polluted air. In *Pranayam* first we forcibly empty the lungs. After they are emptied, we inhale fresh air which is laden with oxygen. This process of inhalation is called *Purak.* After lungs are filled with fresh air, the second process is retention of fresh air which is called *Kumbhak.* During this second stage osmotic process takes place. Thus, carbon dioxide of the body and oxygen of the fresh air interchange, that is, oxygen is taken in and carbon dioxide is given out during this process. This is the second process. Then, there is the third process when the carbon dioxide is forcibly given out. This process is called *Rechak.* During all this process one goes on reciting mentally the *Mrityunjay Maha-Mantra.* It is a psychological process which is going on with auto-suggestions. In this, one is saying to one-self that he should be like a ripened fruit which automatically drops off from the tree. One suggests to oneself that his death, which is a certain phenomenon, should not be a misery to him and to his family—death which is not a death, but an IMMORTALITY. One prays to the Lord entreating Him as MOTHER, who looks after him physically, mentally and spiritually—in all the three phases of his being and nourishes him like a cow does to her young one.

(थ) वैदिक-संस्कृति के कुछ फार्मूले–सूक्तियाँ [SOME FORMULAE DEPICTING VEDA CULTURE]

क) कृण्वन्तो विश्वमार्यम् (Change of the whole world into noble men)	ऋग्वेद, 9.63.5
ख) शृण्तु सर्वे अमृतस्य पुत्राः (See ञ)	ऋग्वेद 10.13.1
ग) माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः (The earth is my mother and I am her Son)	अथर्ववेद (पृथ्वी सूक्त) 12.12
घ) पुमान् पुमाँसं परिपातु विश्वतः (Let man look after the welfare of fellowman)	ऋग्वेद 6.75.14

ङ)	संगच्छध्वं संवदध्वम् (Let us move together and converse together)	ऋ० 10.191.2
च)	केवलाघो भवति केवलादी (One who eats alone eats sin)	ऋ० 10.117.6
छ)	स्वेन क्रतुना संवदेत (Advice only what you practice)	स्वामी विद्यानन्द विदेह
ज)	अहानि शं भवन्तु नः (Let the days be blissful to us)	यजुर्वेद, 36.11
झ)	सर्वाः आशाः मम मित्रं भवन्तु (May people of all lands be friendly to me)	अथर्व, 19.15.6
ञ)	मनुर्भव जनया दैव्यम् जनम् (Be a man and develop into divine being)	ऋग्वेद 10.53.6
ट)	एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति (He is one, but the wise address by many names)	ऋग्वेद 1.164.46
ठ)	शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर (Earn by hundreds of hands and give by thousands of hands)	अथर्व, 3.24.5
ड)	इदमहं अनृतात् सत्यमुपैमि (Discarding untruth, I take resort to truth)	यजुर्वेद, 1.5
ढ)	वयं स्याम पतयो रयीणाम् (May we be masters of immense wealth)	यजुर्वेद, 10.20
ण)	चरैवेति चरैवेति (Move on and on without rest)	ऐतरेय ब्रा० 33.3
त)	मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षत् (Let not the brother envy the brother)	अथर्व, 30.30.1
थ)	स्वस्ति पन्थां अनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव (Let us follow the noble path like the sun and the moon)	ऋग्वेद, 5.15.15
द)	मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे (Let us look upon everyone with an eye of a friend)	यजुर्वेद, 36.18
ध)	शं नः अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे (Let us be in peace with the two-footed and the fourfooted)	यजुर्वेद, 31.19

न) विश: त्वा सर्वा: वाञ्छन्तु (Let all the people like you) यजुर्वेद, 12.11

प) जिह्वा मे भद्रं (Let my tongue be noble) यजुर्वेद, 20.6

फ) संश्रुतेन गमेमहि (May we follow what we know from scriptures) अथर्ववेद, 1.1.4

ब) परिमितं वै भूतम्, अपरिमितं भव्यम् (The past is gone and limited; and future is to come and is unlimited) ऐतरेय ब्राह्मण

भ) नमो मात्रे पृथिव्यै; नमो मात्रे पृथिव्यै (I bow unto mother earth) यजुर्वेद, 9.22

म) पश्य देवस्य काव्यम्, न ममार न जीर्यति (Look at the world as poem of god; it dieth not, it ageth not). अथर्व, 10.8.32 अथर्व, 19.71.1

उपसंहार

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयु: प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्म वर्चसम्। मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम॥

—अथर्ववेद 19.71.1

भावार्थ—मैंने कल्याण करने वाली वेद माता की स्तुति कर ली। वेदमाता पवित्र-जीवन बिताने में प्रेरणा देती है। हे वेद माता! आप वर दीजिये और मुझे प्राण-शक्ति, प्रजा-शक्ति, धन-धान्य, कीर्ति, ब्रह्मतेज देकर ही विदा लीजिये। आपकी कृपा से मुझे इन सबकी प्राप्ति हो।

I have paid homage to the Blessed Mother—*VEDA*—who encourages the learned in their higher activities of life, and goads them on to lead a pure life. I implore Mother *Veda* to grant me long-life, breathing-power, progeny, name and fame, wealth and spiritual splendour and then depart to the Divine Realm.

मैं अपने 93वें वर्ष की आयु में यह ग्रन्थ लिख कर अपने को धन्य मानता हूं और अनुभव करता हूं कि गुरुकुल-माता और वेद-माता के प्रति मुझ पर जो ऋण था उसे मैंने चुका दिया—**'स्तुता**

मया वेद माता'।

आज वेद का नाम लेकर ऊल-जलूल बातों को दाद देने वाले संपूर्ण जगत् में हा-हाकार मचा हुआ है। वेद का नाम लेकर जो लोग अन्ध-विश्वास को प्रश्रय देकर जी रहे थे वे बौखलाते फिरते हैं 'वेद में यह लिखा है', 'वेद में वह लिखा है'-इसका ऋषि दयानन्द ने अनेक ग्रन्थ लिखकर भंडाफोड़ दिया है, और उन सबकी बोलती बन्द हो गई है। स्वर्गीय राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने तो यहां तक लिख डाला था कि अपने जीवन-काल में उन्होंने ऋषि के ग्रन्थों के समान कोई ग्रन्थ नहीं देखा। हमने वेदों के विषय में ऋषि दयानन्द की विचार धारा को लक्ष्य में रखकर प्रस्तुत ग्रन्थ लिखा है। ऋषि दयानन्द ने जो-कुछ कहा और लिखा उसे वे 'सत्यार्थ-प्रकाश' ग्रन्थ में लिखकर छोड़ गये हैं। उनके इस ग्रन्थ को पढ़कर मनुष्य आश्चर्य में पड़ जाता है और सोचने लगता है कि इतना बृहत्काय और इतना प्रामाणिक ग्रन्थ अपने घटनापूर्ण संक्षिप्त-जीवन-काल में कोई कैसे लिख सकता है।

ऋषि का यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ ऋषि ने कुल साढ़े तीन महीनों में लिखा था। इस ग्रन्थ में 373 ग्रन्थों का हवाला है तथा 1542 वेद मंत्रों या श्लोकों का प्रमाणों सहित उद्धरण दिया गया है। चारों वेद, सब ब्राह्मण ग्रंथ, सब उपनिषद्, छओं दर्शन, अठारह स्मृति, सब पुराण, सूत्र-ग्रन्थ, गृह्यसूत्र, जैन तथा बौद्ध ग्रन्थ, बाइबिल, कुरान-सबका उद्धरण ही नहीं, उनका रेफरेन्स भी इस ग्रन्थ में दिया गया है। किस ग्रन्थ में कौन-सा मंत्र या श्लोक या वाक्य कहा है, उसकी संख्या क्या है-यह सब-कुछ इस साढ़े तीन महीनों में लिखे ग्रन्थ में मिलता है। आज का कोई रिसर्च स्कालर अगर किसी विश्वविद्यालय की संस्कृत की अप-टू-डेट लायब्रेरी में, जहां सब ग्रन्थ उपलब्ध हों, इतने रेफरेन्स वाला ग्रन्थ लिखना चाहे, तो भी उसे सालों लग जायें। साधारण ग्रन्थ की बात दूसरी है, ऋषि दयानन्द का हर-एक ग्रन्थ मौलिक विचारों का खज़ाना है, यह एक ऐसा ग्रन्थ है जिसने समाज को एक सिरे से दूसरे सिरे तक झकझोर दिया है। जिन ग्रन्थों ने संसार को झकझोरा है उनके निर्माण में सालों लगे हैं। कार्लमार्क्स ने 34 वर्ष इंलैण्ड में बैठकर "केपिटल"-ग्रन्थ लिखा था जिसने विश्व में नवीन आर्थिक दृष्टिकोण को जन्म दिया

परन्तु 1889 की जून में चीन ने उसका फजीता कर के दिखा दिया। कार्लमार्क्स का आर्थिक ढांचा चीन में करोड़ों की लाशों पर खड़ा हो गया। ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश साढ़े तीन महीनों में लिखा, जिसने नवीन सामाजिक दृष्टिकोण को जन्म दिया। दोनों का क्षेत्र अलग-अलग था, मार्क्स के ग्रन्थ ने यूरोप का आर्थिक ढांचा हिला दिया, ऋषि दयानन्द के ग्रन्थ ने भारत का सांस्कृतिक तथा सामाजिक ढांचा हिला दिया।

सत्यार्थ-प्रकाश चुने हुए क्रांतिकारी विचारों का खज़ाना है-ऐसे विचार जिन्हें उस युग में कोई सोच भी नहीं सकता था। समाज की रचना "जन्म" के आधार पर न होकर "कर्म" के आधार पर होनी चाहिये-ऋषि दयानन्द का यही एक विचार इतना क्रांतिकारी है कि इसके क्रिया में आने से हमारी 90 प्रतिशत समस्यायें हल हो सकती हैं। ऐसे संगठन में 'जन्म' से न कोई नीचा, न कोई ऊंचा; न कोई जन्म से ग़रीब, न कोई अमीर; जो-कुछ हो 'कर्म' से हो-ऐसी स्थिति में कौन-सी समस्या है जो इस सूत्र से हल नहीं हो जाती। शिक्षा के क्षेत्र में गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली का विचार ऋषि दयानन्द की ही देन है जिसे पकड़ कर उत्तर-भारत में जगह-जगह गुरुकुलों का जाल बिछ गया था। आज भी हमारी शिक्षा प्रणाली की जो छीछालेदर हो रही है उसका इलाज गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली के सिद्धान्तों में ही निहित है। लोकमान्य तिलक ने कहा था-"स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है"। दादाभाई नौरोजी ने "स्वराज्य"-शब्द का प्रयोग किया था। इन सबसे पहले ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के 8वें समुल्लास में लिखा था-"कोई कितना ही कहे, परन्तु जो स्वदेशीय राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है।" अंग्रेजों के राज्य में कोई व्यक्ति यह लिखने का साहस कर सकता हो-यह जानकर आश्चर्य होता है।

आज जिन समस्याओं को लेकर हम उलझे रहते हैं; हरिजनों की समस्या, गरीबों की समस्या, शिक्षा की समस्या, देश-भाषा की समस्या, चुनाव की समस्या, नियम तथा व्यवस्था की समस्या, गौ-रक्षा की समस्या, नसबंदी की समस्या, नवयुवकों की समस्या, सबसे बढ़कर वेदार्थ की समस्या-कौन-सी समस्या है जिसका हल ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में मौजूद नहीं है। और, कौन-सा हल है जो आज के राजनीतिज्ञों ने ऐसा ढूंढ निकाला है

जो ऋषि दयानन्द ने पहले से नहीं दिया।

हिन्दू समाज में सबसे बड़ी समस्या वेदों की थी। यहां हर-कोई हर बात के लिये वेदों का नाम लेता था। स्त्रियों तथा शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार क्यों नहीं? क्योंकि वेदों में लिखा है 'स्त्री शूद्रौ नाधीयाताम्'। बाल-विवाह क्यों होना चाहिये क्योंकि वेदों में लिखा है "अष्टवर्षा भवेत् गौरी नव वर्षा च रोहिणी दश वर्षा भवेत् कन्या अत उर्ध्व रजस्वला। माता चैव पिता चैव ज्येष्ठो भ्राता तथैव च, त्रयस्ते नरकं यान्ति दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्।" जन्म से वर्ण व्यवस्था क्यों मानें? क्योंकि वेद में लिखा है **"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्"**–ब्राह्मण परमात्मा के मुख से और शूद्र उसके पांव से उत्पन्न हुए। जैसे मुख बाहू और बाहू मुख नहीं बन सकता। इसी प्रकार ब्राह्मण शूद्र तथा शूद्र ब्राह्मण नहीं बन सकता। जब ऋषि दयानन्द ने यह देखा कि वेदों का नाम लेकर हर संस्कृत-वाक्य को वेद कहा जा रहा है, और वेदों का उद्धरण देकर वेद-मंत्रों का अनर्थ किया जा रहा है, तब उन्होंने निश्चय कर लिया कि वेदों को ही केन्द्र बना कर हिन्दू-समाज की रक्षा की जा सकती है और वह रक्षा तभी हो सकती है जब जन-साधारण को समझ पड़ जाय कि वेदों में क्या कहा गया है।

वैदिक वाङ्मय के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द की खोज यह थी कि हर संस्कृत वाक्य या हर संस्कृत ग्रन्थ वेद नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद, स्मृति, पुराण, सूत्र ग्रन्थ–ये सब वेद नहीं हैं। इन ग्रन्थों में जो-कुछ लिखा है अगर वह वेद विरुद्ध है, तो वह त्याज्य है, जो वेदानुकूल है वही ग्राह्य है। इस विचारधारा को प्रकट करने के लिये उन्होंने दो शब्दों का प्रयोग किया–"आर्षग्रन्थ" तथा "अनार्षग्रन्थ"। अब तक संस्कृत-साहित्य में इस दृष्टि को किसी ने नहीं अपनाया था। संस्कृत के हर ग्रन्थ में जो-कुछ लिखा मिलता था उसको प्रामाणिक माना जाता था। ऋषि दयानन्द ने इस विचार को ठोकर मार कर गिरा दिया।

वेदों के संबंध में ऋषि दयानन्द की दूसरी खोज यह थी कि वेदों के शब्द "रूढ़ि" नहीं "यौगिक" है। यद्यपि यह विचार नया नहीं था, निरुक्तकार का यही कहना था, तो भी वेदों के सभी भाष्यकारों ने वैदिक शब्दों के रूढ़ि अर्थ ही किये थे। सायण, उव्वट, महीधर तथा उनके पीछे चलते हुवे पाश्चात्य

विद्वानों–मैक्समूलर, राथ, विल्सन, ग्रासमेन–ने मक्खी–पर–मक्खी मार अनुवाद किया था। सायण आदि एक तरफ़ वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते थे, दूसरी तरफ़ उनमें इतिहास भी मानते थे जो वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने के सिद्धान्त से टकराता था। इस बात की उन्हें कोई चिन्ता नहीं थी। वह यज्ञों का समय था इसलिये भाष्यकार समझते थे कि वेदों के अग्नि, वायु, इन्द्र आदि देवता सचमुच स्वर्ग से यज्ञों में पधारते हैं और दान दक्षिणा आदि लेकर तथा यजमान को आशीर्वाद देकर स्वर्ग में चले जाते हैं। पाश्चात्य विद्वानों को यह बात अपनी विचारधारा के अनुकूल पड़ती थी। उनका विचार विकासवाद पर आश्रित था। आदि मानव जंगली था, जंगली आदमी सूर्य को, अग्नि को, वायु को देवता समझ कर पूजे तो यह युक्तियुक्त प्रतीत होता है। पाश्चात्य विद्वान् कहने लगे कि वैदिक ऋषि क्योंकि जंगली थे इसलिये अनेक देवताओं को पूजते थे। इस निष्कर्ष में सायण आदि के भाष्य उनके विचार की पुष्टि करते थे।

ऋषि दयानन्द ने इस विचार को भी ठोकर मार कर गिरा दिया। वेदों से ही उन्होंने सिद्ध किया कि अग्नि आदि नाम भिन्न–भिन्न देवताओं के नहीं, एक परमेश्वर के ही उसकी क्रिया–शक्ति के आधार पर भिन्न–भिन्न नाम हैं। ऋग्वेद (1.164.46) में लिखा है **'एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति अग्निम् यमं मातरिश्वानमाहुः'**–परमात्मा एक है, उसे अनेक नामों से स्मरण किया जाता है। इस एक मंत्र से सारा–का–सारा विकासवाद ढह जाता है।

ऋषि दयानन्द का कहना था कि वैदिक शब्दों के तीन प्रकार के अर्थ होते हैं–आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। उदाहरणार्थ, इन्द्र का अधिभौतिक अर्थ अग्नि, विद्युत्, सूर्य आदि है; आधिदैविक अर्थ राज्य, सेनापति, अध्यापक आदि दैवीय–गुण वाले व्यक्ति है; आध्यात्मिक अर्थ जीवात्मा, परमात्मा आदि है। इसी प्रकार अन्य शब्दों के बारे में कहा जा सकता है। इस कसौटी को सामने रख कर अगर वेदों को समझा जाय तो न उनमें इतिहास मिलता है, न बहुदेवतावाद मिलता है, न जंगलीपन मिलता है और न विकासवाद मिलता है।

19वीं शताब्दी में अनेक समाज–सुधारक हुये। ऋषि दयानन्द, राजा राममोहन राय, केशवचन्द सेन इसी युग की उपज थे। वे

सब एक तरफ़ हिन्दू समाज के पिछड़ेपन को देख रहे थे, दूसरी तरफ़ पश्चिमी देशों की प्रगतिशीलता को देख रहे थे। यह सब देख कर वे हिन्दू समाज को रूढ़ियों की दासता से मुक्त कराना चाहते थे। ऋषि दयानन्द तथा दूसरों की विचारधारा में भेद यह था कि दूसरे जहां हिन्दू-धर्म, हिन्दू-संस्कृति तथा हिन्दुत्व को ही समाप्त करने पर तुल गये, वहां ऋषि दयानन्द ने हिन्दुओं के हिन्दू रहते हुए उन्हें नवीनता के नये रंग में रंग दिया। कोई वृक्ष जड़ के बिना खड़ा नहीं रह सकता। कोई समाज अपने भूत के बिना नहीं जी सकता। भूत में पैर जमा कर भविष्य की तरफ़ बढ़ना, पीछे भी देखना और आगे भी देखना--यही किसी समाज के जीवन का गुर है। ऋषि दयानन्द ने इसी गुर को पकड़ा था। पीछे वेदों की तरफ़ देखो, उसमें जमकर आगे भविष्य की तरफ़ पग बढ़ाओ, भूत को छोड़ दोगे तो वृक्ष की जड़ कट जायेगी, भविष्य को नहीं देखोगे तो उठ नहीं सकोगे--यह ऋषि दयानन्द का सन्देश है और था जिसे हमने इन लेखों में प्रकट करने का प्रयत्न किया है।

EPILOGUE

I feel that after having written this book at my 93rd years of age I have discharged my debt which I owed to VEDAMATA—'स्तुता मया वेद-माता'—(अथर्व, 19.71.6). After centuries of wanderings we have stepped into an Age which I may call the *Dayanand-Age*. Now, that time has gone when our *Pandits* attributed every absurd and foolish thing to the *Vedas*. After the advent of *Dayanand*, the *Vedas* have come to their own. The *Vedic* scholars of the universities all over the world are not anxious to know as to what Sayan said, what Mahidhar said, and after following them, what Max Muller said, what the other Western scholars said; they are anxious to know what Dayanand said. Dayanand ushered in an Era of *Vedic* studies which is reflected in his book *'Satyarth Prakash'* which was written in only three months and a half. Rishi Dayanand was born in 1824 and died in 1883. In this small period he created a stir—a Social and Intellectual stir, never seen before in the history of mankind. As said before, *'Satyarth Prakash'*—a volumi-

nous and Encyclopaediac work was written in three months and a half which contains references to 373 books and quotes 1542 *Vedic* hymns. No quotation worth the name has been left without giving full reference. All the 4 *Vedas*, all *Brahman Granthas*, all *Upanishads*, all *Darshans*, 18 *Smritis*, all *Puranas*, *Sutra Granthas*, *Jain Granthas*, *Baudha Granthas*, *Bible*, *Koran*, *Zendavastha*, *Granth Saheb* etc. etc. find a place in this formidable book. This book of Dayanand shook India from one end to the other. Those books which have changed the shape of the world have taken ages in their writing. Karl Marx took 34 years in writing 'CAPITAL' which introduced new Economic System in Western countries, but Dayanand took 3 months in writing *'Satyarth Prakash'* which revolutionised the Social, Intellectual and Academic thinking of the society and universities.

Is there any problem the solution of which is not given by Dayanand on the basis of *Vedic* Thought? Take the problem of structure of society. His *Vedic* solution is that society should be reconstructed on the basis of 'WORK' (कर्म) and not on the basis of 'BIRTH' (जन्म). This very thought is so revolutionary that 90 percent of the ills of society will disappear if this *Vedic* Thought were put into practice. 'Birth' should not count in assessing a person, high or low, rich or poor, it is only the 'WORK' that should be the criterion in assessment. Which is the problem that cannot be solved by this Principle? There are two words, though not original, yet remarkable contributions of Dayanand in the study of the *Vedas*—they are *Yaugik* (यौगिक) and *Roodi* (रूढ़ि). These words or methods have been used by *Yask* (यास्क) in *Nirukta* (निरुक्त) but these can also be used both in Social Structure as well as in *Vedic* Studies. In a sense, this idea and the former idea are one and the same in different garb. Let us take the word *'Brahman'* (ब्राह्मण). This word can be understood either on the basis of 'BIRTH' or of 'WORK'. If on the basis of 'birth', a person who is utterly ignorant can be called a *Brahman* by liniage; if on the basis of 'work' that person, if working as an unlettered ignorant peon, though *Brahman* by birth can be called a *Shudra* (शूद्र). Here we are dealing with the words on the basis of 'birth' and 'work'.Transmuted in the sense of *Yaugik* (यौगिक) and *Roodi* (रूढ़ि), 'Birth' means *(Roodi)* and 'work' means *(Yaugik).* This is the Sociological use of the above words. In *Vedic* interpretation *Yaugik* words are those which can have many meanings; *Roodi* words are those which can have only one meaning—its meaning is fixed.

Rishi Dayanand's social structure is based on WORK, not on BIRTH. Similarly, this *Vedic* interpretation is based on *Roodi.* Therefore, we say that the idea of *'Yaugik'* and *'Roodi'* as well as the idea of 'Work' and 'Birth' is one and the same. If I were permitted to coin my own words, I would say that *Yaugically* we shuld use the *Vedic* words and *Roodically* we should use the common Sanskrit words, or we may say that *birthically* we should use the fixed Sanskrit words and *workically* we should use the *Vedic* Sanskrit words. That way only *Vedas* can be understood correctly.

The effort of European *Vedic* Scholars has been on the lines of Social Evolution and as the interpretations of *Sayan* and *Mahidher* supported that line, therefore, the former accepted the interpretation of the latter. Rishi Dayanand followed the method of *Yask* which was in contradiction to the idea of Social Evolution. Rishi Dayanand discarded the interpretation of both and set the *Vedic* ideals on the high Cultural Pedestal.

चतुर्वेद-गंगा-लहरी

[SURGING WAVES OF THE VEDA-GANGA]

वेद विषयक दस मौलिक लेख (10 लेख; 10 Articles)

(TEN ORIGINAL ARTICLES ON THE VEDA)

1. वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है; कैसे?–देखिये, ऐसे!
2. वैदिक-संस्कृति यथार्थवादपरक है
3. The Concept of Vedic Realism
   or Pragmatism—यथार्थवाद, I
4. The Concept of Vedic Materio-Spiritualism
   or Vedic Pragmatism or Realism—यथार्थवाद, II
5. उसके पास वेदार्थ की कुंजी थी
   (वेदों का प्रारंभिक युग)
6. उसके पास वेदार्थ की कुंजी थी
   (वेदों का मध्य-कालीन युग)
7. उसके पास वेदार्थ की कुंजी थी
   (वेदों का मध्य-कालीन अन्धकार-युग)
8. उसके पास वेदार्थ की कुंजी थी
   (वेदों का उत्तर-कालीन युग)
9. उसके पास वेदार्थ की कुंजी थी
   (वेदों का दयानन्द-कालीन युग)
10. Veda is the Repository of all True Knowledge
    (वेद सब सत्य-विद्याओं की पुस्तक है)

NOTE : In this Section, the gist of the Hindi Articles 1 and 2 is given in Articles 3 and 4 in English; and the gist of Hindi Articles 5, 6, 7, 8 and 9 is given in Article No. 10 in English. The Heading of this Section is CHATURVEDA GANGA LAHIRI because the sum and substance of these Articles applies to all the four *Vedas*.

वेद-विषयक कुछ मौलिक लेख

[SOME ORIGINAL ARTICLES ON VEDA]

1. वेद सब सत्य-विद्याओं की पुस्तक है; कैसे? —देखिये, ऐसे!

वेद-विषयक हम जो लेख लिख रहे हैं उनका मुख्य लक्ष्य आर्यसमाज के तीसरे नियम को समझाने का यत्न करना है। आर्य समाज का तीसरा नियम है कि "वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है।" इस नियम को समझने के लिए ऋग्वेद का 'अदिति'-शब्द बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है। यह एक अद्‌भुत शब्द है। 'अदिति' के लिये ऋग्वेद (1.89.10) में निम्न मंत्र आया है :

अदितिः द्यौः अदितिः अन्तरिक्षं अदितिः माता सः
पिता सः पुत्रः। विश्वेदेवाः अदितिः पंचजनाः अदितिः
जातं अदितिः अदितिः जनित्वम्॥

इस मंत्र का अर्थ यह है कि संसार में जो-कुछ है, 'अदिति' है। 'अदिति' शब्द 'दिति' से बना है। जो 'दिति' न हो वह 'अदिति' होगा। 'दिति'-शब्द 'दोः अवखंडने' धातु से बना है। 'दिति' का अर्थ है—'खंडित'; 'अदिति' का अर्थ हुआ—'अखंडित। खंडित का अर्थ है—एक से दो, दो से तीन, तीन से चार—इस प्रकार बंटते जाना; अखंडित का अर्थ है—सदा-सर्वदा एक बने रहना, टुकड़ों में न बंटना। जितना भौतिक-ज्ञान है, जिसे हम 'विज्ञान' कहते हैं, वह सब 'दिति' के भीतर समा जाता है क्योंकि वह कभी सत्य माना जाता है, कभी गवेषणा करते-करते असत्य हो जाता है और छोड़ दिया जाता है। अगर सब-कुछ 'अदिति' है, जो जात या जनित्व है, वह सब 'अदिति ' है, तो वेद भी 'अदिति' है, सत्य भी 'अदिति' है, वेद-ज्ञान भी 'अदिति' है। वेद-ज्ञान को 'अदिति' कहने का अर्थ हुआ 'अखंडित'-ज्ञान, ऐसा ज्ञान जो सदा-सर्वदा एक बना रहता है, कभी बदलता नहीं—सदा सत्य, सनातन। इस 'अदिति'-शब्द के लिये ऋग्वेद (8.18.6) में दो अन्य शब्दों का प्रयोग हुआ है जिससे हमारा विषय अधिक स्पष्ट हो जाता है। वह मन्त्र है:

अदितिर्नो दिवा पशुं अदितिर्नक्तं अद्वयाः।
अदितिः पात्त्वंहसः सदावृधा॥

इस मंत्र में 'अदिति' के लिये 'अद्वय' तथा 'सदावृध' शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'अद्वय' का अर्थ है–जो दो न हो; 'सदावृध' का पद–च्छेद करके इसके दो अर्थ हो जाते हैं–'सदावृध'–अर्थात्, जो सदा बढ़ता रहे, विकसित होता रहे, एक से दो, दो से तीन, तीन से चार होता रहे, बंटता रहे; इसका दूसरा अर्थ है–'सदा+अवृध', जो सदा एक रहे, एक से दो, दो से तीन न हो, बंटे नहीं, नित्य–सनातन, एक रूप में बना रहे। इस प्रकार वेद ने ज्ञान को तीन भागों में विभक्त किया है–'अदिति', 'सदावृध' तथा 'सदा+अवृध'। 'अदिति' वह ज्ञान है जो सदा एक रहता है, उसमें दो पक्ष नहीं हो सकते; 'सदावृध' वह ज्ञान है जो सदा बढ़ता रहता है, वृध होता है, बदलता रहता है, आज यह और कल वह; बढ़ेगा तो बदलकर ही तो बढ़ेगा–यह वह ज्ञान है जिसे आज की भाषा में 'विज्ञान' कहते हैं; 'सदा+अवृध' वह ज्ञान है जिसे हम पहले 'अदिति' कह आये हैं–'सत्य–ज्ञान', 'अखंडित–ज्ञान',–एक ज्ञान, न बदलने वाला ज्ञान, अवृध–ज्ञान या जिसे हम ईश्वरीय–ज्ञान कह सकते हैं। भौतिक–ज्ञान सदा बढ़ता रहता है, सदावृध रहता है, बदलता रहता है, यह भौतिक विज्ञान है, इसका मनुष्य द्वारा आविष्कार हो सकता है; आध्यात्मिक–ज्ञान सदा एक रहता है, 'अदिति' या 'अद्वय' है, सदा–सनातन है, इसका आविष्कार नहीं हो सकता, यह सदा दिया जाता है। संसार में सदा एक रहने वाली अगर कोई वस्तु है, तो यह 'सत्य' है, 'सत्य–ज्ञान' है। 'सत्य' सदा एक रहता है, अखंडित रहता है, वेद के शब्दों में कहें तो सत्य सदा 'अद्वय' है, 'अदिति' है, 'अवृध' है। यह नहीं हो सकता कि किसी बात के लिए हम कहें कि यह भी ठीक है, और उसकी विरोधी बात भी ठीक है। सत्य सदा 'अद्वय' होता है। उदाहरणार्थ, हिन्दू हो, ईसाई हो, मुसलमान हो, यहूदी हो, पारसी हो–सभी कहेंगे कि सत्य बोलना चाहिये, कोई नहीं कहेगा कि सच भी बोल सकते हैं और झूठ भी बोल सकते हैं; सब कहेंगे कि प्रेम करना चाहिये, कोई नहीं कहेगा प्रेम भी करो और द्वेष भी करो; सब कहेंगे कि परोपकार करना उचित है, कोई नहीं कहेगा कि परोपकार भी करो, पर–अपकार भी करो। ये तथा इस

प्रकार के अनेक ऐसे आधारभूत तत्त्व है जिन्हें 'अद्वय'-अर्थात्, उनमें दो पक्ष नहीं हो सकते-ऐसा सब-कोई कहते हैं। अगर 'अदिति' का अभिप्राय 'अद्वय' है तो वेद ने इस शब्द को उक्त मंत्र में 'सदावृध'-शब्द के साथ जिसका अर्थ है-सदा वर्धमान, सदा बदलने वाला-क्यों रखा? 'वर्धमान' तो वह तत्त्व है जो सदा बढ़ता रहता है। छोटे से बड़ा, बड़े से बहुत-बड़ा हो जाता या हो सकता है। आज जैसा है कल वैसा नहीं है, अर्थात् पहले जैसा नहीं है। जो चीज़ या जो विचार बदलता रहेगा वही तो बढ़ेगा। वेद के एक साथ 'अद्वय' तथा 'वर्धमान' को जोड़ देना एक रहस्य की बात है। इस रहस्य को खोलने का कुछ प्रयत्न हम पहले कर चुके हैं, कुछ अब प्रयत्न करेंगे। यजुर्वेद के 40वें अध्याय में 'विद्या' तथा 'अविद्या'-इन दो शब्दों का उल्लेख करते हुए लिखा है:

विद्या (अध्यात्मज्ञान) और अविद्या (विज्ञान)

अन्यदाहुः विद्यया अन्यदाहुः अविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां येनस्तद् व्याचचक्षिरे॥
विद्यां च अविद्यां च यस्तद् वेद उभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्त्वा विद्यया अमृतं अश्नुते॥

वेद के ये दोनों मंत्र विलक्षण हैं इनमें से पहले का अर्थ तो स्पष्ट है। प्रायः अक्षर-ज्ञान तथा पढ़ने-लिखने को हम 'विद्या' कहते हैं; वेद का कहना है कि 'विद्या' तथा 'अविद्या' के ये अर्थ नहीं है। इतना ही नहीं, इन शब्दों के यथार्थ-अर्थ बतलाते हुए वेद का कहना है कि 'अविद्या'- रूपी-विद्या से मनुष्य मृत्युंजय बन जाता है, मृत्यु को जीत लेता है, परन्तु 'विद्या'-रूपी-विद्या से तो वह अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। वेद की यह विलक्षण घोषणा है, इसमें 'विद्या' तथा 'अविद्या'-दोनों को एक प्रकार से 'विद्या' ही कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक तथा लौकिक शब्दावली में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। उक्त घोषणा से स्पष्ट है कि वेद यहां भौतिकवाद तथा भौतिक-विज्ञान को 'अविद्या' कह रहा है, क्योंकि औषधि आदि भौतिक औषधियों से तथा उसी प्रकार के भौतिक साधनों से जीवन को दीर्घ किया जा सकता है, मृत्यु से लड़ा सकता है, मृत्यु-समुद्र को तैरा जा

सकता है, किन्तु अमरत्व तो सिर्फ़ अध्यात्मवाद तथा अध्यात्मविज्ञान से ही प्राप्त होता या हो सकता है। इसलिए इस अविद्या को भी एक प्रकार की विद्या ही कहा गया है। तभी कहा है कि अविद्या-रूपी-विद्या से मृत्यु को तो तर जाते हैं—**'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा'**—आगे कहा है कि—**'विद्यया अमृतं अश्नुते'**—विद्या-रूपी-विद्या से अमर हो जाते हैं।

यह ठीक है कि हमारा ज्ञान, ज्ञान तभी कहला सकता है, जब वह 'वर्धमान' हो, आगे-आगे बढ़े। आज का वैज्ञानिक-जगत् इसलिए श्रेयस्कर माना जाता है क्योंकि आज जो बात ठीक मानी जाती है, कल वही परीक्षण तथा खोज करते-करते गलत मान कर छोड़ दी जाती है। अगर विज्ञान रुक जाय, किसी जगह आकर खड़ा हो जाय, तो वह फेंक देने लायक होगा। परन्तु हमारी यह बात सिर्फ़ भौतिक-विज्ञान पर ही लागू होती है जो एक भिन्न-प्रकार की विद्या है; आध्यात्मिक-विज्ञान पर नहीं जो दूसरे भिन्न-प्रकार की विद्या है। आध्यात्मिक-तत्त्व सदा 'अद्वय', 'वर्धमान' होता हुआ भी 'अवर्धमान' की तरफ़ जाता है। 'हिंसा' से शुरू कर मनुष्य 'अहिंसा' पर जाकर रुक जाता है; 'असत्य' से शुरूकर 'सत्य' की खोज में भटकता है; चोरी-डाके-'स्तेय' से चलता-चलता शान्ति-सन्तोष-'अस्तेय' को जीवन का लक्ष्य बनाता है; पर-दारा-गमन या अब्रह्मचर्य और दुराचार में भटकता-भटकता 'ब्रह्मचर्य' तथा 'सदाचार' को परम-ध्येय समझने लगता है। भौतिक-तत्त्व जब तक 'वर्धमान' तक सीमित रहते हैं, तब तक जीवन अपने ध्येय को नहीं पकड़ता। जब जीवन के 'वर्धमान' तत्त्व 'अवर्धमान' हो जाते हैं, जब वे हिंसा से अहिंसा, असत्य से सत्य, स्तेय में अस्तेय, अब्रह्मचर्य से ब्रह्मचर्य, परिग्रह से अपरिग्रह तक पहुंच जाते हैं, तब मनुष्य 'अद्वय', 'अदिति', 'अवर्धमान', एक-नित्य-सनातन को पा लेता है। उसी 'अद्वय', 'अदिति', 'अखंडित' तत्व का वर्णन वेद में है। हमारे कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि वेद में सिर्फ़ अध्यात्मवाद का वर्णन है, भौतिकवाद या विज्ञान का वर्णन नहीं है। भौतिक ज्ञान जब बढ़ेगा, तो बढ़ते-बढ़ते उसकी सीमा भी कभी-न-कभी आयेगी। वृक्ष ऊंचा जाता है, परन्तु कहीं तो बढ़ना रुक ही जाता है। 'वर्धमान' जब 'अवर्धमान' हो जाता है, तब वही 'अद्वय' हो जाता है, 'अदिति' हो जाता है। भौतिकवाद जब रुक जाता है और जहां

रुक जाता है, तब और वहां अध्यात्मवाद शुरू हो जाता है। इसी को ऋग्वेद में 'अद्वय', 'अदिति' या 'सदावृध' से 'सदा+अवृध' कहा है।

जैसा हम पहले लिख आये हैं ज्ञान या तो 'वर्धमान' होगा या 'अवर्धमान' होगा। 'वर्धमान' ज्ञान भौतिक है, समय-समय पर मनुष्य की खोज के आधार पर बदलता रहता है, बढ़ता रहता है; 'अवर्धमान' ज्ञान आध्यात्मिक है, नित्य है, सनातन है, एक है, अद्वय है, अदिति है, बदलता नहीं, क्योंकि वेद का ज्ञान मनुष्य की खोज नहीं, ईश्वरीय देन है, इसलिये वेद में उसे 'अद्वय' तथा 'अदिति' कहा है। परन्तु ज्ञान का स्रोत मनुष्य तथा परमेश्वर दोनों हैं—इसलिये ज्ञान को वेद में 'सदावृधः' भी कहा है। 'सदावृध' के हमने दो अर्थ किये हैं। जब मनुष्य द्वारा खोज किये ज्ञान के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है तब इसका अर्थ सदा, सर्वदा उत्तरोत्तर बढ़ने वाला, बदलने वाला अर्थ होता है; जब इस शब्द का प्रयोग ईश्वरीय-ज्ञान के लिए होता है, तब इसका अर्थ **'सदा-अवृधः'**, सदा एक रहने वाला, कभी भी न बदलने वाला, 'अद्वय', 'अदिति' अर्थ होता है। जैसे 'विद्या' तथा 'अविद्या' वेद के विलक्षण शब्द हैं, वैसे 'सदावृधः' भी वेद का विलक्षण शब्द है, जो 'सदावृधः' के रूप में भौतिक-विज्ञान के लिए प्रयुक्त हुआ है, और 'सदा+अवृधः' के रूपमें ईश्वरीय-ज्ञान या वेद के लिये प्रयुक्त हुआ है।

मुण्डकोपनीषद् में इस बात की चर्चा करते हुए कहा है: **'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा च अपरा च'**। 'परा' क्या है? **'यया तदक्षरं अधिगम्यते सा परा'**—अर्थात् जिस विद्या से अक्षर-ब्रह्म का ज्ञान होता है वह 'परा-विद्या' है, अर्थात् 'आध्यात्मिक-विद्या'। इस कथन से स्पष्ट है कि जिस विद्या से क्षर-प्रकृति के विषयों का ज्ञान होता है वह 'अपरा-विद्या' है, अर्थात् 'भौतिक-विद्या'। यजुर्वेद के 19वें अध्याय के 77वें मंत्र में इसी भाव को 'सत्य' तथा 'अनृत'—इन शब्दों से व्यक्त किया गया है। वहां कहा है: **'दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धां अनृते अदधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः'**—संसार की सब वस्तुओं को देखकर प्रजापति ने उन्हें दो भागों में विभक्त कर दिया—'सत्य' तथा 'अनृत'। 'सत्य' में सबको स्वाभाविक रूप से श्रद्धा होती है; 'अनृत' में सबको स्वाभाविक रूप से अश्रद्धा होती है। उक्त

विवरण से स्पष्ट है कि वेद ने 'विद्या', 'सत्य' तथा 'परा' का एक ग्रुप बनाया है तथा 'अविद्या', 'अनृत' एवं 'अपरा' का दूसरा ग्रुप बनाया है। यजुर्वेद् में 'विद्या' तथा 'अविद्या'–इन दोनों की महिमा का बखान है–'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा'–'अविद्या' से मृत्यु को तरा जाता है। इससे स्पष्ट है कि वैदिक टर्मिनौलोजी में 'अविद्या' का अर्थ निरक्षरता या अज्ञान नहीं है। तो फिर वेद में 'अविद्या' का क्या अर्थ है? हमारी दृष्टि में वेद में 'अविद्या' का अर्थ भौतिकवाद या भौतिक-विज्ञान है। भौतिक-आविष्कारों से मनुष्य संसार की सब सुख-सुविधाओं को भोगता हुआ, यन्त्रों तथा औषधियों के आविष्कारों से दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन की प्राप्ति कर सकता है जिसे वेद ने **'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा'** कहा है। हमारा कथन है कि वेद में भौतिकवाद या वर्तमान-विज्ञान को वह उच्च-स्थान नहीं दिया गया जो अध्यात्मवाद को दिया गया है। भौतिक-ज्ञान दिनों दिन बदलता रहता है, 'वर्धमान' है, इसलिए वेद ने उसे 'अविद्या', 'असत्य' तथा 'अपरा' विद्या कहा है; आध्यात्मिक-ज्ञान सदा एक रहता है, 'अवर्धमान' है, इसलिये वेद ने उसे 'विद्या', 'सत्य' तथा 'परा' विद्या कहा है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वेदों में भौतिक-विज्ञान का सर्वथा अभाव है। वेदों में भौतिक तथा अध्यात्मिक दोनों विद्यायें हैं, परन्तु मुख्यता आध्यात्मिक विद्या को ही दी गई है क्योंकि वही सत्य है, सनातन है, सब देश-काल में एक ही बनी रहती है।

वेदों का मुख्य विषय अध्यात्मज्ञान

हमारा मुख्य कथन यह है कि वेदों का मुख्य-विषय अध्यात्मवाद है, भौतिकवाद या भौतिक विषयों का वेदों में गौण रूप से वर्णन पाया जाता है, इसीलिये वेदों में दो विद्याओं का उल्लेख पाया जाता है–'द्वे विद्ये वेदितव्ये'–दो विद्याओं को जानना चाहिये–'विद्या' तथा 'अविद्या'; 'सत्य' तथा 'अनृत'; 'परा' तथा 'अपरा'। जो-कुछ हम लिख रहे हैं यह बात ऋग्वेद (1.164.39) तथा अथर्ववेद (9.10.18) के निम्न मंत्र से और अधिक स्पष्ट हो जाती है:

> **ऋचः अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवाः अधिविश्वे निषेदुः। यः तत् न वेद किं ऋचा करिष्यति ये इत् तत् विदुः ते इमे समासते॥**

ऋचाओं का स्थान परम-अक्षर परमात्मा-देव में है, अर्थात् ऋचाओं में वर्णन पर-ब्रह्म परमात्म-वेद का है और उसी अध्यात्म का वर्णन अन्य देवताओं के रूप में किया गया है। जो इस रहस्य को नहीं जानता वह वेद की ऋचाओं से क्या पा सकेगा? जो यह जानता है कि वेद में अध्यात्म-विद्या है वह इस रहस्य को भी समझ जाता है कि वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है।

वेदों में भौतिक विज्ञान गौण

हम इसे स्वीकार करते हैं कि वेद में उदाहरण रूप में भौतिक विज्ञान का उल्लेख है। ऐसे स्थल हैं जिनसे सिद्ध होता है कि पृथिवी गोल है–**'इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः'**। इसी प्रकार **'आयं गौः प्रश्निरक्रमीत्'** (यजु० 3,6) से सिद्ध होता है 'कि पृथिवी सूर्य के गिर्द चक्कर काटती है तथा **'आ कृष्णो रजसा वर्तमानः'** (यजु० 33,43) से ज्ञात होता है कि लोक-लोकान्तर आकर्षण-शक्ति से परस्पर बंधे हैं, परन्तु इन मंत्रों का आध्यात्मिक अर्थ करना ही उचित है। इन मंत्रों का अर्थ यह है कि भक्त अपने जीवन में भगवान् की तरफ़ खिंचा-खिंचा, उससे आकर्षित होकर उसी के गिर्द ऐसे चक्कर काटता है जैसे पृथिवी सूर्य के गिर्द चक्कर काटती है। इसी भावना को मूल में रखते हुए हम वेद को ईश्वर-प्रदत्त मानते हैं।

हमने इस लेख-माला में कई बातों को जगह-जगह दोहराया है। इस दोहराने का कारण विषय को अधिकाधिक स्पष्ट करना है। इस लेख-माला के मुख्य मुद्दों को लिखकर मैं इसे समाप्त कर आगे चलता हूं। इस लेख-माला में मैंने जो विचार रखा है उसमें कुछ नवीनता है इसलिये इतने विस्तार से लिखना पड़ा। निम्न पॉयन्ट्स दोहरा रहा हूं:

(क) इस लेख-माला में हमने जो दिशा अपनायी है उससे स्पष्ट है कि वेद सब सत्य-विद्याओं की पुस्तक है जिसके निम्न कारण हैं:

(ख) वेद ने विद्या के दो भाग किये हैं–'परा-विद्या' तथा 'अपरा-विद्या'–**'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा च अपरा च'**। 'परा-विद्या' वह है जो सांसारिक-विद्या से, 'भौतिक-विज्ञान' से परे है; 'अपरा-विद्या' वह है जो इधर की, संसार की विद्या है--पदार्थ-विद्या या 'भौतिक-

विज्ञान'। इस प्रकार वेद ने 'अपरा' या सांसारिक-विद्या को भी विद्या का नाम दिया है।

(ग) 'परा' तथा 'अपरा' की तरह वेद में दो अन्य शब्द भी ध्यान देने योग्य हैं जिनका प्रकृत-विषय के साथ सम्बन्ध है वे शब्द हैं–'अविद्या' तथा 'विद्या'। वेद की शब्दावली में 'अविद्या' का अर्थ अज्ञानता या निरक्षरता नहीं है। यजुर्वेद में लिखा है–'**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतं अश्नुते**'–अविद्या से मृत्यु को तर कर विद्या से अमृत प्राप्त होता है। इस कथन से स्पष्ट है कि वेद की शब्दावली में 'अविद्या' का अर्थ भौतिकवाद या वर्त्तमान-विज्ञान है, और 'विद्या' का अर्थ अध्यात्मवाद है, क्योंकि वर्तमान-विज्ञान के भौतिक-साधनों से दीर्घ-जीवन प्राप्त होता है, औषधि आदि के द्वारा रोगों पर विजय प्राप्त किया जा सकता है, मृत्यु-रूप सागर को तरा जा सकता है, परन्तु अमरता तो अध्यात्मवाद से ही प्राप्त हो सकती है। इस कथन से स्पष्ट है कि वेद में 'परा'-विद्या से अध्यात्मवाद तथा 'अपरा'-विद्या से भौतिकवाद अभिप्रेत है।

(घ) जैसे वेद ने ज्ञान के 'परा'-विद्या तथा 'अपरा'-विद्या–ये दो भाग किये हैं, वैसे ही यजुर्वेद ने इन्हीं भावों को प्रकट करने के लिये दो अन्य शब्दों का प्रयोग किया है–वे हैं: 'सत्य' तथा 'अनृत'। 'अनृत'–शब्द का अर्थ है–जो 'ऋत' न हो वह 'अनृत'। 'ऋत' का अर्थ है–'सत्य'। '**ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत**'–इस मंत्र में 'ऋत' और 'सत्य' का एकसाथ प्रयोग किया गया है। यजुर्वेद के एक मंत्र का हमने निर्देश पहले किया है, वह है– '**दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः**'। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'परा'–'विद्या'–'सत्य'–इन तीन एकार्थक शब्दों का एक 'ग्रुप' है; 'अपरा'–'अविद्या'–'अनृत'–इन तीन एकार्थक शब्दों का दूसरा 'ग्रुप' है। इसी तरह इस लेख-माला से स्पष्ट है कि 'परा'-'विद्या'-'सत्य'–ये एकार्थक-शब्द अध्यात्म-वाद का प्रतिनिधित्व

करते हैं; 'अपरा'-'अविद्या'-'अनृत'-ये तीनों एकार्थक-शब्द भौतिकवाद या भौतिक-विज्ञानों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अध्यात्मवाद नित्य है, सनातन है, सत्य है, अपरिवर्तनशील है, स्थिर है; भौतिकवाद जिसकी उपज भौतिक-विद्यायें हैं अनित्य है, बदलता रहता है, वेद की परिभाषा में अनृत है, अविद्या है, परिवर्तनशील है, अस्थिर है।

हमने वेद के आधार पर ज्ञान के दो ग्रुपों का उल्लेख किया है जिसमें एक-एक ग्रुप में तीन-तीन तत्त्वों का उल्लेख किया है। 'तीन' तत्त्वों का होना भी वेद द्वारा ही प्रतिपादित है। अथर्ववेद, 7.43.1 में एक मंत्र आता है-'तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन्'-इस वेदज्ञ के भीतर तीन रूप में वेद-वाणी निहित है। इसलिये वेद के प्रकरण में तीन के ग्रुप का उल्लेख करना भी वेदानुकूल है।

इसी विचारधारा के आधार पर हम कहते हैं : **"वेद सब सत्य-विद्याओं का पुस्तक है।"** भौतिक-विज्ञान बदल सकता है, अध्यात्म-विज्ञान बदल नहीं सकता क्योंकि वह 'सत्य' है।

वेदों में फिज़िक्स, कैमिस्ट्री तथा आज जिन्हें हम विज्ञान कहते हैं उन्हें ढूंढने की बात नई नहीं है। यह जिज्ञासा बहुत पुराने समय से चली आ रही है। छान्दोग्य उपनिषद् (7-1) में लिखा है कि एक बार नारद मुनि ऋषि सनत्कुमार के पास पहुंचे और कहने लगे, भगवान्! मैंने यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण सब पढ़ डाले, परन्तु मैं 'मन्त्रविद्' ही रहा, 'आत्मविद्' नहीं हुआ, इसलिये मैं शोक-सागर में डूबा जा रहा हूं, मुझे पार लगाइये। नारद शोक-सागर में क्यों डूब रहे थे? वे शोक-सागर में इसलिए डूब रहे थे क्योंकि वे वेदों में विज्ञान की खोज कर रहे थे, आत्म-ज्ञान की खोज नहीं कर रहे थे, इसलिए वे मन्त्रविद् तो हो गये, अत्मविद् नहीं हुए। लोग वेद में मन्तर-जन्तर ढूंढते हैं, आत्म-विद्या नहीं ढूंढते। वेदों में मन्तर-जन्तर नहीं हैं, आत्म-विद्या है, परन्तु क्योंकि नारद वेदों में मन्तर-जन्तर की तलाश में थे, वह उन्हें वेदों में मिला नहीं, इसलिए वे मन्त्रविद् ही रहे, आत्मविद् न हो सके। मानव के लिए यह स्वाभाविक बात है-वह टोटके ढूंढता है और समझता है कि इन टोटकों से उसे शान्ति प्राप्त होगी। मंत्र को लौकिक भाषा में 'मन्तर' कहते हैं। 'मन्तर'-अर्थात् टोटका।

मैं एक बार हवाई जहाज़ में हालैंड जा रहा था। प्लेन में एक डच कपल भी था। उनके साथ भारतीय-संस्कृति पर बात होने लगी। इस कपल की देवी पढ़ी-लिखी थी। बोली–आज की सिविलिज़ेशन; सिविलिज़ेशन नहीं, सिफ़िलिज़ेशन है। फिर बोलीं–जिसे हम विकास कहते हैं वह डिवेलपमेंट नहीं डेवलमेंट है। पाश्चात्य व्यक्तियों में अपनी संस्कृति के प्रति इतना रोश देखकर मुझे आश्चर्य हुआ। इससे अधिक आश्चर्य मुझे तब हुआ जब एक बार मैं हवाई जहाज़ से ईजिप्ट जा रहा था। मेरे साथ एक अंग्रेज़ बैठे थे जिन्होंने भारतीय संन्यासियों का वेश धारण किया हुआ था। मैंने उनके संन्यासी बनने का कारण पूछा तो वे बोले–मैं एक अमरीकन साइन्टिस्ट हूं। हमने स्वामी विवेकानन्द को पढ़ा, स्वामी रामतीर्थ को पढ़ा, हमने भारत के स्वामी दयानन्द के विषय में भी सुना था कि उन्होंने घर-बार छोड़कर संन्यास ले लिया था। हम चांद तक पहुंच चुके हैं। हमें मालूम है कि वहां रोड़े, पत्थर के सिवा कुछ नहीं, फिर भी हमारे वैज्ञानिक इधर-से-उधर भागे फिरते हैं। हम संन्यासी बन कर जानना चाहते हैं कि यद्यपि दुनियादारी में हमारे हाथ तो कुछ नहीं लगा, आप लोग जो संसार से उपराम होकर आध्यात्मिकता की खोज करते फिरते हैं, आपके हाथ क्या लगता है। यही जानने के लिये हम भगवा पहने फिरते हैं और संन्यासी बने हुए हैं।

प्रश्न यह है कि हम वेदों में विज्ञान की खोज करके क्या पायेंगे, हमारे हाथ क्या लगेगा? वेदों में विज्ञान को ढूंढता-ढूंढता नारद हार गया, हम लोग भी वेदों में विज्ञान ढूंढने के लिये परेशान रहते हैं, परन्तु वेदों में भौतिकवादी विज्ञान को पाकर हम क्या करेंगे? वेदों में तो आत्म-ज्ञान है जिसे पाकर साधक अमर हो जाता है, परम शान्ति प्राप्त करता है।

अगर वेदों में आज का-सा विज्ञान नहीं है तो हमारा क्या बिगड़ता है, इस संहारकारी विज्ञान को तो यूरोप वाले भी छोड़ते चले जा रहे हैं, हमारी खोज आत्म-ज्ञान की है जिससे मानव को शान्ति मिल सकती है। नारद भी सनत्कुमार ऋषि के चरणों में बैठकर इसी भाषा में बोल रहा था। इसीलिए मैं कहता हूं कि वेद मुख्य रूप में आध्यात्मिक-ग्रन्थ हैं, भौतिक बातों का जहां-तहां वर्णन उनमें जरूर पाया जाता है, परन्तु वह कभी-कभी आध्यात्मिक को समझने-समझाने के लिये या उदाहरण या रूपक के लिये

किया गया है। इसीलिये महर्षि दयानन्द ने वेद मंत्रों के अर्थों की मुख्य रूप में आत्मा-परमात्मा परक व्याख्या की है। ऋषि दयानन्द ने जहाँ-कहीं मंत्रों की व्याख्या करते हुए ईश्वर तथा जीवात्मा की जगह राजा तथा प्रजा एवं गुरु तथा शिष्य या अध्यापक तथा अध्येता या उपदेष्टा तथा उपदेश के रूप में व्याख्या की है वहां व्याख्या का आधारभूत विचार सर्वत्र एक ही रहा है और वह है अध्यात्मपरक व्याख्या। अध्यात्म-शास्त्र ही नित्य है, सनातन है, भौतिक-विज्ञान तो खोजने की वस्तु है, वह मनुष्य स्वयं खोज सकता है; आध्यात्मिक-ज्ञान खोजने की नहीं, देने तथा पाने की वस्तु है, वह भगवान् मानव को देता है। इसीलिए कहा गया है कि वेद सब सत्य-विद्याओं की पुस्तक है क्योंकि भौतिक ज्ञान परिवर्तनशील होने के कारण वेद की परिभाषा में सत्य-ज्ञान की कोटि में नहीं आता।

तो क्या वेद में विज्ञान नहीं है? हमारा उत्तर है-वेद में विज्ञान है, और अवश्य है, परन्तु ऐसा विज्ञान जो नित्य है, अखंड है, अद्वय, जो 'सदा+अवृध' है, जो नित-नित बदलता नहीं है। जो विज्ञान बदलता रहता है, वह वेद की परिभाषा में 'अविद्या' है "सदावृध"-"सदा-वर्धमान" है। "सदावृध"-सदा वर्धमान-ज्ञान मनुष्य के हाथ में है; "सदा+अवृध"-सदा एक रहने वाला ज्ञान-भगवान् द्वारा वेद के रूप में मानव को दिया जाता है।

जो ज्ञान सदा गवेषणा का विषय रहता है, आज यह और कल वह, जिसे आज की परिभाषा में हम 'विज्ञान' कहते हैं-रेल, तार टेलीवीजन, टेलीफ़ोन, हवाई जहाज़, दवा-दारू आदि-यह काम उपवेदों का है, वेदों में अगर कहीं इनका ज़िक्र आया है तो आध्यात्मिक विषय को समझाने के लिये उदाहरण या रूपक के तौर पर इनका उपयोग हुआ है, परन्तु वेद का मुख्य विषय अमर, सत्य-ज्ञान का प्रकाश करना है।

जब हम कहते हैं कि वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है, तब हमारा अभिप्राय क्या होता है? इससे क्या हमारा यह अभिप्राय होता है कि वेद में फिज़िक्स, कैमेस्ट्री आदि सब-कुछ है, क्या रेल, हवाई जहाज़, तार, टेलिफ़ोन, टेलीवीजन आदि बनाना सब सत्य विद्यायें वेद में हैं। इस प्रश्न पर विचार करते हुए हमें दो-तीन बातों पर विचार करना होगा। हमें इस बात का उत्तर देना होगा कि अगर वेद में फिज़िक्स, कैमेस्ट्री, रेल, तार, हवाई

जहाज़ आदि सब-कुछ है, तो भगवान् ने मनुष्य को अपने मस्तिष्क से सोचने-समझने, खोजने के लिए क्या कुछ-भी नहीं छोड़ा; हमें इस बात का भी उत्तर देना होगा कि सब भौतिक-आविष्कार उन लोगों ने कैसे किये जो वेद का एक अक्षर भी नहीं जानते थे। इन सब आपत्तियों का हमारे पास क्या उत्तर है? वास्तविक स्थिति यह है कि वेदों में भौतिक-विद्याओं का बीज तो है परन्तु उसे पुष्पित तथा फलित या क्रियात्मक रूप देने के लिए उपवेदों की रचना की गई है। उपवेदों का निर्माण इसीलिए हुआ ताकि वेदों में जिन भौतिक-विद्याओं का बीज था, परन्तु उसकी प्रधानता न थी, उपवेदों द्वारा उनका विशदीकरण किया जाये।

हमारा कथन यह नहीं है कि वेद में वैज्ञानिक बातें नहीं हैं। हमारा कथन सिर्फ़ इतना है कि वेद में जो वैज्ञानिक बात कही गई है वह उदाहरण या उपमा या रूपक के रूप में कही गई है। उदाहरणार्थ, यजुर्वेद के 23वें अध्याय में यज्ञ का वर्णन करते हुए कहा है–'**पृच्छामि त्वा परमन्तः पृथिव्याः**'–मैं पूछता हूं कि पृथ्वी का परम छोर क्या है? इसका उत्तर देते हुए कहा गया है–'**इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः**'–यह वेदी जहां हम यज्ञ कर रहे हैं पृथ्वी का परला सिरा है। इसका अर्थ हुआ कि पृथ्वी गोल है जिसे सिद्ध करने के लिए गैललियो को जेल जाना पड़ा था। प्रत्येक गोल वस्तु का आदि तथा अन्त एक ही स्थल होता है, परन्तु यह कथन यज्ञ के विषय में उदाहरण या उपमा के रूप में कहा गया है। हमारा कथन है कि वैज्ञानिक या भौतिक तथ्यों को परमात्मा की तरफ़ से बतलाने की जरूरत ही नहीं, उनका आविष्कार करने के लिए भगवान् ने मनुष्य को बुद्धि दी है। ईश्वरीय-ज्ञान आध्यात्मिक-तथ्यों को वेद द्वारा दिया गया है। अध्यात्म-विद्या ही सत्य विद्या है, वही अद्वय है, वही अदिति है, वही अवर्धमान है, वही विद्या है, भौतिक-विद्या को वेद ने "सदावृध"–सदा बढ़ने वाली विद्या कहते हुए भी "अविद्या" कहा है। भौतिक-विद्या को अविद्या कहते हुए भी जीवन के लिए उपयोगी होने के कारण उसे भी वेद ने सम्मान का स्थान देते हुए कहा है–'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा'–अविद्या से मृत्यु को तो तरा ही जा सकता है, परन्तु अमरत्व तो अध्यात्म से ही प्राप्त होता है।

हमने इस लेख-माला में कई बातों को जगह-जगह दोहराया

है। इसे दोहराने का कारण विषय को अधिकाधिक स्पष्ट करना है। इस लेख-माला से किसी को भ्रांति न हो इसलिए इस लेख-माला के मुख्य-मुद्दों को लिखकर मैं इस लेख को समाप्त कर रहा हूं।

(क) इस लेख-माला में जो दिशा हमने अपनाई है उससे स्पष्ट है कि वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है।

(ख) इस लेख-माला से स्पष्ट है कि वेद ने ज्ञान के दो भेद किये हैं-'विद्या' तथा 'अविद्या'।

(ग) इस लेख--माला से स्पष्ट है कि वेद ने ज्ञान को "अद्वय" (नित्य, सनातन) तथा वर्धमान (अनित्य, परिवर्तनशील) इन दो भागों में भी बांटा है। 'वर्धमान' की परिणति 'अवर्धमान' में होती है। जब वर्धमान अवर्धमान हो जाता है तब भौतिक अभौतिक या अध्यात्म में प्रविष्ट हो जाता है।

(घ) इस लेख-माला में हमने 'भौतिक-विज्ञान' को 'मानुषीय' एवं वर्धमान माना है जो परिवर्तित होता रहता है और अनित्य कहा जा सकता है; 'दैवीय-ज्ञान' को "ईश्वर प्रदत्त'' एवं अद्वय' माना है वो सदा एक है, नित्य है, सनातन है, जिसमें परिवर्तन न होता है, न हो सकता है। वेद के सब सत्यविद्याओं की पुस्तक होने के सिद्धान्त को समझने के लिए हमने वेद को इसी स्थिति की माना है और इसी को इन लेखों को स्पष्ट किया है।

(ङ) वेद का कहना है कि यद्यपि "विद्या" तथा "अविद्या" दोनों जीवन के लिए उपयोगी हैं तो भी "अविद्या" से सिर्फ़ मृत्यु को तरा जा सकता है, "विद्या" से अमरत्व की प्राप्ति होती है। 'विद्यांचाविद्यां च यस्तद् वेद उभयं सह'-विद्या तथा अविद्या दोनों का ज्ञान होना चाहिये, लौकिक तथा पारलौकिक जीवन के लिए दोनों उपयोगी हैं।

(च) 'अविद्या' से मृत्यु को तरा जा सकता है-इसका अभिप्राय हमने यह लिया है कि भौतिक-विज्ञान या भौतिकवाद से मनुष्य को भौतिक लाभ तो हो सकता

है, आध्यात्मिक लाभ नहीं। मानवीय-ज्ञान को वेद ने 'अविद्या' का नाम इसीलिये दिया है। वेद की अपनी 'टर्मिनोलोजी' है।

(छ) 'विद्या' से अमरत्व प्राप्त होता है–इसका अर्थ हमने आध्यात्मिकज्ञान लिया है। आध्यात्मिकज्ञान–अर्थात्, अध्यात्मवाद से अमरत्व प्राप्त होता है।

(ज) वेद मुख्य रूप में आध्यात्मिक-ग्रन्थ हैं, भौतिक बातों का जहां-तहां वर्णन उनमें जरूर पाया जाता है परन्तु वह कभी-कभी आध्यात्मिक को समझने- समझाने के लिए या उदाहरण अथवा रूपक के तौर पर किया गया है। इसीलिए ऋषि दयानन्द ने वेद मंत्रों की मुख्य रूप में आत्मा-परमात्मा परक व्याख्या की है। आध्यात्म-शास्त्र ही नित्य है, सनातन है, भौतिक-विज्ञान खोजने की वस्तु है, वह मनुष्य स्वयं खोज सकता है; आध्यात्मिक-ज्ञान देने तथा पाने की वस्तु है, वह भगवान् मानव को देता है। इसीलिए कहा गया है कि वेद सब सत्य-विद्याओं की पुस्तक है।

(झ) तो क्या वेद में विज्ञान नहीं है? हमारा उत्तर है–वेद में विज्ञान है, और अवश्य है, परन्तु ऐसा विज्ञान जो नित्य है, अखंड है, अद्वय है, जो सदा–अवृध है, जो नित-नित बदलता नहीं है। जो विज्ञान बदलता रहता है, वह वेद की परिभाषा में "अविद्या" है, "सदावृध"– "सदा-वर्धमान" है, आज कुछ कल कुछ है।' 'सदावृध'–सदा वर्धमान-ज्ञान मनुष्य के हाथ में है; 'सदा+अवृध'–सदा एक रहने वाला ज्ञान–भगवान् 'वेद' द्वारा मानव को देता है। तभी कहा गया है कि वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है।

एक वैदिक विद्वान् मेरा "वेद सत्य विद्याओं की पुस्तक है"–यह लेख पढ़कर मेरे घर आये और बोले : आपका लेख तो बड़े मार्के का है। वेद के सम्बन्ध में इस विषयक मेरी जो शंकायें थीं वे एकदम रफूचक्कर हो गईं, परन्तु उन समस्याओं ने एक नई समस्या मेरे सामने खड़ी कर दी। मैंने पूछा : 'वह क्या समस्या थी'? वे बोले–आपने अपने विचार की सारी पृष्ट-भूमि 'अदिति'

और 'सदावृध'–इन दो शब्दों पर खड़ी की है, परन्तु वेद में यह कहीं नहीं लिखा कि इन शब्दों का वेदार्थ-ज्ञान के साथ कोई सम्बन्ध है। 'अदिति' तथा 'सदावृध' शब्दों को बीच में लाने के स्थान में यदि आप लिखते कि ज्ञान दो तरह का होता है, 'मानुषी-ज्ञान' जिसे हम लोग विज्ञान कहते हैं, जो बदलता रहता है और 'ईश्वरीय-ज्ञान' जो बदलता नहीं है, सदा एक रहता है, सदा सत्य है, तब भी आपका काम चल जाता। मैंने उनकी बात सुनकर यजुर्वेद के 4थे अध्याय का 19वां मंत्र उनके सामने रख दिया। यह मंत्र कहता है कि **'चिदसि, धीरसि, दक्षिणासि, यज्ञिया, अदितिरसि उभयतः शीर्ष्णी'**–इस मंत्र का देवता वाक् है। इसका अर्थ यह हुआ कि अदिति जिसका इस मंत्र में देवता वाक् है, दूसरे शब्दों में 'ज्ञान' है–वह 'उभयतः शीर्ष्णी' है, जिसके दोनों तरफ़ सिर हैं, 'सिर' से अभिप्राय 'ज्ञान' ही हो सकता है।

अदिति के वे दो सिर कौन-से हैं? इस पर विचार करते-करते मेरे मन ने कहा कि ज्ञान के दो सिर आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक ही हो सकते हैं। फिर मेरे मन ने पूछा–आधिभौतिक-ज्ञान के इन दो पक्षों का पारस्परिक-सम्बन्ध क्या होगा? तब मेरे सामने यजुर्वेद का वह मंत्र प्रकट हुआ जिसमें विद्या के दो रूप बताये गये हैं–'विद्या' तथा 'अविद्या'। वेद में कहा है कि अविद्या से मृत्यु से लड़ा जा सकता है–'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा'; अमरत्व तो विद्या से ही प्राप्त होता है। अविद्या से तो मृत्यु से ही लड़ा जा सकता है, यह सोचते-सोचते मेरे मन ने अदिति के दो सिर होने तथा उस मंत्र के देवता का वाक्-शक्ति के होने की बात सामने आयी। मुझे सूझा कि अदिति के दो सिर होने का अर्थ सिवाय इसके कि ज्ञान दो तरह का होता है–'मानुषी-ज्ञान' और 'ईश्वरीय-ज्ञान'–और कोई अर्थ हो ही नहीं सकता। इस सिलसिले में जब मैंने अदिति-सम्बन्धी मंत्र देखा तब वहां 'अद्वय' और 'सदावृध'–इन दो शब्दों से भी परिचय हुआ। ऐसी हालत में मेरे सम्पूर्ण विचार का केन्द्र 'अदिति' तथा उसी मंत्र में निष्ट 'सदावृध'–ये दो शब्द बन गये, जिनके आधार पर मैंने निश्चय किया कि वेद ने ज्ञान को तीन भागों में बाँटा है–पहला 'साधारण-ज्ञान' जो घटता-बढ़ता रहता है जिसे हम विज्ञान या सायंन्स कहते हैं, जिसे मनुष्य खोजता है, जो भौतिक है, जिसके

लिए उपवेदों की रचना की गई है। दूसरा 'ईश्वरीय-ज्ञान' है, जो नित्य है, सनातन है, जिसे मनुष्य नहीं खोज सकता, जो भगवान् द्वारा ही दिया जाता है, जिसे हम 'वेद' कहते हैं। तीसरा वह ज्ञान है जो 'सदा+वृध' से शुरू होकर 'सदा+अवृध' हो जाता है, जिसकी तरफ़ भौतिक-ज्ञान बढ़ता-बढ़ता भौतिक से अभौतिक हो जाता है, द्वय से अद्वय, वर्धमान से अवर्धमान, अनित्य से नित्य हो जाता है।

वेद ने अदिति के लिए '**अदितिरसि उभयतः शीर्ष्णी**' कहा है। हमने इसका अर्थ अदिति के दो सिर किया है। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। 'दो' और 'उभय' में बारीक-सा भेद है। 'एक' विचार का अर्थ है सिर्फ़ एक, उसमें विकल्प नहीं, दो नहीं; अगर 'उभय' विचार कहा जाय तो इसका यह अर्थ हो सकता है कि विचार भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु भिन्न होते हुए भी वे एक-से हैं। यही भेद '**अदितिः उभयतः शीर्ष्णी**' में है। मैं अदिति को दो दृष्टियों से देख रहा हूं। अदिति का एक रूप तो वह है, जिसे मैं "आध्यात्मिक" कहता हूं। अदिति के पहले रूप में मनुष्यकृत-विज्ञान आते हैं, इसके दूसरे रूप में ईश्वरकृत-वेद आता है। अदिति उस रूप में नित्य है, सत्य है, अद्वय है, 'सदा+अवृध' है, पहले रूप में 'सदावृध' है, सदा बदलती रहती है।

मेरी यह व्याख्या सुनकर मित्र अत्यन्त प्रसन्न हुए और कहने लगे कि आपने यह लेख लिखकर हम लोगों की सब शंकाओं को दूर कर दिया और आर्यसमाज को वेद विषयक एक मौलिक विचार दिया है जिसके लिए मैं अपनी तथा आर्यसमाज संस्था की तरफ़ से आपका कोटिशः धन्यवाद करता हूं।

2. वैदिक-संस्कृति यथार्थवाद-परक है

1. संसार सत्य है या असत्य है—संसार क्या है? क्या यह सत्य है या असत्य है। कहने को यह मोटी-सी बात है कि संसार दीखता है। इसकी वस्तुओं को हम छू सकते हैं, पकड़ सकते हैं। यह पृथिवी, इसमें कलकल रव करती बहनेवाली नदियाँ, ऊँचे-ऊँचे आसमान को छूने वाले पहाड़, सूर्य, चन्द्र, तारे—ये सब सत्य नहीं तो क्या असत्य हैं? च्वांजे नामक एक चीनी विचारक हुआ है। वह कहता था कि जब मैं सो गया तो मुझे स्वप्न आया कि मैं

तितली हूँ, उड़ता-फिरता हूं। स्वप्न में मैंने अपने से पूछा—क्या मैं च्वांजे हूं या तितली हूं? स्वप्न में मैंने अपने से कहा-मैं च्वांजे कैसे हो सकता हूँ? मैं तो उड़ रहा हूँ, फूल-से-फूल पर बैठता हूं; मुझे भ्रम हो रहा है कि मैं च्वांजे हूँ; मैं तो तितली हूँ। स्वप्न में मैंने यह भी अपने से कहा कि कहीं ऐसा तो नहीं कि मैं सोते हुए भ्रमवश अपने को तितली समझ रहा हूँ? मैंने देखा कि नहीं, मैं सपना नहीं ले रहा, मैं सचमुच तितली ही हूं। सवेरे उठने पर मैंने देखा कि मैं तितली नहीं हूँ—मैं च्वांजे हूँ।

च्वांजे कहता है कि अब मेरे सामने प्रश्न यह है कि क्या मैं वास्तव में तितली हूँ और च्वांजे होने का स्वप्न ले रहा हूँ? या वास्तव में च्वांजे हूँ और तितली होने का स्वप्न लेता हूँ? इन दोनों बातों में सत्य क्या है?

2. वेदान्त संसार को असत्य मानता है—च्वांजे ने तो सिर्फ़ सन्देह व्यक्त किया कि क्या यह संसार सत्य है या असत्य है? जो दीखता है उसे सत् माना जाय या असत् माना जाय? परन्तु वेदान्त तो कहता है संसार असत् है, मिथ्या है; ब्रह्म की सत् है, संसार में सत् होने की भ्रान्ति हो रही है। रात को हम जा रहे हैं, रास्ते में रस्सी पड़ी है; उसे हम साँप समझकर भाग खड़े होते हैं। ठीक इसी तरह इस असत् संसार में इसके सत् होने की हमें भ्रान्ति हो रही है। वेदान्ती तो च्वांजे से एक कदम आगे निकल जाते हैं। वह तो संदेह की अवस्था तक पहुंचा था, वेदान्ती सन्देह से आगे निकलकर संसार के असत् होने की घोषणा कर देते हैं।

3. विष्णु तथा लक्ष्मी ने जानना चाहा कि क्या सत्य है—कहते हैं, विष्णु तथा लक्ष्मी जा रहे थे। दोनों इस बहस में पड़ गए कि संसार की माया सत्य है या भगवान् सत्य है। विष्णु जी कहने लगे—भगवान् सत्य है। लक्ष्मी कहने लगीं—संसार की माया सत्य है। दोनों ने तय किया कि संसार में जाकर ही इसकी परीक्षा की जाय कि दुनिया वाले माया को सत्य मानते हैं या भगवान् को। दोनों में बाज़ी लगी कि भू-लोक में चलें, वहाँ एक सेठ ने बड़ा आलीशान मन्दिर बनाया है, भगवान् का भक्त है, मन्दिर के साथ महात्माओं के ठहरने के लिए धर्मशाला बनी है, धर्मशाला में एक कमरा है जिसमें ठहरने की सब सुविधाएँ हैं, विष्णु जी वहाँ जाकर ठहरे। अगर लक्ष्मी जी उन्हें सेठ द्वारा उस कमरे से

निकलवा दें, तो समझा जाएगा कि माया सत्य है; अगर विष्णु जी को लक्ष्मी जी न निकलवा सकीं तो समझा जाएगा कि भगवान् सत्य है।

विष्णु जी अपना बोरिया-विस्तर लेकर सेठ जी के यहाँ जा पहुंचे। बोले, भगत! हम एक मास का भगवद्-भजन करने के लिए तुम्हारी धर्मशाला में निवास करना चाहते हैं। सेठ ने सबसे अच्छा कमरा उन्हें भगवद्-भजन के लिए दे दिया। रात को भोजन आया। विष्णु जी ने कमण्डल में पानी लिया, पत्तल पर खाना खाया और आनन्द से भजन करने लगे।

कुछ दिन बाद लक्ष्मी जी भगवा धारण किये वहां पहुंची और उन्होंने भी एक मास रहकर भगवान् का भजन करने की बात कही। सेठ ने कहा—जो कमरा चाहिए उसमें विराजिए। लक्ष्मी जी ने सेठ से उसी कमरे की माँग की जिसमें विष्णु जी ठहरे हुए थे। सेठ ने कहा—इसमें तो एक महात्मा पहले से ठहरे हुए हैं। लक्ष्मी जी ने कहा—कोई बात नहीं, उन्हें निकाल दो, हम तो उसी में आसन जमाएँगी, अगले दिन चली जाएँगी।

सेठ जी बोले—यह कैसे हो सकता है? भगवान् के ऐसे भगत के साथ हम ऐसा बर्ताव कैसे कर सकते हैं? लक्ष्मी जी ने कहा—कोई बात नहीं, हम रात बरामदे में काट लेंगी। बस, उन्होंने बरामदे में डेरा डाल दिया। रात को खाना आया। लक्ष्मी जी ने अपने थैले में से सोने की एक तश्तरी निकाली। उसमें खाना खाया और खाकर जैसे पत्तल फेंक देते हैं वैसे सोने की तश्तरी को फेंक दिया। सेठ देख रहा था। उसने कहा—यह क्या? आपने सोने की तश्तरी को फेंक दिया। लक्ष्मी जी सेठ से बोलीं—हम तो ऐसा ही करते हैं, रोज़ सोने की तश्तरी में खाना खाते हैं और खाना खाकर उसे फेंक देते हैं। अब हम अपनी यात्रा में आगे जाएँगी।

यह सुनते ही सेठ जी के पेट में खुदबुद होने लगी। बोले—देवी जी, आप यहीं रहिए, उसी कमरे में विराजिए जिसमें आप ठहरना चाहती थीं। मैं उस साधु को अभी निकलवा देता हूँ। सेठ जी ने अपने नौकरों को आज्ञा दी कि उस साधु को बाहर निकालो, वहाँ इन देवी जी का आसन जमेगा।

विष्णु जी को जब निकाला जा रहा था, तब लक्ष्मी जी ने

हँसकर कहा–क्यों, समझ पड़ गया? संसार में माया सत् है या भगवान् सत् है? तुम सत् हो या मैं सत् हूं?

4. वैदिक संस्कृति का कहना है कि संसार सत्य भी है, असत्य भी है: दो नाइटों का दृष्टान्त–एक ग्रीक कथानक है। दो नाइट दो दिशाओं से शस्त्रों से सुसज्जित चले आ रहे थे। दोनों के हाथ में भाले थे। चलते-चलते एक स्थान पर पहुँचे जहाँ एक ढाल एक खम्भे के साथ लटकी हुई थी। दोनों नाइटों में से एक ढाल के दायीं तरफ़ खड़ा था, दूसरा बायीं तरफ़ खड़ा था। नाइट लोग छोटी-छोटी बात पर लड़ा-मरा करते थे। दोनों में बहस छिड़ गई। एक कहने लगा, यह ढाल चाँदी की है, दूसरा कहने लगा सोने की है। दोनों ने भाले तान लिये, लड़ने को तैयार हो गए। इतने में वहां एक भला आदमी आया। उसने पूछा–लड़ाई किस बात पर है? वे बोले–यह कहता है कि यह ढाल सोने की है, मैं कहता हूं चाँदी की है। पहला जिधर खड़ा था उधर से बोला--देखो, है न चाँदी की? दूसरा जिधर खड़ा था उधर से बोला–देखो, है न सोने की? असल में, एक तरफ़ से वह चाँदी की थी, दूसरी तरफ़ से सोने की थी। इस तीसरे व्यक्ति ने दोनों को पकड़कर उनके स्थान बदल दिए। दायें खड़े को बायें और बायें खड़े को दायें खड़ा कर दिया। अब दोनों को समझ पड़ा कि ढाल एक तरफ़ से चाँदी की और दूसरी तरफ़ से सोने की थी–ढाल चांदी तथा सोना दोनों की थी।

5. संसार सत् भी है असत् भी है–अगर गहराई से देखा जाए, तो संसार सत् भी है, असत् भी है। संसार सत् है–यह तो मूढ़-से-मूढ़ व्यक्ति भी जानता है। यह दीखता है, इसमें हम सारे कारोबार कर सकते हैं; असत् होता तो क्या दीखता? परन्तु दो बाते हैं जिनसे मालूम होता है कि यह असत् भी है। वे दो बातें क्या हैं?

(क) **यह हाथ से निकल जाता है**–संसार की धन-सम्पत्ति को हम कितना ही पकड़कर क्यों न रखें, समय आता है जब सब हाथ से निकल जाता है। मृत्यु के समय मनुष्य एक सुई को भी साथ नहीं ले जा सकता। कहते हैं सिकन्दर जिसने दुनिया-भर को जीत लिया था, मरते हुए कह गया कि जब उसका जनाज़ा निकले तो उसके दोनों ख़ाली हाथ कफ़न के बाहर

दिखाए जाएँ जिससे हर-किसी को मालूम हो कि जिस दुनिया को सब-कुछ समझकर हम इसमें रमे रहते हैं, यहाँ से चलते समय सब-कुछ छोड़कर चल देते है। वह संसार जिसे हम सत् मानकर जीते हैं, सारा-का-सारा असत् हो जाता है।

(ख) **उपनिषद् तथा विज्ञान भी कहता है कि असली सत्ता इसकी नहीं, असली सत्ता उसकी है जो नहीं दीखता है**—हम समझते हैं कि असली सत्ता इस संसार की है जो दीखता है, जिसे हम छूते हैं, जिसमें व्यवहार करते हैं।

मेरे हाथ में एक नारंगी है, इसमें क्या है? इसमें नारंगी की फाँकें हैं फाँकों में क्या है? उनमें बीज हैं। बीजों को फोड़ें, इनमें क्या है? उनमें कुछ नहीं है—दीखता ही कुछ नहीं। असल में, उस 'कुछ-नहीं' में ही 'सब-कुछ' है। छन्दोग्य (6.12) में श्वेतकेतु के पिता उसे उपदेश देते हुए कहते हैं—वट-वृक्ष का फल लाओ। इसे तोड़ो। क्या दीखता है? श्वेतकेतु ने कहा—कुछ नहीं दीखता। पिता ने कहा—जिसे तुम कुछ नहीं कहते हो उसी में वट का महान् वृक्ष पड़ा है।

हम समझते हैं कि हमें जो दीखता है वही सब-कुछ है। उपनिषद् कहते हैं कि जो नहीं दीखता वही सब-कुछ है, जो दीखता है वह तो न दीखने वाला कलेवर है।

विज्ञान भी यही कहता है। विज्ञान कहता है कि सृष्टि के प्रारम्भ में 'नेब्युला' (Nebula) था। इसी को वेद में कहा है—'**हिरण्यगर्भः समवर्तत्ताग्रे**'—अग्रे, अर्थात् सृष्टि के निर्माण के समय हिरण्यगर्भ था, प्रकाशमय पुंज जिसे वैज्ञानिक 'नेब्युला' कहते हैं—वह था। नेब्युला तो भौतिक पदार्थ है। उसमें गति होने से ही तो सृष्टि का निर्माण हुआ। उसमें गति किसने दी? न्यूटन का सिद्धान्त यह है कि जो गतिहीन पदार्थ है उसमें भीतर से गति नहीं आ सकती; उसमें गति आएगी तो बाहर से आएगी। अगर मान लिया जाय

> कि किसी पदार्थ में गति हो रही है तो वह गति बनी रहेगी, रुक नहीं सकती, रुकेगी तो बाहर की किसी शक्ति या वस्तु के बीच में आ पड़ने से रुकेगी। मैटर एक ऐसी वस्तु है जिसमें गति आती भी है, जिसमें से गति चली भी जाती है। विज्ञान का ही प्रश्न है कि गतिहीन नेब्युला में शुरू-शुरू में गति कैसे आयी? नेब्युला के बने भौतिक पदार्थों में से गति कैसे चली भी जाती है?
>
> गति भी वही दे सकता है जिसमें स्वयं गति नहीं होती। कीली नहीं घूमती तभी चक्की चलती है; कीली ही घूमने लगे तो चक्की नहीं घूम सकती; रथ की धुरी नहीं घूमती तभी रथ घूमता है। संसार में भी गति इसीलिए है क्योंकि इसे गति देनेवाले में गति नहीं है। वह अचल है तभी इसे चला रहा है।

इसी कारण उपनिषदों का कहना है, और विज्ञान से यह बात पुष्ट होती है कि जो-कुछ दीखता है वह सत्य नहीं है; सत्य वह है जो नहीं दीखता।

6. जो नहीं दीखता वह 'निरपेक्ष सत्' (Absolute existence) है; जो दीखता है वह 'सापेक्ष सत्' (Relative existence) है—उपनिषदों का कहना है कि संसार में 'सत्ता' के दो रूप हैं—निरपेक्ष-रूप तथा सापेक्ष-रूप। निरपेक्ष-रूप तथा सापेक्ष-रूप का क्या अर्थ है?

उदाहरणार्थ, पानी को लें। पानी का उद्देश्य प्यास बुझाना है। यह पानी का सापेक्ष-रूप है—स्थूल रूप। परन्तु पानी ऑक्सीजन और हाईड्रोजन से बना है। यह पानी का निरपेक्ष-रूप है। पानी सत् है, परन्तु जब हम पानी को ऑक्सीजन तथा हाइड्रोजन के रूप में देखते हैं तब पानी असत् हो जाता है, ऑक्सीजन तथा हाइड्रोजन सत् हो जाते हैं। उसी रूप में वे प्यास को नहीं बुझाते। इसी प्रकार यह भौतिक संसार सत् है, परन्तु जब इस संसार की उस शक्ति से तुलना की जाती है, जो इसमें जीवन का संचार करती है, तब वह शक्ति सत् तथा यह संसार असत् हो जाता है। उस हालत में संसार असत् क्यों हो जाता है? इसे ठीक-से समझने के लिए यह समझना ज़रूरी है कि संसार सत् क्यों है?

संसार सत् इसलिए ही तो है क्योंकि हमें यह दीखता है। हमारे सामने दीवार है, यह हमें दीखती है, इसलिए यह सत् है। परन्तु अगर हम कॉस्मिक किरणों से देखें, तो दीवार नहीं दीखती, दीवार के पार की वस्तुएँ दीखने लगती हैं। हम इन्द्रियों से काम लेते हैं, इसलिए इन्द्रियों से जो ग्रहण किया जाता है उसे हम सत् कहते हैं; इन्द्रियों से जो नहीं ग्रहण किया जाता उसे हम असत् कहते हैं। सूर्य की किरणों के सात रंग हैं—लाल (Red) से शुरू होकर बैंजनी (Violet) तक सात रंग किरणों के माने जाते हैं। परन्तु ऐसा इसलिए है क्योंकि हमारी आँख की रचना इस तरह की है कि लाल रंग में प्रकाश की जितनी लहरें होती हैं उन्हीं को हम अपनी आँखों से पकड़ सकते हैं, उससे कम लहरों वाले रंगों को नहीं पकड़ सकते। हमारी ज्ञानेन्द्रियों की जो सीमा है उसी से हम बँधे हैं, उससे ऊपर या नीचे की लहरों को हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ नहीं पकड़ सकतीं। परन्तु क्या उनकी सत्ता नहीं है? अगर हम उन लहरों को पकड़ सकें तो उनकी अपेक्षा जिन रंगों को हम आज पकड़कर उन्हें सत् कहते हैं वे असत् हो जाएँ, जिन्हें नहीं पकड़ पा रहे वे सत् हो जाएँ।

7. सत्-असत् सापेक्ष शब्द हैं—हम दो गिलास पानी के भरकर रखें। एक में एक चम्मच मीठा डाल दें, दूसरे में चार चम्मच मीठा। पहले हम चार चम्मच मीठे वाले पानी का एक घूंट भरें, उसके बाद एक चम्मच मीठे पानी का घूंट भरें। यद्यपि एक चम्मच पानी के गिलास में भी मीठा है, परन्तु पीने वाले को यह फीका लगेगा। क्यों फीका लगेगा? क्योंकि चार चम्मच मीठेवाले पानी के गिलास से इसमें मीठा कम है। जैसे मीठा तथा फीका सापेक्ष शब्द हैं, वैसे ही सत्-असत् भी सापेक्ष शब्द हैं। दीये की भी रोशनी है, बिजली की भी रोशनी है। बिजली की रोशनी के सामने दीये की रोशनी अँधेरा लगने लगती है। क्यों? क्योंकि प्रकाश तथा अन्धकार, मीठा तथा फीका, सत् तथा असत्—ये शब्द एक-दूसरे की अपेक्षा से बने शब्द हैं। जब हम कहते हैं प्रकाश, तब अन्धकार स्वयं उसमें आ जाता है; जब हम कहते हैं मीठा, तब फीका स्वयं उसमें आ जाता है। इसी प्रकार जब हम कहते हैं 'सत्', तब 'असत्' स्वयं उसमें आ जाता है; सत् असत् से जुड़ा हुआ है।

8. आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक का यही सम्बन्ध है–आधिभौतिक क्या है? यह संसार, इनके विषय, यह मोटर, यह मकान, ये बैंक-बैलेन्स–ये सब आधिभौतिक हैं इनसे हमारा जीवन चलता है। आध्यात्मिक क्या है? शरीर को जीवित रखने वाली शक्ति। इसी प्रकार जड़ संसार को गति देने वाली शक्ति आध्यात्मिक है। आध्यात्मिक न हो, तो आधिभौतिक निकम्मा हो जाता है। तभी केन उपनिषद् में कहा है :

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुषी पश्यतः।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

जो आँख से नहीं देखता, जिसकी वजह से आँख देखती है, वही अध्यात्म है। कठ उपनिषद् में कहा है :

'परांचि खानि व्यतृणत् स्वयंभूः'–परमात्मा ने इस शरीर के पुतले में काट-काटकर पांच छेद बनाए हैं, खोद रखे हैं, जिनमें से ज्ञान भीतर जाता है। ये इन्द्रियाँ नहीं देखतीं; इन छेदों के भीतर बैठा जो झाँक रहा है वह देखता है। आँखें खुली हों, परन्तु देखने वाला कहीं और मग्न हो तो आँख खुले होने पर भी नहीं देखती, कान खुले होने पर भी नहीं सुनते। इस बात को ऋषियों ने उदाहरण देकर समझाया है :

(क) एक बार शुकदेव जी राजा जनक के पास अध्यात्म-विद्या सीखने आए। राजा जनक शुकदेव जी को यह शिक्षा देना चाहते थे कि शरीर अलग है, शरीर का मालिक आत्मा अलग है। उन्होंने शुकदेव जी के हाथ में तेल का भरा एक कटोरा देकर कहा कि बाज़ार में से गुज़र कर इस कटोरे को वापस ले आओ, रास्ते में एक बूंद भी न गिरे, तब अध्यात्म की शिक्षा दी जाएगी। राजा जनक ने शुकदेव जी के मार्ग में बैंड-बाजों, खेल-तमाशों का प्रबन्ध किया। शुकदेव जी कटोरे पर नज़र गाड़े धीरे-धीरे राजमहल तक पहुंच गए। राजा ने पूछा–रास्ते में क्या-क्या देखा? शुकदेव जी ने कहा–रास्ते में तो कुछ नही देखा, कुछ नहीं सुना। जनक बोले–रास्ते में तो खेल-तमाशा हो रहा था, बैंड बज रहे थे, क्या तुम आँख-कान बन्द करके चल रहे थे? शुकदेव जी ने उत्तर दिया–नहीं,

आँखें भी खुली थीं, कान भी खुले थे। राजा जनक बोले–वह जो आँखें खुली होने पर भी नहीं देखता, कान खुले होने पर भी नहीं सुनता, वही आत्मा है, उसी का ज्ञान आध्यात्मिक ज्ञान है। शरीर अलग है, शरीर में बैठा इसका अधिष्ठाता अलग है। अभी तक तुम्हें शरीर का ही ज्ञान था, अब तुम्हें आत्मा का भी ज्ञान हो गया।

(ख) आचार्य शिष्य को पढ़ा रहे थे, शिष्य बैठे पढ़ रहे थे। जब बहुत देर तक पढ़ाई हो गई तो आचार्य ने पूछा–'सुनाओ, क्या पढ़ा? शिष्य कुछ नहीं बता सके। एक को सम्बोधन करके आचार्य ने पूछा--क्या सुना नहीं था जो पढ़ाया गया था? बोला–**'अन्यत्र मनाअभूवम् नादर्शं नाश्रौषम्'**–मेरा ध्यान दूसरी तरफ़ चला गया था, देखते हुए भी नहीं देख सका, सुनते हुए भी नहीं सुन सका। वही जिसके होने से हम देखते हैं, जिसके होने से हम सुनते हैं–उसी का ज्ञान अध्यात्म-ज्ञान है।

(ग) **याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी का उपाख्यान**–आधिभौतिक का जीवन आध्यात्मिक पर टिका हुआ है। शरीर अपने-आप में जड़ है, यह संसार भी अपने आप में जड़ है। जड़ शरीर तथा जड़ प्रकृति में जीवन की धारा जिस स्रोत से बह रही है वह आध्यात्मिक सत्ता है। जड़ दृश्य है; जिस स्रोत से जड़ में चेतना आ जाती है वह अदृश्य है। संसार का नियम ही यह है–अदृश्य से दृश्य जीता है, अचल से चल, चल रहा है। साइकल, मोटर देखने को टायर के सहारे चलती हैं, परन्तु असल में टायर में भरी हवा के सहारे वे चलती हैं। तभी उपनिषदों में तत्त्वज्ञान का वर्णन करते हुए कहते हैं–**इत्यध्यात्मम्, अथ दैवतम्।** अध्यात्म का उपनिषद् में अर्थ है–शरीर; दैवतम् में दैवत का अर्थ है–शरीर में विद्यमान देव। असल में हमें ज्ञान करना है उस शक्ति का जो शरीर को चलाती है, संसार को चलाती है। सत्य तो यह शरीर तथा यह संसार भी है, परन्तु अंतिम सत्य वही अदृश्य तथा

अचल शक्ति है जो जड़ को प्राणवान् बनाती है। उसी को जानने के लिए एक बार याज्ञवल्क्य घर-बार छोड़कर जंगल को चल दिए थे।

बृहदारण्यक (4-5,6) में याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयी का संवाद है। कहते हैं कि याज्ञवल्क्य की स्त्री मैत्रेयी थी। दोनों ने बड़ी सफलता से गृहस्थ-धर्म का पालन कर लिया था। जब याज्ञवल्क्य वृद्ध हो चले, तब उन्होंने मैत्रेयी से कहा–अब हम घर-बार छोड़ देना चाहते हैं। दुनिया का सब-कुछ देख लिया। अब शेष जीवन भगवद्-भजन में व्यतीत करेंगे। जो-कुछ सांसारिक सम्पत्ति है वह तुम्हारे लिये छोड़े जाते हैं। मैत्रेयी ने कहा–आप क्यों सब कुछ छोड़ना चाहते हैं? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया–मुझे अमृत की तलाश है, उस अमृत की जिसके पाने के लिए हर मनुष्य संसार में जन्म लेता है। मैत्रेयी ने पूछा–तो क्या इस संसार की सम्पत्ति से उस अमृत की प्राप्ति नहीं होती? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया–नहीं होती। उपनिषद् कहती है कि तब मैत्रेयी बोली–**'यन्नु इयं पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेनाहं अमृता स्याम्'**–आप धन-सम्पत्ति मेरे लिए छोड़कर चले जा रहे हैं और कहते हैं कि आपको धन-सम्पत्ति से कुछ नहीं मिला, आप अमृत को ढूंढने जा रहे हैं। अगर सारी पृथिवी का धन-दौलत समेटकर आप मुझे दे डालें, तो भी मुझे वह अमृत क्या मिलेगा जिसे आप पाना चाहते हैं? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया–**'यथैव उपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवनं स्यात्'**–उस हालत में जैसे साधन-सम्पन्न व्यक्तियों का जीवन होता है वैसा तेरा जीवन रहेगा, परन्तु अमृत की प्राप्ति नहीं होगी–**'अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन'**–वित्त से, धन-दौलत से, सांसारिक वैभव से अमृत की, आत्मिक शान्ति की प्राप्ति नहीं होगी। मैत्रेयी को सब-कुछ मिल रहा था, सांसारिक सुख-भोग उसके पांवों में लोट रहा था, आजकल की कोई स्त्री होती तो 'थैंक यू, थैंक यू', कहकर याज्ञवल्क्य को विदा दे देती, परन्तु मैत्रेयी

बोली–'**येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्**'–जिस धन-दौलत से मुझे अमृत प्राप्त नहीं होगा, आत्मिक शान्ति नहीं मिलेगी, उसे लेकर मैं क्या करूंगी?

(घ) **नचिकेता ने भी यही कहा था**–कठोपनिषद् में नचिकेता का उपाख्यान है। नचिकेता को भी संसार की सब धन-दौलत देने का लोभ दिया गया था, परन्तु उसका भी यही प्रश्न था–क्या इससे मुझे आत्मिक शान्ति प्राप्त हो जाएगी? नचिकेता ने सांसारिक वैभव के लिये बड़े उत्तम शब्द का प्रयोग किया है। वह कहता है–यह सब '**श्वोभाव**' है। '**श्वः**'–अर्थात् कल तक टिकने वाला सांसारिक वैभव है, अन्त तक यह नहीं टिकता। नचिकेता को उसकी तलाश नहीं है जो कल तक ही रहे, परसों रफूचक्कर हो जाए।

(ङ) **नारद ने भी यही कहा था**–छान्दोग्य में नारद का उपाख्यान है। नारद भी सब-कुछ जानता था, परन्तु कहता था कि मैंने सब-कुछ जानकर भी कुछ नहीं जाना, क्योंकि मुझे आत्मज्ञान नहीं प्राप्त हुआ। उपनिषद् कहती है कि नारद ने गुरु के पास आकर कहा कि मेरे पास सब-कुछ है, परन्तु मेरी आत्मा अशान्त है–'**सः अहं भगवो शोचामि**'–वह कहने लगा कि मैं '**मन्त्रविद्**' हूं, '**आत्मविद्**' नहीं हुआ। संसार सुख देता है, परन्तु जिस अमर सुख को पाने की तलाश में हम फिरते हैं वह इससे नहीं मिलता।

(च) **औरंगज़ेब के दीवान वलीराम की कथा**–कहते हैं कि औरंगज़ेब के दीवान वलीराम थे। दरबार में बैठे थे, ततैये ने डंक मारे, परन्तु बादशाह के डर के कारण हिले-डुले नहीं, हाथ तक नहीं हिलाये। जब उठकर जाने लगे तब उन्होंने अनुभव किया कि यह डंक उनके शरीर पर नहीं, दिल में लगा है। बादशाह की नौकरी से जो रुपया-पैसा मिलता है उसके कारण यह दासता की वृत्ति मन में घर कर गई है। वे घर जाने के स्थान में जंगल को निकल गये। जंगल में आकर, टाँगे पसारकर, पेड़ का सहारा लेकर लेट गये। उनकी ढूंढ मचने लगी। औरंगज़ेब भी उनकी तलाश

में वहीं पहुंचे जहां वे मस्त पड़े थे। पूछा—दीवान साहब, टाँगे कब से पसारीं? बोले—जब से हाथ समेट लिये। दीवान दीवाना बन गये थे, उस भगवान् के साथ नाता जोड़ लिया था जो बादशाहों का बादशाह है। जब हाथ ही फैलाना है, तब उसके सामने हाथ क्यों न फैलायें जिसके सामने दुनिया के बादशाह भी हाथ फैलाये खड़े हैं?

(छ) **फ़कीर का दृष्टांत : नाता इसके साथ नहीं उसके साथ जोड़ो**—एक बादशाह की सवारी निकल रही थी। रास्ते में एक फ़कीर खड़ा था जिसे सब दुत्कारते थे। बादशाह ने खड़े होकर यूं ही पूछ लिया—कैसे मिज़ाज हैं? उसके बाद सब लोग उस फ़कीर की दोस्ती के लिए ललचाने लगे। वे समझने लगे कि उसका बादशाह के साथ दोस्ताना है। इसके साथ मिलने-जुलने से उसके पास पहुँचना हो सकता है। असली मिलना तो उससे है, इससे मिलना तो उससे मिलने की इच्छा से है। भगवान का जो हो जाता है उसे सब-कुछ मिल जाता है। सब-कुछ मिलने का अर्थ धन-दौलत, संसार का वैभव नहीं, सब-कुछ का मतलब वह शान्ति है जो सुखों का सुख है। उपनिषदों में उसे कहा हैं—'**भूमा वै सुखम्**'—ऐसा सुख जो समाप्त नहीं होता। उपनिषद् कहते हैं—'**नाल्पे सुखमस्ति**'—अल्प में सुख नहीं, भूमा में सुख है। वह सुख संसार के साथ नाता जोड़ने में नहीं, संसार से नाता तोड़ने और भगवान् के साथ नाता जोड़ने में है। जो बड़ों-के-बड़े के साथ नाता जोड़ लेता है, उसे ही बड़ा सुख मिलता है; वह छाती तानकर दुनिया में चलता है।

(ज) **एक भेड़ का दृष्टान्त**—एक भेड़ जंगल में गुम हो गई। उसे खाने के लिये कुत्ता, चीता, सब आ पहुंचे। उसने सोचा—मरना ही है तो शेर के हाथों क्यों न मरूँ? वह शेर की गुफ़ा के सामने बैठ गई। चीता उसे खाने आया। भेड़ ने कहा—बेशक खा जाओ, परन्तु देख लो कहां बैठी हूँ। शेर से दुश्मनी लेनी हो, तो

बेशक खा जाओ। चीता डर के मारे चला गया। उसे जाते देख और कोई पास न फटका। इतने में शेर निकला। भेड़ ने अपना सिर आगे कर दिया। शेर सोचने लगा, यह कैसी भेड़ है जो अपने-आप अपने को पेश कर रही है। भेड़ ने कहा—कुत्ते-गीध मुझे खायें, इससे तो आपके सामने अपने को पेश कर देना ठीक है। शेर ने कहा—अब तू शेर है, मैं भेड़ हूँ। दोनों साथ रहने लगे। उन्हें साथ फिरते देख सब कहने लगे, यह शेर की भेड़ है। फिर भेड़ इकली जंगलों में कूदती-फाँदती फिरने लगी। जो भगवान् का हो जाता है उसमें यही हिम्मत आ जाती है।

9. **नाल्पे सुखमस्ति भूमा वै सुखम् : वैदिक यथार्थवाद**—वैदिक यथार्थवाद यह है कि जो वस्तु जैसी है उसे वैसा समझकर देखें। संसार है—इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। बर्कले कहता था कि संसार मिथ्या है। उसके मित्र जॉनसन ने उसकी टांग पर एक लठिया मारी। बर्कले चिल्ला उठा। जॉनसन ने कहा—चिल्लाते क्यों हो, संसार मिथ्या है। संसार मिथ्या नहीं, बड़ा भारी सत्य है, परन्तु सत्य होता हुआ भी यह असत्य है, टिकता नहीं, हाथ में आता नहीं, हाथ से निकल जाता है। यही वैदिक संस्कृति या यथार्थवाद है। यह है भी, नहीं भी है, इन दोनों दृष्टियों को सामने रखकर ही संसार की गुत्थी सुलझती है। केवल एक दृष्टि को सामने रखेंगे तो पहेली, पहेली ही बनी रहेगी। इस बात को समझने के लिए कुछ दृष्टांतों से समझना होगा—

(क) **संसार का सुख अल्प है, हमें अनल्प की तलाश है**—भगवान् की सत्ता का अनुभव करने के लिए हर वस्तु में कोई-न-कोई कमी दिखलाई देती है। किसी के पास धन है, तो पुत्र नहीं। कुछ अर्सा हुआ, अखबारों में छपा था कि इंग्लैड के दो डॉक्टरों ने एक अद्‌भुत परीक्षण किया। इन डॉक्टरों के नाम हैं पैट्रिक स्टेप्टो (Patrick Steptoe) तथा रॉबर्ट एडवर्ड्स (Robert Edwards)। इन्होंने एक देवी के ओवम तथा उसके पति के स्पर्म को एक परीक्षण-नलिका में गर्भित करके उसके गर्भाशय में चस्पाँ कर दिया। यह देवी

किन्हीं कारणों से सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकती थी। इस प्रकार उसके गर्भ से जुलाई, 1978 में एक हृष्ट-पुष्ट बालिका ने जन्म लिया। यह देवी सन्तान के अभाव से अत्यन्त दुःखी रहती थी इसलिए सन्तान पाने के लिए इतनी झंझट में पड़ी। किसी के पुत्र है तो धन नहीं, किसी के न पुत्र है, न धन है। किसी के कुछ और कमी है। कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि संसार हमारी अनेक कमियों को पूरा करता है, परन्तु फिर भी कोई-न-कोई कमी रह ही जाती है जो हमें अशान्त बनाये रखती है। संसार का सब-कुछ पाने पर भी हमारी गाड़ी कहीं आकर रुक जाती है। हमारी इच्छा सब-कुछ पा लेने की है, हमें हर वस्तु से तृप्ति मिलती है, परन्तु कुछ देर बाद फिर अतृप्ति की भावना चित्त को कुरेदने लगती है।

एक बार एक जिज्ञासु किसी महात्मा के पास आया। उसने महात्मा से पूछा-कैसे मानूं कि परमात्मा है? महात्मा ने कहा, क्या तुम्हें कभी कोई संकट आया है? उसने कहा कि एक बार डूबने लगा था। महात्मा ने पूछा--उस समय तुम्हारे दिल में क्या विचार आया था? जिज्ञासु बोला--उस समय यह विचार आया था कि कोई शक्ति मुझे बचा ले। महात्मा ने कहा-बस, यही किसी शक्ति का विचार उसकी सत्ता का संकेत है। हमें अल्प का ज्ञान है, संकट का ज्ञान है। अल्प का अनल्प के बिना, संकट से बचने का संकट से बचाने वाले के बिना ज्ञान या भान नहीं हो सकता।

कौन है जो अल्प से-थोड़े से-सन्तुष्ट हो जाता है? मनुष्य का स्वभाव है, जितना उसे मिल जाता है उससे अधिक पाना चाहता है। जिसके पास लाख है वह दो लाख चाहता है। जिसके पास एक मकान है वह दो मकान चाहता है। जिसके पास एक मोटर है वह दो मोटरें चाहता है। 'और'-'और' की लालसा सदा बनी रहती है। अगर संसार के विषयों से तृप्ति होती तो वह कभी की हो गई होती। संसार में मनुष्य पैदा हुआ है, इसमें अल्पता इसीलिये रखी गई है ताकि यह नाकमी

को, 'भूमा' को जो दीखती नहीं, ढूंढे।

(ख) **संसार हमें क्या देता है : पागल गीदड़ी का दृष्टांत**–संसार में हम रमें रहते हैं, परन्तु समय आता है जब यह हमसे छूट जाता है। जितना हम इसमें धँसे रहते हैं उतनी ही अशान्ति हाथ आती है, परन्तु फिर भी यह हमसे छूटता नहीं। हम जो-कुछ करते हैं वही अपनी सन्तान को दे जाते हैं। वे भी इसमें हमारी तरह ही डुबकियाँ लगाते हैं और इसी परम्परा को आगे के लिए छोड़ जाते हैं।

एक पागल गीदड़ी थी। जंगल में एक भलामानस जा रहा था। वह उसके पीछे पड़ गई। वह भागने लगा। भागते-भागते एक पेड़ के चारों तरफ़ चक्कर काटने लगा। हिम्मत करके उसने पेड़ की आड़ में होकर उसका एक कान पकड़ लिया, और दूसरे हाथ से उसका दूसरा कान पकड़ लिया। छोड़े तो गीदड़ी काट खाये। कान पकड़ते समय उसके कुछ नोट गिर गये। देर तक वह गीदड़ी के कान पकड़े खड़ा रहा। इतने में एक आदमी पास से गुज़रा; उसने पूछा–क्या कर रहे हो? वह बोला–यह गीदड़ी नोट देती है, इसके कान पकड़े खड़ा हूं। वह बोला–तब तो बड़ा मज़ा है। कान पकड़ने वाला बोला–आओ, तुम भी मज़ा लूट लो। उसने गीदड़ी का एक कान पकड़वाया, खुद हटकर दूसरा कान भी उसके हाथ में दे दिया। अब अलग होकर कहने लगा–नोट-वोट कुछ नहीं देती, सिर्फ़ काटती है। तुम भी जो कोई मिले, उसे इसके कान पकड़वा देना और खुद अलग हो जाना। संसार का यही हाल है। हम संसार-रूपी गीदड़ी का कान पकड़े खड़े हैं, और लड़के की सगाई करके इसका एक कान उसे पकड़ा देते हैं, फिर उसकी शादी करके दूसरा कान पकड़ा देते हैं। इस प्रकार सिलसिला पुश्त-दर-पुश्त चलता है और हम इस कीचड़ में ही धँसे रहते हैं।

10. **भौतिक तथा अध्यात्म का सम्बन्ध बिम्ब-प्रतिबिम्ब का है**–भौतिक सुख अल्प है, स्वल्पकालिक है। इसका प्रवाह

अध्यात्म से होता है। इस मलिन गंगा का उद्गम-स्थल गंगोत्री है। शुरू-निर्मल जल वहीं मिलता है। भौतिक सुख में जो अल्पकालीन आनन्द दीखता है, उसका स्रोत यहाँ नहीं, वहाँ है।

हम विषयों में रमते रहे हैं इसलिये हमें इन्हीं की यथार्थ सत्ता दीखती है, फिर इनमें क्यों न उलझें? परन्तु नहीं, क्या जीवन में ऐसा समय नहीं आता जब हम बाहर जाने के बजाय, अन्दर झाँकें और कहें कि बाहर मैंने विषयों में आनन्द को खोजा परन्तु वह मिला और खो गया। मुझे ऐसा आनन्द चाहिये जो मिलने के बाद मिला ही रहे, हाथ से न जाय। उपनिषदों का कहना है कि आनन्द का स्रोत जो विषयों में बह रहा है वह उसी की झलक है। क्योंकि झलक है इसीलिये जब बाहर का विषय क्षीण हुआ तो वह झलक भी जाती रहती है। उसे वहाँ ढूंढो जहाँ उसकी झलक नहीं, वह स्वयं है।

एक तालाब के किनारे एक व्यक्ति बैठा था। उसे झील में सोने का हार दीख रहा था। वह बार-बार तालाब में डुबकी लगाता था, परन्तु जहाँ अन्दर गया वहाँ हार गायब हो जाता था। इतने में एक सयाना आया, उसने पूछा, क्या बार-बार मेहनत कर रहे हो? उसने कहा,-देखो, तालाब में हार दीख रहा है, मैं उसे लेने के लिए इसमें डुबकी लगा रहा हूं। अन्दर कूदता हूं तो ग़ायब हो जाता है। सयाने ने कहा-मूर्ख! ऊपर देख, पेड़ पर हार लटक रहा है, उसी का तालाब मं प्रतिबिम्ब है। तू इस तालाब में डुबकी लगाने के बजाय पेड़ पर चढ़, हार हाथ आ जाएगा।

संसार के तालाब में जो आनन्द का हार दीख रहा है उसे पाने के लिए हमने अनेक जन्मों में हज़ार बार डुबकियाँ लगाईं। कितने ही जन्म लिये, परन्तु इनमें हार हाथ नहीं आया। ऊपर देखो, भगवान् की तरफ़, जिसकी छाया संसार के सब पदार्थों में आनन्द के रूप में झलक रही है। वह मिलेगा तो संसार भी हाथ आ जाएगा, भगवान् भी हाथ आ जाएगा।

यही वैदिक संस्कृति का यथार्थवाद है-यह भी है, वह भी है। परन्तु उसके कारण ही यह है, इसके कारण वह नहीं है। दोनों को साथ लेकर चलोगे तो यह भी मिलेगा, वह भी मिलेगा; सिर्फ़ इस को साथ लेकर चलोगे तो न यह हाथ आयेगा, न वह हाथ आयेगा।

3. THE CONCEPT OF VEDIC REALISM OR PRAGMATISM—वैदिक यथार्थवाद

(I)

The prevailing concept about the world that we live in is: That it is REAL. It is REAL because we see it, touch it, feel it and enjoy it, How can we call an OBJECTIVE WORLD UNREAL, when we actually see objects. touch objects, feel objects and enjoy objects They could be called UNREAL if after seeing, touching and feeling them they could have disappeared and had vanished into nothingness.

But, there is another school of thought also which argues that the world is UNREAL. They argue that in darkness we see a rope, and mistake it for a snake. Not only mistake a rope for a snake. we are also afraid of it, and getting afraid we run away from it. Just as due to darkness the rope is mistaken for a snake, similarly due to ignorance *(Avidya)* we regard the UNREAL world as REAL. Shankaracharya and his followers are the foremost proponents of this school and a great philosophy has grown out of this idea.

Following in the footsteps of Shankaracharya, a Chinese Phiosopher named—Chawanze—has written that while he was asleep he felt that he was a butterfly, flying around from flower to flower. In dream. which he thought was a REALITY and not a dream., he also argued within himself that he was not a butterfly but was an official of the Government worknig in the office. But at the same time, he argued, in dream, how could he be an officer of the Government as he was flying with wings on, and was flying from flower to flower. Dream is such a REALITY. Now, when he is writing his book he questions: What is true? Is he actually a butterfly and is dreaming that he is an official of the Government working in the ofiice or actually he is an official in the office of the Government and dreaming that he is a butterfly.

The question is very pertinent. Chawanze—the Chinese Philosopher—says that he is in a dilemma. He cannot decide what the ACTUAL TRUTH is. Whether being a human being is a dream or being a butterfly is a DREAM. In both the cases whatever one sees, touches, and feels appears to be a REALITY.

So the question remains a perennial question : The world is REAL or UNREAL. Reality sometimes turns out into unreality and unreality at times turns out into reality. Let us see what is the truth.

The world is UNREAL. is proved by many factors. Nobody can deny the fact that ultimately we have to leave the world. It has been truely said: "Dust thou art unto dust returnest". So much so, most of us are consigned to the flames and some of us are buried in ground after death. We are lost to the world and the world is lost to us. Everything becomes UNREAL. Alaxender the Great is said to have willed that at the time of his death in his cremation procession, he should be carried with both his palms empty and arms outstretched, proclaiming to the world that all he amassed turned into nothing, and all became UNREALITY.This happens to one and all of us without exception. Buddha renounced the kingdom when he realized by experience that this world is UNREAL. Every moment, every event of the world proclaims, at its loudest voice, the UNREALITY of this material world. Shankaracharya—the richest non-material Sadhu—is the great proponent of the unreality of the material world. Though it is contradiction in life, still it is a contradiction which shows that the so-called unreality of the world of matter has got some reality behind it.

Seeing richness of the ascetic Shankaracharya the question arises: Is the material world really unreal and non-existent? If it is unreal and non-existent then why all this bother and why the people cling to it and those proclaiming renunciation cannot renounce it? Grasping the question of the non-reality of the world and accepting the world as false *(Mithya)*, the *Upanishad* asks:

कथं वै असतः सत् जायेत्–

How is it that existence has originated from non-existence? If the world is UNREAL, it is a matter of common sense that the thing which we call REAL, which we see, touch and feel may vanish or disappear. But how can things which we call material or REAL may have their origin from UNREALITY? Non-existence may follow from existence, but existence cannot follow from non-existence. That will be against the Law of Nature. Under the circumstances, we shall have to accept the existence of MATTER AND ITS REALITY.

There is a *Puranic* anecdote explaining the palpable reality of the world of matter, and material objects. It is said that once a flourishing merchant constructed a rest-house for the stay of pilgrims in a holy city. *Vishnu* and his spouse *Laxmi* happened to visit that place. At that time they were engaged in a discussion as to whether the world of matter is a REALITY or is a FALSITY—non-real. *Laxmi* said that the world is real as it worships money-power. *Vishnu* argued that the world is unreal as it also condemns money-power and derides the rich. Ultimately, they decided to put their respective theories to test by a practical manner. The shape of the practical test was that both of them, separately, on different occasions, should approach the merchant for two nights' stay in his rest-house, and whosoever of the two succeeds to persuade the merchant to evict the occupant of the rest-house, his or her theory would be correct. It was presumed that as the merchant is already very rich he will not succumb to money persuation. Now if *Laxmi* succeeded to oust *Vishnu* from his luxurious abode on the temptation of money, then it will be concluded that the world of matter is REAL; on the other hand, if *Vishnu* succeeded in persuading the merchant that as he had enough money, he should not succumb to money allurements if he is offered such, in that case *Vishnu's* theory of the unreality of the world of the matter will be established. First, Vishnu went to the merchant and requested for two nights' accommodation. He was given the best room and was served the best food. *Vishnu* took out his leaf-plate, ate food, had his fill and went to sleep. After two days *Laxmi* came to the same merchant and requested for a room to stay in his rest-house. She was shown all the rooms. but she preferred the one which *Vishnu* was occupying. She was told that an Hon'ble saint was staying in that room, and she could take some other room. But *Laxmi* insisted to have the same room occupied by the previous guest. She said, if she has to stay she will stay in that very room and in no other. On being refused in her request she said : Alright, I shall stay in the verandah outside: She spread her beddings there. Food was served to her. She took out a plate of gold from her bag, ate food and threw away the plate of gold. At this, the merchant was surprised and told her that she had thrown a precious article. *Laxmi* smiled and replied : She does so every day and always. What is gold? She had plenty of it. Whenever she takes food, she does it in a golden plate and after eating throws it away. Hearing about this richness of his guest, the merchant called his servants and ordered them to throw out the belongings of the previous guest and install the new pilgrim in his place.

When this programme was going on *Laxmi* smiled at *Vishnu* and asked : Tell me now if the world is REAL or UNREAL.

By relating this anecdote I do not want to convey that materialism is the last word in *Vedic* Philosophy. Moreover, the anecdote I have related is not a *Vedic* anecdote. It conveys an idea. The underlying idea is that one cannot ignore the fact that, howsoever we may talk about the falsity *(Mithya)* of the material world, the world is REAL also.

Then, wherein lies the TRUTH? According to *Vedic* philosophy, the truth lies in the middle. The truth is that the world is both real and unreal. It is this what I have termed VEDIC PRAGMATISM in the begining of this article. It is real in the sense that it does exist; we touch it, feel it and see it; it is unreal in the sense that it does not become part and parcel of our being. This idea has been explained in *Yajur Veda* when it says:

ईशा वास्यम् इदं सर्व यत् किंचत् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्यस्वित् धनम्॥

The *Mantra* says that the world is REAL, but real in the sense that you can make use of it as you use a means, an instrument. Enjoy it but not be enjoyed by it; after having got the best of it, throw it away as nothing in it permanently belongs to you—not even your body. In short, it means: Have it and don't have it; it may belong to you but you may not belong to it. The world is *Sat* and *Asat*—is the central idea of *Vedic* Thought and Culture.

The question is: How can world be both—*Sat* (Real) and *Asat* (Unreal)? The idea is beautifully exaplained by another anecdote :

During Middle Ages there was an Institution of Knights. Knights used to go on expedition to Jerusalem to take possession of it, and if need be to fight for it. On the way, they used to fight other Knights of another Order but with the same mission. The story goes that two Knights were coming from opposite directions. On the way they came across a shield which was of gold on the one side and of silver on the other side. Knights must have an excuse to enter into a fight. The one coming from the east said that the shield was made of gold; the other one coming from the west said that is was made of silver. On this issue they unshielded their sabres and started fighting. In the meantime happened to come a citizen and seeing both the knights fighting asked them the reason of the fight. When explained the reason he made both of them turn their sides, and the one who had said, it was of gold saw that it was of silver on the other side, and the same happened with the other knight. Thus they realized that the shield had TWO sides. It was of gold on one side and of silver on the other side.

The same principle holds good with the problem of Reality and Non-reality. Just like the shield mentioned above, the world is REAL as well as NON-REAL. Real in the sense that it is MATERIAL: Non-real in the sense that it is SPIRITUAL also.

But the question arises: If the world is both real and non-real, what it is in the beginning?—Real or Unreal? Raising this question the *Upanishad* says :

सदेव सौम्य इदं अग्रे आसीत्–

Oh, my dear, in the beginning only REALITY existed, Why? again. the *Upanishad* answers :

कथं वै असतः सत् जायेत्–

If non-existence was in the beginning and existence came later on, how could existence originate from non-existence, for nothing can originate from non-existence. Non-existence is non-existence. It does not exist at all. Only existence has the potentiality of creating something; so existence—*Sat Ave*—alone existed in the beginning of creation.

Again the question arises: What is the nature of *Sat*—or of EXISTENCE? If the existence is limited, does it have a form. If limited, then with what is it limited? The question will go on and on and will never end. Hence, we have to admit that the original existence is unlimited. Similarly, if the existence has a form, who gave it form. The question will still persist who gives the form to the form-giver. Thus, the question will also go on and on and will never end. In logic this argumentation is called *'ad infinitum' or 'Anvasthe dosh'*. To get out of this complex position we have to accept the position that the nature of existence is limitless and formless. This has been described in *Upanishads* as :

सः पर्यगात् शुक्रं अकायं अव्रणं अस्नाविरं शुद्धं
अपापविद्धं कविः मनीषी परिभूः स्वयं भूः........

In this description the word *'Swayambhu'* is most important. It means that the original existence is—*Swayambhu*—It is self-existence, it is uncaused cause. Exists of itself. If this also had a cause, then we land ourselves in *'ad infinitum'*. We have to halt ourselves at a point where existence becomes self-existent. Thus, the *Veda,* the *Upanishads,* the *Darshans* call *BRAHMA*. What is *Brahma*? *Brahma* is an entity which is a cause of the universe but which to Himself has no cause; He is *Swayambhu*—Existing by it-self—It has no cause; because it is by ITSELF CAUSE OF EVERYTHING.

In this discourse we have seen that the *Vedic* Philosophy accepting matter as a reality is still not matter-dominated, but is God-dominated as it regards the world and material objects ultimately to end in nothing. So, the final question crops up—How to live and how to act? Shall we live as *Sanyasins* having no interest in the objects of the world as *Buddha, Mahavir* and other Saints did. Shall we have no interest in the world as the world, in the end, is going to be NOTHING for us. To this the *Gita* replies :

कार्यते ह्यवशः कर्म स्वभावप्रकृतिजैः गुणैः—

Your nature will irresistably make you do to Act.

Howsoever you may wish to renounce the world and its objects, you cannot but Act and Act to surround yourself with the perishable objects of the world. Man is so made from his very nature. How many there are who knowing the ephemeral nature of the world give it up. When we go the the cremation ground, the reality of nothingness of the world dawns upon us, but the very next moment we act as if the world is eternal. This is NATURE.

Is the world a reality or non-reality is an eternal question. Johnson and Hegel were close friends and used to go on walks in the morning together. During discussion Hegel said that the world of matter is an unreality or false. Johnson said that the world of matter was a patent reality. When the discussion got hot-up, Johnson demonstrating his point hit Hegel on the head with his stick. Hegel jumped off and was angry with his friend. Johnson retorted : Why be angry—the stick is a non-reality. You are a non-reality and the hurt is a non-reality. Why do not regard non-reality as a reality.

But *vedic* philosophers have designed a way of life which they called—*Nishkam Karma* : Live in the world, enjoy everything of the world; but enjoying live as if you don't enjoy, live in it as if you don't live in it—*Tyakten Bhunjitha:*—Just as the lotus leaf floats in a pond of water—fresh or stale. This in *Vedic* terminology, is called *Nishkam Karma*—*Tyagpurvak Bhog*—Selfless Action. In this manner we shall have a healthy combination of *Sat* and *Asat*—Reality and Non-reality—which is the essence of *Vedic* Philosophy. In this philosophy Johnson, Hegel and *Vedic* Thought come near to one another.

4. THE CONCEPT OF VEDIC MATERIO-SPIRITUALISM, Vedic Pragmatism or Realism—वैदिक यथार्थवाद

(II)

At present, people misunderstand the word 'Spiritualism'. It is generally thought that India is out-and-out a spiritual country and its culture is purely SPIRITUAL to the exclusion of materialism. This idea has to be revolutionised because *Vedic* Culture is a combination of both cultures—Spiritualism and materialism. Hence I would like to call *Vedic* Culture as Materio-Spiritualism. I wish you to convey this idea to the World. Your message to the World should be that pure Spiritualism divorced from Materialism is negative-life and pure Materialism divorcad from Spiritualism is positive death.

With this Preamble I proceed further in my Thesis:

Looking far into the historical perspective in Europe, we find that the Church of Rome dominated the entire hemisphere there. Christianity as expounded by the Church reigned supreme. Reason was at a discount. Thinking was channelized. *Martin Luther* was the first man who rebelled against the dominance of the Pope and ushered in an era of Reformation in the form of a Revolutionary Thought. Though Reason was installed on the pedestal of human thinking and man was slowly inching out into the realm of freedom of thought, yet the conflict between Religion and Science, dogmatism and free thinking continued. On the other hand, divided as the Church was in the form of Roman Catholics and Protestants, they were one as regards their conflict with science was concerned. The birth of Protestantism, though having seeds of freedom of thought, did not reconcile itself with scientific concepts which the movement of Reformation had naturally given birth to. Both Roman Catholics and Protestants, though fighting among themselves, were at daggers drawn against science. Galileo and Bruno to whom the world is indebted for their scientific and revolutionary discoveries were put in jail and the latter was burnt alive at stake for proclaiming his heliocentric theory. This is what happened in the West. The impending Revolution in Thought in the form of Science was suppressed.

But the history of India tells a different tale. Here Science developed side by side with Religion. Materialism which is the product of Science has been treated as the handmaid of Spiritualism which is the product of Religon. As related in the *Upanishad, Narad,* a Spiritual disciple, approached *Maharashi Sanat Kumar,* a spiritual saint, with an humble submission that though he had qualified himself in all the sciences worth the name, yet he found within himself a void. He felt that having learnt everything that material knowledge could impart, he had gained nothing for the satisfaction of his soul. We are told by the *Rishi of Kath Upanishad that Nachiketa* was offered all the material wealth, but he rejected it all saying that treading on that path one develops craving for more and more. In the pursuit of material things of the world there is no terminus.

But this does not mean that the *Vedic* view of life totally neglected the material side of life. The World of Matter and the Physical Body were accepted as inescapable realities. The world of matter that we see, and the physical body that we inhabit are solid facts. We can neither ignore the material world nor can we neglect the physical body. These are two separate and independent entities and, nolens volens, have to be accepted irrespective of the fact whether we are atheists, agnostics or otherwise. Motion in matter without presuming some power which by itself is not matter but is the cause of motion in matter, and living body without presuming some power which by itself is not the body but is the cause of life in the body is inconceivalble. That power which sets movement in matter and life in the body we respectively call God and Spirit—an atheist or an agnostic may prefer to call it by any other name, but the fact remains that moving matter and living body presuppose some power which is not matter and not body but runs into both—the Matter and the Body—otherwise how can matter move matter and how can body live without the life-giver.

The *Vedic* concept of life was not one-sided. It was not unadulterated Spiritualism which treated matter as a myth, nor was it unadulterated Materialism which treated spirit as a superstition. It would be correct to call it by no 'ISM', and if anything, it may be called pragmatism or realism. After all, all the material objects are there to be enjoyed or made use of not by matter itself, but by living beings who possess LIFE. Hence, it follows, that material objects are there as means, as instruments for us to make use of. They are not and could not be ends in themselves. This idea has been beautifully explained in the *Upanishad* when *Yaajyvalka.* after leading a household-life prepares himself for *Vanprastha Ashram* and offers all his wealth to his wife—*Maitreyee*, for her future maintenance. *Maitreyee* asked her husband of what use this property would be to her which he himself was renouncing. *Yaajyavalkya* replied it will be only a means for physical comfort, it will not give the eternal bliss that human being is seekng as the bonus of life.

The quintessence of *Vedic* thought is : Be the enjoyer, not the enjoyed; Be the master, not the slave; Be the subject not the object; Be in the world, not of the world. This is possible by following the teaching of the *Gita*. Non-attachment—*Nishkama Karma*—which means: Be in the world and yet be out of the world like a lotus in water undrenched by its contact. *Gita* (3-17) calls such a being as an *Atma rata, Atma Tripta. Atma Tushta.* Perfect bliss lies in revelling in the Self; in being filled by the Self; in being satisfied by the Self; in being merged in the Self. There is no tension, no fear, no want, no craving. This is the end towards which we all move though halted by diversions in between.

The whole scheme of *Vedic* life was chalked out on this principle. In *Brahmacharya* one prepared oneself to be fit to enjoy the world; in *Grihastha* he did enjoy the world to his heart's content; in *Vanprastha* the terminus was reached when he became conscious by experience of the ephemeral character of the mundane attachments to life; and lastly, came *Sanyas* when he detached himself off from the small, petty grooves in which he had been moving all these days. He detached himself from his family, from his caste, from his society, and even from his country. Renouncing all he became of all. At this stage he became the

citizen of the world for whom every man was his brother, every family was his family, every society was his society and every country was his country. In this detachment-oriented-attachment and expansion of the Self he fulfilled the destiny for which the human body is given as a gift by the Almighty.

This is Materio-Spiritual Revolution that an Individual, the Society and the World at large needs, otherwise it will, and is, heading towords DESTRUCTION.

5. उसके पास वेदार्थ की कुंजी थी

(वेदों का प्रारम्भिक-युग)

मनुष्य के वास्तविक तथा संपूर्ण रूप को समझने के लिये उपनिषदों में कहा है कि वह पंचकोशात्मक है। पंचकोश हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय। अन्नमय से आनन्दमय तक उसका उत्तरोत्तर विकास होता है। पहले तीन का तो हम सबको ज्ञान तथा अनुभव है। हम खाते-पीते हैं जिससे शरीर बनता है—यह अन्नमय कोश है; हम श्वास-प्रश्वास लेते हैं जिससे प्राणमय कोश बनता है; हम सोचते-विचारते हैं, इसे मनोमय कोश कहते हैं। इसके आगे मनुष्य का जो विकास होता या हो सकता है—शुद्ध-ज्ञान का अनुभव, उसे विज्ञानमय कोश कहते हैं; परन्तु, विकास की इस स्थिति से प्राणी उस स्थिति में जाना चाहता है जिसमें आनन्द-ही-आनन्द हो, दुःख की संभावना तक न हो। प्राणी की यह संभावित-स्थिति आनन्दमय कोश की स्थिति है। इस स्थिति में पहुँचकर उसका पूर्ण-विकास हो जाता है। यह "देवत्व" की स्थिति है। प्रायः देखा जाता है कि भारत में, खासकर हिन्दुओं में, और वैदिक-धर्मी पुरुषों तथा स्त्रियों में, पुरुषों का नाम ''देव'' से और स्त्रियों का नाम ''देवी'' से अन्त होता है। उदाहरणार्थ, हमारे नाम सत्यदेव, निरंजनदेव, पुरुषोत्तमदेव आदि होते हैं; या स्त्रियों के नाम सावित्री देवी, ईश्वरी देवी आदि होते हैं। इसका अभिप्राय यही है कि हम सबका पूर्ण-लक्ष्य देवत्व प्राप्त करना है, अन्यथा प्रत्येक व्यक्ति-पुरुष हो, स्त्री हो—अपने नाम के साथ 'देव' या 'देवी' क्यों लगाता है? हम अन्नमय कोश से प्रारंभ कर आनन्दमय कोश तक पहुँचना चाहते

हैं जो देवत्व या देवता की स्थिति है। अगर देवता बनना मानव का लक्ष्य है, तो प्रश्न यह रह जाता है कि "देवत्व" कैसे प्राप्त किया जा सकता है।

भाषा-शास्त्र के नियमों के अनुसार कई शब्दों का पारस्परिक निकट का संबंध होता है। उदाहरणार्थ, कई भाषाओं में 'स' का 'ह' हो जाता है। सप्ताह तथा हफ़्ता इसके उदाहरण हैं जिनमें अर्थ वही है, परन्तु संस्कृत तथा फ़ारसी में वर्ण-परिवर्तन हो गया है। इसी तरह एक ही भाषा में वर्ण-व्यत्यय भी पाया जाता है जिसका "देव"-शब्द उदाहरण है। ऐसा प्रतीत होता है कि "वेद"-शब्द से "देव"-शब्द परिवर्तित हो गया है, यद्यपि संस्कृत में ही "वेद" तथा "देव"-ये दोनों शब्द मौजूद हैं, परन्तु दोनों का अर्थ बदला हुआ है यद्यपि अर्थ के बदल जाने पर भी उनका पारस्परिक-लगाव बना हुआ है। मानवता के विकास में मनुष्य विकसित होता-होता आनन्दमय कोश तक पहुँच जाता है, जो "देवत्व" की स्थिति है, परन्तु यह स्थिति "वेद" की संस्कृति को आत्मसात् करने से प्राप्त होती है। इस प्रकार "देव"-शब्द का प्राणी में आनन्दमय कोश को विकसित करने के लिये "वेद" से संबंध जुड़ जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य "देव" तब बनता है जब वह "वेद" प्रतिपादित जीवन से अनुप्राणित हो जाता है। इस प्रकार "आनन्दमय कोश", "देवत्व" तथा "वेद"-ये तीनों शब्द एक-दूसरे से बंधे हुए हैं। हमारे इस कथन का अभिप्राय यह हुआ कि "देव" और "वेद" इन दोनों शब्दों की पारस्परिक इतनी निकटता है कि उसके आधार पर इन दोनों का पिरोने वाले सूत्र को ढूंढना होगा। वैदिक-संस्कृति ही वह सूत्र है जो इन दोनों को परस्पर बांधती है।

कोई समय था जब वेद-ज्ञान सर्वथा लुप्त हो गया था, सिर्फ़ मन्त्र-पाठ रह गया था। ब्राह्मण लोग वेदार्थ तो नहीं जानते थे, इतनाभर जानते थे कि वेद बड़े महत्त्व के, गहरे ज्ञान के ग्रन्थ हैं, इनमें आदि-सृष्टि का कोई रहस्य भरा हुआ है। जब-जब सृष्टि का पुनर्निमाण हुआ, तब-तब वेद-ज्ञान लुप्त हुआ, और उसका पुनरुद्धार भी हुआ। सृष्टि-क्रम के अनुसार वेद-ज्ञान का "लोप" तथा वेद-ज्ञान का "पुनरुद्धार"-यह चक्र भी चला। इसी का वर्णन अथर्ववेद 19.72 के निम्न मंत्र में उल्लिखित है :

यस्मात् कोशात् उद्‌भराम वेदं तस्मिन् अन्तः अवदध्म
एनम्। कृतम् इष्टम् ब्रह्मणः वीर्येण तेन मा देवाः
तपसा अवत इह॥

वेद के साथ यह चक्र लगा है। सृष्टि होती है, प्रलय होती है, प्रलय होती है—सृष्टि के साथ वेद-ज्ञान का "प्रादुर्भाव" होता है, समयान्तर में उसका "लोप" भी हो जाता है। एक ही युग में "ज्ञानोदय" तथा "ज्ञान-लोप" बार-बार हो सकता है या नहीं भी हो सकता। भारत में जो चक्र चला उसका कुछ दिग्दर्शन हम यहाँ कर रहे हैं :

वेद में कुछ "रहस्य" हैं—इस आधार पर वेदों की रक्षा की गई। सृष्टि के प्रारंभ में तो इन रहस्यों का ज्ञान था, परन्तु कालान्तर में वह ज्ञान जाता रहा, जिसका अर्थ जाने बिना उसकी रक्षा की जाने लगी। इन्हें रटा जाने लगा ताकि ये कायम रहें। धार्मिक-जगत् में और उसके द्वारा सामाजिक-जगत् में सदा, सब जगह, यह बात फैली रही कि परमात्मा की सृष्टि में कुछ ऐसे गुप्त रहस्य हैं जो सृष्टि में अज्ञात रूप से संभाल कर रखे हुए हैं, जिन्हें सृष्टि के कुछ इने-गिने व्यक्ति ही पा सकते हैं, परन्तु उन्हें संभाल कर एक पेटी में पड़े रहना ज़रूरी है। मुझे स्मरण है कि जब मैं अपने विद्यार्थियों को बायबल पढ़ाया करता था, क्योंकि यह भी धर्मशिक्षा का अंग था, तब ओल्ड टैस्टेमेंट में मेरे सामने एक प्रसंग ऐसा आया जिसमें पेटी में सुरक्षित सत्य-ज्ञान का उल्लेख था। जब मैं यह लेख लिख रहा हूं उस समय वह स्थल मेरी स्मृति में नहीं आ रहा। ऐसी ही एक बात गीता में पायी जाती है जहां लिखा है : **"यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत अभ्युत्त्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्"**—जब-जब सृष्टि में धर्म के प्रति ग्लानि होती है, और अधर्म उठने लगता है, तब-तब धर्म या सत्य की स्थापना के लिये सृष्टि में हलचल मच जाती है, और कोने में छिपा बैठा सत्य उठ खड़ा होता है।

ठीक इसी तरह का तो नहीं, किन्तु कुछ-कुछ इससे मिलता-जुलता विचार इंग्लैण्ड के प्रो० तोयनबी का है। उनका कहना है कि समाज का विकास क्रिया-प्रतिक्रिया या चैलेंज-रिस्पौन्स के सिद्धान्त के अनुसार होता है। समाज के सम्मुख कुछ समस्यायें होती हैं, समाज के नेता उन समस्याओं

का समाधान खोजते हैं और उनकी वह खोज उनकी समस्याओं का हल उपस्थित कर देती है। समस्या का हल कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी के द्वारा "खोज" लिया जाता है।

वेद का यह विचार कि सत्य का कोई हल मौजूद है, वह हल वेद में रहस्य रूप में छिपा पड़ा है, सत्य की पेटी में से उसे निकाला जा सकता है; गीता का यह विचार कि तिरोहित-सत्य का उद्घाटन करने के लिए युग-युग में किसी महापुरुष का जन्म होता है; तोयनबी का यह विचार कि संसार की समस्यायें जब उग्र-रूप धारण कर लेती हैं, चैलेन्ज बनकर सामने आ खड़ी होती हैं, तब समाज में से ही उन समस्याओं का हल निकलता है—ये सब विचार भिन्न-भिन्न मालूम होंगे, परन्तु इनकी अन्तर्निहित विचारधारा एक ही है। कहने का तरीका अलग-अलग है, शब्द भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु बात सबकी एक ही है। यही ध्वनि ईशोपनिषद् के निम्न शब्दों में सन्निहित है : **"हिरणमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितम् मुखम्, तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये"**—सत्य कहीं छिपा पड़ा है; भगवन्, उस पर्दे को हटाओ, उस पेटी को खोलो जिसमें सत्य-रूप "अमूल्य-धन" छिपा कर सुरक्षित रखा हुआ है।

भारत में सुरक्षित-रूप में संभाल कर रखे हुए रहस्य की पेटी को कैसे और किसने खोला—इसकी चर्चा हम एक अगले लेख में करेंगे।

6. उसके पास वेदार्थ की कुंजी थी

(वेदों का मध्य-कालीन युग)

हम अपने पिछले लेखों में लिख आये हैं कि संसार भर के धर्मों में यह कथानक प्रसिद्ध है कि आदि-काल में परमेश्वर की तरफ़ से ज्ञान दिया गया था, वह लुप्त हो गया, और उसका पुनरुद्धार करने के लिये अनेक यत्न होते रहे। इसी प्रकार का विचार 'शंकर-दिग्विजय' ग्रन्थ में पाया जाता है। क़हते हैं आठवीं शताब्दी में भारत में बौद्ध तथा जैन धर्म का प्रचार बढ़ता जा रहा था। उस समय के बौद्ध तथा जैन नास्तिकता का प्रचार कर रहे थे। ईश्वर तथा वेद को नहीं मानते थे। इनका मुकाबिला करने के लिये शंकराचार्य ने आन्दोलन उठाया। शंकराचार्य ने

जिस वेदान्तवाद का प्रचार किया उसके खंडन-मंडन में हमें यहां कुछ नहीं कहना। शंकराचार्य विशुद्ध वैदिक-धर्म को मानते थे, और वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते थे। उसी काल में काशी में एक विद्वान् हुए जिनका नाम कुमारिल भट्टाचार्य था। वे वैदिक धर्मी थे, परन्तु उस समय विद्वत्ता प्राप्ति के लिये तो केवल बौद्ध-पंडित ही विख्यात थे। भट्टाचार्य ने बौद्ध-पंडितों के सामने अपने को बौद्ध घोषित किया और इस प्रकार बौद्ध-पंडितों से शिक्षा प्राप्त की। शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्हें अपने को ज्ञान प्राप्त करने के लिये झूठ बोलने के कारण आत्म-ग्लानि हुई और वे काशी में बैठकर प्रायश्चित्त करने लगे। शंकराचार्य को जब पता लगा कि जब एक वैदिक-विद्वान् वेद का उद्धार करने के लिये निकला और उसने बौद्ध गुरुओं से शिक्षा प्राप्त करने के कारण जो आत्म-वंचना की उसके लिये प्रायश्चित्त करने को बैठ गया है, तो वे कुमारिल के पास जाकर कहने लगे कि अपने शरीर को इस प्रकार नष्ट न करो। मेरे साथ शास्त्रार्थ करो, तब देखा जाएगा कि जो-कुछ तुमने किया ठीक किया या ग़लत किया। इस पर कुमारिल ने शंकराचार्य को उत्तर दिया कि शास्त्रार्थ करना है तो माहिष्मती नगरी में मेरा शिष्य मंडन मिश्र रहता है उसके पास जाकर वेदों के विषय में शास्त्रार्थ करो। ये मंडन मिश्र वही हैं जिनके विषय में कहा जाता है कि शंकराचार्य जब उनका घर पूछते-फिरते थे तब उन्हें बतलाया गया था कि मिश्र जी का घर वह है जहां पिंजरे में बैठे तोते-तोतियां वेदों के विषय में चर्चा करते रहते हैं-**'स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीरांगनाः यत्र गिरः गिरन्ति'**-जहां तोते-तोतियों में बहस छिड़ रही हो कि वेद स्वतः प्रमाण हैं या परतः प्रमाण हैं वह मंडन मिश्र का घर है। जब शंकराचार्य ने मंडन मिश्र को हरा दिया तब उनकी पत्नी विद्योत्तमा ने उनसे कहा कि मैं मिश्र जी की अर्धांगिनी हूं, इसलिये जब तक आप मुझे नहीं हराते, मैं अपने पति को हारा हुआ नहीं मानती।

जिस समय की यह बात है उस समय काशी में एक राजा राज्य करते थे जिनकी पुत्री वैदिक-धर्म में दीक्षित थी और उसकी वैदिक-धर्म में बड़ी आस्था थी। उस समय देश में नास्तिकता बढ़ रही थीं, बौद्ध तथा जैन धर्म का जगह-जगह बोलबाला था। इस स्थिति में काशी-नरेश की पुत्री ने देश की

नास्तिकता तथा वेद के प्रति निरादर को लक्ष्य में रखकर कुछ उद्गार प्रकट किये। उसने कहा : **'किं करोमि क्व गच्छामि को वेदानुद्धरिष्यति'**।

क्या करूं, कहां जाऊं, वेदों को संसार भूलता जा रहा है, इनका उद्धार कौन करेगा? ये शब्द कुमारिल के कान में भी जा पहुंचे, और उसने व्याकुल होकर कहा--**"मा विषीद वरारोहे भट्टाचार्योऽस्ति भूतले"**--ऐ राजकुमारी, विषाद मत कर, वेदों का उद्धार करने के लिये कुमारिल भट्टाचार्य संसार में मौजूद है। इस घटना का उल्लेख एक काव्य-ग्रन्थ में है, इसलिये इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इसमें कोई सच्चाई नहीं है। संसार में जो विचार अब तक चला आ रहा था, उसी का इस श्लोक में उल्लेख है। काव्य-ग्रन्थ भी किसी प्रचलित विचार को लेकर लिखे जाते हैं, आस्मानी घड़न्त नहीं होते। राजकुमारी का यह कहना कि कौन वेदों का उद्धार करेगा अथर्ववेद के उस पद से मेल खाता है जिसमें कहा गया है-**"यस्मात् कोशात् उद्भराम वेदम्।"**

सृष्टि में ज्ञान है-यह तो सर्वसम्मत बात है। प्रश्न यही उठता है कि "ज्ञान" कहां से आया, कैसे आया? इसके दो ही उत्तर हो सकते हैं-या तो मनुष्य ने स्वयं आविष्कार किया, या किसी ने दिया। आजकल के वैज्ञानिक कहते हैं कि ज्ञान मनुष्य का आविष्कार है, धर्मी लोग कहते हैं कि ज्ञान परमेश्वर ने दिया। यह मानना बड़ा सरल मालूम देता है कि ज्ञान का आविष्कार मनुष्य ने स्वयं किया। हम रोज़ देखते हैं कि वैज्ञानिक नित नये-नये आविष्कार करते हैं। जैसे अब करते हैं, वैसे पहले भी किये-इसमें अड़चन क्या है? इसमें अड़चन दो हैं। पहली अड़चन तो यह है कि बिना सिखाये मनुष्य कुछ सीखता ही नहीं, जो-कुछ करता है किसी के सिखाये ही करता है। दूसरी अड़चन यह है कि परमात्मा ने मनुष्य को दिमाग़ ही क्यों दिया अगर उसने अपने दिमाग से कोई नई बात नहीं निकालनी थी। हम देखते हैं कि दिन-दिन मनुष्य नये-नये आविष्कार करता है, परमात्मा को क्या पड़ी थी जो बीच में टांग अड़ा देता? जिस चीज़ को मनुष्य स्वयं कर सके, उसे परमात्मा "वेद" द्वारा सिखाये-इसकी ज़रूरत ही क्या है। दूसरी कोटि के वे लोग हैं जो परमात्मा का पीछा छोड़ने को तैयार नहीं। उनका कहना है कि बिना सिखाये कोई सीख ही

नहीं सकता, उन्होंने परीक्षण किये। पैदा होते ही बच्चों को समाज से अलग रखा, वे पशु-के-पशु ही रहे, न किसी भाषा का आविष्कार कर सके, न बिना सिखाये कुछ कर सके। इसका उत्तर यह दिया जाता है कि जो परीक्षण हुए हैं, वे चार-पाँच साल के हुए हैं, करोड़ों सालों में तो मानव उसे दिये दिमाग से कुछ-का-कुछ कर सकता है।

युक्तियां दोनों पक्षों की ठीक लगती हैं। इन दोनों पक्षों की युक्तियों को मिलाकर वेद ने स्वयं एक तीसरा उत्तर दिया है। ऋग्वेद (8-18-6) में 'ज्ञान' को दो नाम दिये गये हैं–"अद्वय" तथा "सदावृद्ध"। "अद्वय" का अर्थ है–वह ज्ञान जो सदा एक है, दो नहीं; "सदावृध" का अर्थ है–वह ज्ञान जो सदा बढ़ता रहे। भौतिक-ज्ञान सदा बढ़ता रहता है; आज जो सत्य जान पड़ता है, कल वह बदल जाता है, ज्ञान उससे आगे चला जाता है। मानवीय-ज्ञान की यही हालत है, मनुष्य जो आज आविष्कार करता है, ज्ञान क्योंकि सदा बढ़ता रहता है, आविष्कार उससे आगे चला जाता है।

कुछ ऐसे भी सत्य हैं जिनमें कोई परिवर्तन नहीं होता या नहीं हो सकता। वे आध्यात्मिक सत्य हैं, जो आज हैं, कल वही होंगे और सदियाँ या युग बींत जायेंगे, उनमें कोई परिवर्तन नहीं होगा। वे ऐसे सत्य हैं जो मनुष्य आविष्कार नहीं कर सकता, उन्हें परमेश्वर ही दे सकता है। वेद का कथन है कि मानवीय आविष्कार "सदावृध" है; ईश्वरीय-देन "अद्वय" है, नित्य है, सनातन है, अपरिवर्तनशील है। आज भी, जब मनुष्य सब तरह के ज्ञान से सुसजिज्त है, उस "अद्वय"–'नित्य'-सत्य को जानने के लिये व्याकुल रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि मानवीय-ज्ञान का आविष्कार हो सकता है, वह दिनों दिन बढ़ता रहता है, वर्धमान है; ईश्वरीयज्ञान स्थिर है, अपरिवर्तनशील है, उसमें घटती-बढ़ती नहीं हो सकती, उसका कोई आविष्कार नहीं हो सकता, वह दिया ही जा सकता है। अगर वह दिया ही जा सकता है, उसका आविष्कार नहीं किया जा सकता, तो उसी को अध्यात्म ज्ञान कहते हैं, और वही "वेद" में है।

प्रश्न यह रह जाता है कि वेद का ज्ञान ईश्वर ने कैसे दिया। इस संबंध में मैं एक लेख 'आर्य-जगत्' में लिख चुका हूं। मैं जब गुरुकुल कांगड़ी में पढ़ता था तब एक बार मैं लुधियाना गया

था जहां एक मौलवी जमघट लगाये आर्य-समाजियों से यही सवाल कर रहे थे। वे पूछ रहे थे कि जब आर्यसमाजी परमेश्वर को अशरीरी मानते हैं, तब बिना बोले ईश्वर ने वेदों का ज्ञान कैसे दिया। मैं दूर खड़ा था, शीघ्र उनके नज़दीक आ खड़ा हुआ। मैंने कहा, जब मैं दूर खड़ा था तब आप बड़े जोर से चिल्ला-चिल्ला कर बोल रहे थे। अब नज़दीक आने पर उतना ज़ोर से क्यों नहीं चिल्लाते। वे बोले, इतनी नज़दीकी पर चिल्लाने की ज़रूरत नहीं रहती। मैंने कहा —अगर मैं अपके भीतर चला जाऊं तब क्या आवाज़ की जरूरत होगी। बोले-तब आवाज की जरूरत ही क्या है? मैंने कहा-भगवान् तो घट-घट में व्याप रहा है, उसे बोलने की क्या ज़रूरत है? यह उत्तर सुनकर वे नौ-दो-ग्यारह हो गये।

इस प्रश्न का उत्तर मुझे तब भी मिल गया जब मेरा साक्षात्कार कंप्यूटर नाम से प्रसिद्ध शकुन्तला देवी से हुआ। बम्बई के एक सेमीनार में वे गई हुई थीं, मैं भी गया हुआ था। वे मुझे मिलीं और मिलते ही बोल उठीं-आप शनिवार को पैदा हुए थे। मैं अचम्भे में रह गया क्योंकि मुझे पता ही नहीं था कि मेरे जन्म-दिन कौन-सा वार था। अब मैं 92-93 वर्ष का हूं, इस समय से पहले 1898 में मेरे जन्म का क्या वार था इसे मैं क्या जानता? फिर दिल्ली में टेलीवीजन में उन्हें देखा, करोड़ों की राशि का योग सैकिंडों में कर दिया जो कम्प्यूटर भी नहीं कर सकता था। मैंने पूछा-यह कैसे किया? बोलीं-बस, सामने आ गया, पता नहीं कैसे? अभी हाल में 12 अप्रैल, 1989 के हिन्दुस्तान टाइम्स में दीपक ठक्कर नाम के 5 वर्ष के एक बालक का उल्लेख हुआ है जो एक सेकेंड में किसी वर्ष के किसी मास के दिन को बतला देता है। उससे पूछा गया कि 2 दिसम्बर 1990 को क्या वार होगा? उसने झट उत्तर दिया-रविवार। फिर पूछा गया-25 दिसमबर, 1988 को क्या दिन था। उसने झट उत्तर दिया-रविवार। जब उससे पूछा गया कि क्या तुम गिनती करके बतलाते हो? उसने उत्तर दिया-नहीं, उत्तर सामने आ जाता है। यही बात वेदों के ईश्वरीयज्ञान के विषय में कही जा सकती है। सृष्टि के आदि-काल में चार ऋषियों के सामने चार वेद प्रकट हुए। अगर अब ऐसी बातें हो सकती हैं, तो पहले भी हुई होंगी-इसमें अचम्भे की क्या बात है?

इस प्रश्न का उत्तर अभी हाल में फिर मिला। तेरह जुलाई

1989 के हिन्दुस्तान टाइम्स (दिल्ली संस्करण) में एक समाचार कलकत्ते से पी.टी.आई. द्वारा प्रकाशित हुआ। उसमें लिखा था कि मौसुमी चक्रवर्ती एक सात वर्ष की कन्या चमत्कारिक कन्या है जो वेस्ट बंगाल में कलकत्ता में साधन चक्रवर्ती के घर पैदा हुई है। वह है तो सात वर्ष की परन्तु विज्ञान तथा राजनीति विषयक अत्यन्त विकट प्रश्नों का निधड़क होकर ठीक-ठीक उत्तर देती है। उसके पिता भी साइन्टिस्ट हैं। दुनिया का कोई भी प्रश्न किया जाए वह उसका सही उत्तर देती है। उसे वैज्ञानिक 'वंडर गर्ल' कहते हैं। बंगाल के शिक्षा मंत्री ने उसे 1991 में इन्टरमीडियेट की परीक्षा में बैठने की शिक्षा-विभाग द्वारा अनुमति प्रदान कर दी है। प्रश्न यह है कि सात वर्ष की इस कन्या को प्रत्येक विषय का इतना गहन ज्ञान किसने दिया और उस कन्या ने वह ज्ञान कैसे प्राप्त किया। क्या यह कन्या इस प्रश्न का ज्वलन्त उत्तर नहीं है कि सृष्टि के आदि में परमात्मा द्वारा वेदों का ज्ञान कैसे दिया गया। जो घटनाएं नित-नित हमारे सामने हो रही हैं वे सृष्टि के प्रारंभ में हुई हों तो समस्या कहाँ रहती है?

आर्यसमाज की वेद के विषय में जो धारणा है वह सही हो या ग़लत, युरोपीय विकासवादी विचारकों का यह कहना ठीक भी क्यों न हो कि भारत के ऋषि जो वेद-वेद का नारा लगाते रहे, जंगली थे; कूए से पानी भरते और जंगल से काटकर लकड़ी लाते थे; प्रश्न यह है कि वेदों में जो ज्ञान उन्होंने भी देखा वह ज्ञान उनके पास कैसे आया और कहाँ से आया। तुम भी जंगली थे, वे भी जंगली थे। तुम जंगली-के-जंगली रहे, वे जंगली होते हुए भी उच्च-कोटि के विचारक हुए। इसका क्या समाधान है? इसका समाधान अब तक कोई नहीं दे पाया। भारत की संभ्यता का, इस देश की संस्कृति का आधार वेद था। वेद का नारा दिग्दिगन्त तक पहुँचा हुआ था। देश में, विदेश में सब जगह वेदों की भाषा-संस्कृत के अवशेष बिखरे पड़े हैं जिससे स्पष्ट है कि वेद सिर्फ़ भारत के नहीं, वे किसी समय सार्वभौम थे। सार्वभौम न होते तो तिब्बत में, चीन में, इन्डोनिशिया में, पूर्वी भारत तथा पश्चिमी-भारत में वेदों की भाषा-'संस्कृत' के चिह्न सदियों के बाद भी क्यों पाये जाते हैं? कठिनाई यही थी जो संस्कृति मूक रूप में सब जगह पायी जाती थी, उस बन्द संस्कृति को खोलकर रख देने की चाबी किसी के पास न थी। अरविन्द के शब्दों में

अज्ञात में बन्द उस संस्कृति को खोलकर रख देने की चाबी ऋषि दयानन्द के हाथ लगी और उन्होंने ताले में बन्द उस संस्कृति के मूल आधार वेद को अपने हाथ लगी चाबी से खोलकर विश्व के सामने रख दिया।

ऋषि दयानन्द ने घोषणा कर दी कि वेद अब ताले में बन्द न रहेंगे, ये सिर्फ़ ब्राह्मणों की सम्पत्ति न रहेंगे, ये सिर्फ़ रटन्त के विषय न रहेंगे, ये जन-जन के हाथ में, अर्थ-सहित रहेंगे, और इनके पढ़ने-पढ़ाने का अधिकार मनुष्य मात्र को होगा। ऋषि दयानन्द की इस घोषणा का आधार यही था कि वेदार्थ की जो कुंजी खो गई थी वह उनके हाथ आ लगी थी। ऋषि दयानन्द के पहले का युग वेदों की रटन्त का युग था, बाद का युग वेदों के अध्ययन का युग हुआ।

7. उसके पास वेदार्थ की कुंजी थी

(वेदों का मध्य-कालीन अन्धकार-युग)

हम पिछले लेख में लिख आये हैं कि संसार के प्रचलित धर्मों में भिन्न-भिन्न रूप में यह चर्चा मौजूद है कि सत्य-ज्ञान आदि सृष्टि में मौजूद था; परन्तु वह गुहा में निहित है, ताले में बंद है, ताला खोलकर उसे निकाल भर लेना है। अथर्ववेद में तो यह बात स्पष्ट रूप में कही गई है। वहां तो यह भी कहा गया है कि ताले में बंद वह सत्य-ज्ञान "वेद" है। अथर्ववेद के जिस स्थल का हम उल्लेख कर रहे हैं वहां उल्लिखित है-**"यस्मात् कोशात् उद्‌भराम वेदम्"**-जिस कोश में से हमने "वेद" को उठाया था वहीं उसे सुरक्षित रख रहे हैं-**"तस्मिन् अन्तः अवदध्म एनम्"**। यहां तो स्पष्ट तौर पर कहा गया है कि "वेद" ही वह सत्य-ग्रन्थ हैं जो अब तक तिरोहित रहे थे। जो चाहे, इस पेटी की चाबी ढूंढ कर उसे निकाल ले और उस छिपे रहस्य को जान ले। यह तो स्पष्ट है कि जिन शब्दों का हम प्रयोग कर रहे हैं वे हमारे अपने शब्द हैं, ठीक इन्हीं शब्दों में तो यह-कुछ नहीं कहा गया, किन्तु भावार्थ इस मंत्र का यही है। हमें भावार्थ से अभिप्राय है, शब्दार्थ से नहीं।

कोई समय अवश्य रहा होगा जब आदि-सृष्टि में सारा संसार वेद-ज्ञान से अवगत था, परन्तु ऐसा समय भी आया जब

मंत्र मात्र रह गये, उनका अर्थ किसी की समझ में न आया। वह समय ऐसा था जब वेद-ज्ञान लुप्त हो गया था, सिर्फ़ मंत्र-पाठ रह गया था, वेद के लिये अन्धकार का युग था। उस समय का ब्राह्मण-समुदाय केवल इतना जानता था कि ये बड़े महत्व के, गहन-ज्ञान के ग्रन्थ हैं, इनमें आदि-सृष्टि का रहस्य भरा हुआ है, इसलिये इनका अर्थ न जानते हुए भी वे इन्हें रटने लगे ताकि ये कायम रहें, शायद कोई समय आ जाय जब इनमें निहित रहस्य प्रकट हो जाय और वह देश के काम आये। चिरकाल तक, अर्थ-ज्ञान के बिना ब्राह्मणों के स्मृति-बल पर वेद कायम रहे, मानो पेटी में बंद रहे। जब देर तक ऐसा समय रहा कि वेद सिर्फ़ रटे जाते थे, तब इस देश में कौत्स नाम के एक विद्वान् हुए जिन्होंने कहा-"निरर्थकाः हि मंत्राः"-यह मंत्रों की रटन्त बेकार है क्योंकि इन्हें सिर्फ़ रटा जाता है, वैसे इनका जीवन में कोई प्रयोजन नहीं। जब यह स्थिति बढ़ती ही गई तब ब्राह्मणों को भी सोच पड़ी होगी कि ऐसी स्थिति में तो वेद का पठन-पाठन सर्वथा लुप्त हो जाएगा, इसलिये उन्होंने अर्थ जानना शुरू किया जिनमें उव्वट, महीधर, स्कन्दस्वामी, वेंकट स्वामी आदि का नाम मुख्य तौर पर लिया जा सकता है।

इन्होंने वेदों के जो अर्थ किये वे भी ऊल-जलूल, भद्दे तथा ऊट-पटांग थे। इनके हाथ में वेदार्थ की चाबी नहीं आयी थी। महीधर ने **"गणानां त्वा गणपतिं हवामहे"** आदि मंत्रों का जो अश्लील अर्थ किया उससे स्पष्ट हो जाता है कि ये लोग अगर वेद पर कलम न उठाते तो ठीक रहता। इनके किये अर्थ पाश्चात्य विद्वानों के विकासवाद के सिद्धान्त की पुष्टि करते थे। उन अर्थों से सिद्ध होता था कि वेदों के रचयिता निरे असभ्य तथा जंगली थे, जगत् के रचयिता एक ईश्वर को न मानकर बहुदेवतावादी थे, ईश्वर के विषय में उनकी मान्यता थी कि वह एक भारी-भरकम आदमी है। उव्वट, महीधर का काल भी काफ़ी देर तक रहा होगा।

इसके बाद ऐसा भी समय आया होगा जब विद्वान् लोग भी सजग होकर कहने लगे होंगे कि वेद का पढ़ना तभी सार्थक है जब वेद-मंत्रों का अर्थ-ज्ञान हो। तभी निरुक्तकार ने कहा: **'स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत् अधीत्य वेदं न विजानात्ति योऽर्थम्'**-जो वेदों को सिर्फ़ रटता-रहता है, उसका अर्थ नहीं

जानता, वह केवल गधा है। जो भार को तो ढोता है, परन्तु ऊपर क्या लदा है–यह नहीं जानता–“**भारहारः किलाभूत्।**”

ऐसे समय के बाद ऋषि दयानन्द का प्रादुर्भाव हुआ। यह ब्रिटिश-काल था। इस काल में युरोप में भौतिकवाद बढ़ता चला जा रहा था और ज्ञान के हर क्षेत्र में विकासवाद का बोलबाला था। ऋषि दयानन्द के सामने प्रश्न था कि देश को भौतिकवाद तथा डार्विन के विकासवाद से कैसे बचाया जाय? इस देश की सभ्यता तथा यहां का सामाजिक-जीवन वेदों के आधार पर टिका हुआ था। ऋषि दयानन्द भी अपनी विचारधारा का आधार वेद को ही मानते थे। अगर वेद को अपनी विचारधारा का आधार बनाकर कार्य-क्षेत्र में उतरते, और वेदों का वही अर्थ मानकर चलते जो महीधर, उव्वट आदि ने तथा उनको आधार बनाकर देश के शासन-काल के समय के मैक्समूलर आदि ने किया है, तब तो इस देश का भट्टा ही बैठ जाता, परन्तु ऋषि दयानन्द ने सोचा होगा कि जिस ज्ञान को सदियों तक यहां के ब्राह्मणों ने एक अमूल्य “निधि” के तौर पर स्मृति के बल पर संभाल कर सुरक्षित रखा वह इतना निरर्थक नहीं हो सकता जितना कौत्स आदि कहते रहे। उसकी बड़ी ही कीमत होगी जिस कारण इस देश के ब्राह्मणों ने सब तरह के दांव लगाकर और समय आने पर जान पर खेलकर उसे संभाले रखा। ऋषि दयानन्द के सामने जहां एक तरफ़ महीधर, सायण आदि थे, वहां निरुक्तकार यास्क तथा वेदभक्त पाणिनि, पतंजलि आदि भी थे। प्रज्ञाचक्षु स्वामी विरजानन्द के शिष्यत्व में पाणिनि, पतंजलि, यास्क आदि के अध्ययन के बाद उनकी आंखें खुल गईं और उन्हें ज्ञात हुआ कि अब तक वेदों के साथ अन्याय हुआ है, उन्हें समझा ही नहीं गया। जहां कौत्स ने वेदों को निरर्थक मानकर छोड़ दिया था वहां ऋषि दयानन्द ने निरुक्त, पाणिनि, पतंजलि के आधार पर वेदों को सार्थक मानकर एक नवीन युग का निर्माण किया जिसे ‘दयानन्द-युग’ कहा जा सकता है। इस युग में वेद पढ़े ही न जाने लगे, वेदों का अर्थ भी किया जाने लगा। वेदों के अध्ययन के बाद ऋषि दयानन्द ने जाना कि वेद इतने विशाल थे कि जिस स्त्री-जाति को सदियों से अक्षर-ज्ञान से भी वंचित रखा गया था; उसे भी वेद-ज्ञान का अधिकारी ही नहीं, वेद-ज्ञान का उपदेष्टा बनने के योग्य भी माना जाने लगा।

भारत में चिरकाल से वेदों के प्रति, उन्हें बिना जाने, अन्ध-श्रद्धा चली आ रही थी। भारत में भिन्न-भिन्न देशों से आक्रान्ता आये और यहाँ की वैदिक विचारधारा में विलीन हो गये। फिर भी दो विचारधाराएँ ऐसी थीं जो यहाँ की विचारधारा पर हावी हो गईं, परन्तु हावी होने पर भी यहाँ के वासियों के हृदय से "वेद" और "वैदिक" शब्द को मिटा नहीं सकीं। औरंगज़ेब के बड़े भाई दाराशिकोह ने काशी के पंडितों से उपनिषदों का ज्ञान सुना। मुसलमान सदियों तक इस देश में शासन करते रहे, परन्तु अपने को वेदज्ञ पंडितों से आध्यात्मिक दृष्टि से हीन ही समझते रहे। मुसलमानों के बाद अंग्रेज़ इस देश के शासक बने। पाश्चात्य-जगत् के दिग्गज विद्वानों ने जब वेदों का अध्ययन किया, तो वे आश्चर्य में पड़ गये कि ज्ञान की इतनी ऊंचाई पर चढ़कर यह देश पतन के गर्त में कैसे जा गिरा। ऋषि दयानन्द ने भी अनुभव किया कि इतने ऊंचे विचारों के होते हुए इतने नीचे गिरने का कारण यही हो सकता है कि ब्राह्मण लोग वेदों को रटते तो रहे, परन्तु जो-कुछ रट रहे थे उसके अर्थ से शून्य थे। हम पहले लिख आये हैं कि कुत्स ने कहा था कि वेद निरर्थक हैं। रटते हुए भी जब अर्थ-ज्ञान न हो तो वे निरर्थक ही रहे, परन्तु धन्य हैं वे ब्राह्मण जो वेदों का अर्थ न जानते हुए भी उन्हें एक अमूल्य "निधि" समझकर इन्हें जीवित बनाये रहे। संभवतः इनके साथ चिपटे रहने का यही कारण था कि वे आशा करते थे कि कालान्तर में शायद वह समय आयेगा जब इनके भीतर छिपे रत्नों को कोई उघाड़ कर रख देगा। ऋषि दयानन्द के आने पर वेदों को इनका अर्थ न जानकर उन्हें रटकर संभाले रखने वालों की आशा पूर्ण हो गई। भारत में ऐसे व्यक्ति ने जन्म ले लिया जिसने सदियों से बन्द पड़ी पेटी के ताले को खोल दिया और उसमें पड़े रत्नों को दुनिया भर में बखेर दिया।

ऋषि दयानन्द ने देख लिया था कि अगर भारत का ही नहीं, संसार भर का उद्धार हो सकता है, तो वेदों के द्वारा ही हो सकता है, परन्तु वेदों पर तो ताला लगा हुआ था। उसका क्या इलाज था? इस समस्या को हल करने में महर्षि दयानन्द ने अपनी सारी शक्ति लगा दी, सारा जीवन लगा दिया, और भारत के उठ खड़ा होने में जो काम अभी तक किसी ने नहीं किया था वह काम कर दिखाया। वेद भारत के प्राण रहे हैं, भारत की आंखें सदा वेदों को

निहारती रही हैं; परन्तु इस देखने और निहारने से हुआ कुछ नहीं। हम देखते हुए भी अन्धे रहे, वेद-वेद चिल्लाते रहे परन्तु करते-धरते कुछ न रहे। वेद एक ताले-बन्द खज़ाना है– यह वेद का ही अपना कथन है–इसमें भरे रत्न इसे खोलकर ही मिल सकते थे। इस ताले की कुंजी की खोज करते-करते ऋषि दयानन्द को ही वह चाबी मिल गई जिसके द्वारा वेदों का खज़ाना खुल गया। हमारी यह हालत रही है कि अगर कहा जाय कि यह वेद में है, तो हमारी बोलती बन्द हो जाती है। कोई कहे सती-प्रथा वेद में है तो हम चुप हो जायेंगे, कोई कहे कि पत्थर भगवान् है–यह वेद में है, तो हमारी बोलती बन्द, कोई कहे कि वेद में लिखा है कि मांस खाना चाहिए तो हम आगे कुछ नहीं बोलते। इति-वेदे–इति वेदे–बस, हमारे लिए इतना भर किसी का किसी बात के लिए कह देना–'इति प्रमाणम्'–हो जाता है। यह स्थिति देखकर ऋषि दयानन्द ने सीधा वेदों पर प्रहार किया और जो हम कहा करते थे कि यह "वेद में है" दयानन्द ने वेद खोलकर दिखला दिया कि यह "वेद में नहीं है"। ऋषि दयानन्द ने घोषणा की कि प्रत्येक संस्कृत-ग्रन्थ वेद नहीं है। ऋषि ने संस्कृत-ग्रन्थों को दो भागों में बाँट दिया–'आर्ष'-ग्रन्थ तथा 'अनार्ष' ग्रन्थ। ऋषि दयानन्द ने घोषणा की कि वे ही ग्रन्थ प्रमाणिक हैं जो ऋषियों के बनाये हुए हैं, हर-एक गप्पमारी-ग्रन्थ आर्ष नहीं, प्रामाणिक नहीं। पुराणों में जो गप्पें हांकी गई हैं वे निठल्ले व्यक्तियों द्वारा लिखी गई हैं। उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। प्रामाणिक-ग्रन्थ वेद हैं जिनमें मूर्तिपूजा, श्राद्ध, सती-प्रथा, जन्मजात समाज-भेद आदि की गप्पें नहीं हैं। वेदों के ज्ञान के लिये प्राचीन आचार्यों की वेदार्थ-ज्ञान की पद्धति को जिसके जन्मदाता यास्क आदि मुनि थे उसे समझ कर वेदों का अर्थ करना होगा। इस युग में योगी अरविन्द ने ऋषि दयानन्द को समझा था और इसी बात को उन्होंने निम्न शब्दों में व्यक्त किया था :

"भावी पीढ़ी के सामने भारतीय पुनर्जागरण की अग्रभूमि में स्थित अनेक उल्लेखनीय महापुरुषों के समूह में एक पुरुष, अपनी आश्चर्यजनक एवं विलक्षण विशेषता के कारण, सबसे अलग दिखाई देगा क्योंकि उसका कार्य अद्वितीय रहा है। मेरे मानस-पटल पर दयानन्द का ऐसा ही चित्र बना हुआ है। दयानन्द

ने उस द्वार की कुंजी ढूंढ ली थी जिसे समय ने बंद कर दिया था, और उसके भीतर जो उत्स बन्दी थे उनकी सीलबन्दी को तोड़ दिया था।"

जिस युग का हम वर्णन कर रहे हैं वह वेदार्थ अन्धकार-युग था जिस युग में से उषा की किरणें धीरे-धीरे फूट रही थीं और दयानन्द नाम के सूर्य के उदय होने की तैयारी हो रही थी।

8. उसके पास वेदार्थ की कुंजी थी

(वेदों का उत्तर-कालीन-युग)

आर्यसमाज का तीसरा नियम "वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है; वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है"—यह है। आर्यसमाज के इस नियम के संबंध में नियमों के निर्माण के समय काफ़ी पारस्परिक विवाद हुआ था। कई लोगों का कहना था कि **"वेद सत्य विद्याओं** की पुस्तक है"—**"सब सत्य विद्याओं की"** कहने की ज़रूरत नहीं, परन्तु वर्तमान में जो नियम पाया जाता है उसमें **"सब सत्य विद्याओं"** का उल्लेख है। शायद इस विवाद को शान्त करने के लिए तीसरे नियम के बाद चौथा नियम बनाया गया जिसमें कहा गया कि "सत्य के ग्रहण करने और असत्य को छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।" तीसरे और चौथे नियम एक-दूसरे के पूरक हैं।

"सत्य विद्याओं" तथा "सब सत्य विद्याओं" के आपसी विवाद में प्रश्न उठता है कि क्या वेदों में आजकल के विज्ञान का भी उल्लेख है। उदाहरणार्थ, आज विज्ञान ने अनेक आविष्कार किये हैं जिनके आधार पर रेलगाड़ी, हवाई जहाज़ आदि का निर्माण किया गया है। क्या वेदों में रेलगाड़ी या हवाई जहाज़ आदि के फार्मूले मौजूद हैं। अगर सब सत्य विद्याओं से यह तात्पर्य है कि वेदों में यह सब-कुछ मौजूद है, तो किसी वेदज्ञ ने अब तक कोई ऐसी चमत्कारिक वस्तु का वेद के मंत्रों के आधार पर निर्माण क्यों नहीं किया? सायंसदां लोग दिन-प्रतिदिन नये-नये नियमों का पता लगा रहे हैं, उनके आधार पर नयी-नयी वस्तुओं का निर्माण कर रहे हैं, वेदों के पंडित जो वेद में सब सत्य विद्याओं की घोषणा करते हैं, वे करोड़ों वर्ष बीत गये, हाथ-पर-हाथ धरे क्यों बैठे रहे; आज विज्ञान जो चमत्कार दिखा

रहा है वैसा कोई अद्‌भुत चमत्कार क्यों नहीं दिखा सके?

इस प्रश्न का उत्तर ईशावास्योपनिषद् में दिया गया है। वहां लिखा है: **“अन्यत् आहुः विद्यया अन्यदाहुरविद्यया इति शुश्रुम धीराणाम् येनस्तद् व्याचचक्षिरे।”**—ऋषियों का कहना है कि “विद्या” का कुछ और ही अर्थ है, “अविद्या” का कुछ और ही अर्थ है—प्राचीन-काल के विद्वानों का कहना था कि सर्वसाधारण लोग इन दोनों शब्दों का अर्थ नहीं समझते। तो इन दोनों शब्दों का क्या अर्थ है? इन शब्दों का वैदिक-अर्थ बतलाते हुए आगे कहा है: **“विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते”**—जो व्यक्ति ‘विद्या’ तथा ‘अविद्या’ दोनों का अर्थ जानते हैं, वे अविद्या से मृत्यु को तर जाते हैं, और विद्या से अमृत को पाते हैं। यह हमारे लिये एक अद्‌भुत घोषणा है। अविद्या से मृत्यु को कैसे लांघा जाता है? अगर अविद्या का अर्थ “भौतिकवाद” माना जाय तब तो यह बात झट समझ आ जाती है। अगर भौतिकवाद के आविष्कारों को—दवाई, खाना-पीना, नये-नये आविष्कार जिनसे दीर्घ-जीवन मिलता है, अगर वैदिक टरमिनोलोजी में यह-सब “अविद्या” है, तब तो क्षण भर भी सन्देह नहीं होगा कि इस प्रकार की “अविद्या” से मृत्यु को तरा जा सकता है; अगर अध्यात्मवाद को—अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि को—“विद्या” मान लिया जाय, तो इसमें भी क्षणभर संन्देह नहीं रहता कि इस प्रकार की “विद्या” से मनुष्य अमरत्व प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न यह था कि वेदों में अगर सब सत्य विद्यायें हैं तो क्या वर्तमान विज्ञान जिसे हम सत्य-विद्या समझते हैं—क्या यह विज्ञान वेदों में है? कुछ लोगों का कहना है कि ये विद्यायें भी वेदों में हैं। पं० गुरुदत्त जी ने अपने समय में इसी सिद्धान्त के आधार पर वेदों में आक्सीजन तथा हाईड्रोजन आदि का होना कुछ मंत्रों की व्याख्या करते हुए सिद्ध किया था।

1982 में जब मैं हौलैंड निवासियों के निमंत्रण पर वहां गया तब एक दिन वहां की सभा में व्याख्यान दे रहा था। व्याख्यान में एक डच अंग्रेज़ भी उपस्थित था। व्याख्यान के अन्त में उस डच अंग्रेज़ ने कुछ घंटे मुझसे बातचीत करना चाहा। मैं श्री बलदेव तिवारी के पुत्र श्री केशव तिवारी के यहां ठहरा हुआ था। मैंने उन्हें अगले दिन वहां आने को कहा। अगले दिन वे सज्जन

पुस्तकों का भारी बंडल लेकर मुझसे मिलने आये। उनके बैग में "सत्यार्थ प्रकाश", "बृहत् विमानशास्त्र" तथा बैंगलौर के श्री सुब्बाशास्त्री द्वारा अनूदित "यंत्र सर्वस्व" नामक ग्रन्थ भी थे। उनके पास कुछ डिज़ाइन थे जो उन्होंने इन ग्रन्थों के आधार पर विमान की आकृति के रूप में बनाये थे। वे 'वैदिक-विमान-विद्या' की तह तक पहुंचना चाहते थे। उनका नाम J. N. Van. Weerg था और पता Markt-WEC. 2525, J. H. Denhag, Nederland था।

वे चारों वेदों की एक-एक प्रति चाहते थे। मैंने हालैंड से आर्यसमाजी पत्रों में उनकी इच्छा व्यक्त की किन्तु मुझे इस बात का दु:ख है कि किसी आर्यसमाजी संस्था ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया। उनकी वेद के प्रति लगन को देखकर मैं बहुत प्रभावित हुआ। वे मुझसे कह रहे थे कि वेदों में विज्ञान है, परन्तु मेरे पास उन्हें संतुष्ट करने के लिए कोई उत्तर नहीं था। मैं सिर्फ़ इतना जानता था कि आर्यसमाज का तीसरा नियम है कि वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है।

इस विषय पर मैंने बहुत सोचा। मेरे सामने निम्न प्रश्न आ-आकर घूमने लगे। पहला प्रश्न तो यह था कि अगर वेद में सभी विद्यायें हैं तो मनुष्य को मस्तिष्क या विचार-शक्ति क्यों दी गई? सब-कुछ बता देना विचार-शक्ति पर प्रतिबन्ध लगा देना है। दूसरा प्रश्न यह था कि अगर वेद में भौतिक-विज्ञान आदि सभी-कुछ है तो अरबों वर्ष बीत गये वेदों के आधार पर कभी किसी ने कुछ बनाकर क्यों नहीं दिखाया? तीसरा प्रश्न यह था कि अगर वेदों में सभी सत्य विद्यायें नहीं हैं तो पं० गुरुदत्त विद्यार्थी आदि ने वेदों में आक्सीजन, हाइड्रोजर्न आदि को वेद मंत्रों के आधार पर कैसे सिद्ध किया? वेदों के ईश्वरीयज्ञान होने में ये तीन बाधायें मेरे सम्मुख सदा बनी रहीं परन्तु इनका मुझे उत्तर भी मिल गया। वही उत्तर लिखने मैं इस समय बैठा हूं :

(क) मनुष्य के स्वतंत्र-ज्ञान पर बाधा-

वेद में सब सत्य विद्याओं के ईश्वरीय-ज्ञान होने में पहली बाधा यह है कि अगर वेद में सब-कुछ दे दिया गया है, तो क्या मनुष्य के स्वतंत्र-चिंतन के लिये कुछ नहीं छोड़ा गया? हम देखते हैं कि मनुष्य अपने मस्तिष्क से बहुत-कुछ निकाल लेता है। न्यूटन ने अपने स्वतंत्र मस्तिष्क से बहुत-कुछ निकाला,

आइन-स्टाइन ने विज्ञान को अपने स्वतंत्र विचार से बहुत-कुछ दिया। इन लोगों ने वेद से तो यह सब-कुछ नहीं ग्रहण किया। वेद-ज्ञान के बिना नवीन-ज्ञान आ रहा है और आ सकता है, तो वेद की क्या जरूरत रह जाती है?

इसका उत्तर यही हो सकता है कि ईश्वर वेद द्वारा वही ज्ञान देता है जिसे मनुष्य स्वतंत्र रूप से अपने मस्तिष्क से नहीं प्राप्त कर सकता, जो ज्ञान किसी के दिये जाने से ही प्राप्त हो सकता है, न दिये जाने से प्राप्त नहीं हो सकता, वही ज्ञान वेद में होना चाहिये, अन्य प्रकार के भौतिक-विज्ञानों के लिये 'उपवेदों' का निर्माण हुआ।

(ख) अगर वेद में सभी ज्ञान है, जिसमें भौतिक ज्ञान भी शामिल है, तो अब तक वेद द्वारा किसी ने कोई नया आविष्कार क्यों नहीं किया?

इस शंका का उत्तर यह है कि सैकडों, हजारों वर्षों तक तो वेद रूपी "निधि" पर ताला लगा रहा, जब तक उसे खोलने की कुंजी हाथ आई तब तक मनुष्य ने अपने स्वतंत्र मस्तिष्क से हज़ारों आविष्कार कर लिये थे, परन्तु वे सब आविष्कार 'भौतिक-जगत्' के आविष्कार थे। वेद अगर ईश्वरीय-ज्ञान है, और भगवान् ने अगर मनुष्य को स्वतन्त्र विचार करने की शक्ति भी दी है, तो वेद वही ज्ञान देगा, जो मनुष्य अपने मस्तिष्क द्वारा स्वतंत्र रूप से पता नहीं लगा सकता। ऐसा ज्ञान भौतिक न होकर आध्यात्मिक होगा। आध्यात्मिक-ज्ञान वह ज्ञान है जो अपने प्रयत्न से नहीं पाया जा सकता, जो दिया ही जा सकता है। भौतिक ज्ञान तो अपने-आप पाया जाता है। न्यूटन को, आइनस्टाइन को या अन्य वैज्ञानिकों को सिखाने की आवश्यकता नहीं पड़ती, उनका ज्ञान अपने-आप भीतर से उपजता है जैसा शकुंतला आदि के विषय में हम पहले लिख आये हैं। भौतिक आविष्कार बिना ईश्वरीय ज्ञान के मानव द्वारा आविष्कृत होते हैं, उन्हें ईश्वर द्वारा देने की ज़रूरत नहीं होती। वेद द्वारा वही ज्ञान दिया गया है जो अपने-आप प्राप्त नहीं हो सकता। यह समझ लेना चाहिये कि वेद द्वारा वही ज्ञान दिया गया है जो स्वतः प्राप्त नहीं है। रेल, गाड़ी, मोटर, टेलीवीजन-ये सब भौतिकज्ञान मनुष्य अपने-आप प्राप्त कर सकता है, इस प्रकार के ज्ञान को परमात्मा द्वारा देने की ज़रूरत नहीं।

(ग) पं० गुरुदत्त आदि ने वेदों में सायंस बतलाया है....... हमारे विचार के साथ इनकी संगति कैसे बैठती है—

वेद आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं। उनमें वही-कुछ है जो मनुष्य अपने-आप नहीं पा सकता, जो दिये बगैर नहीं पा सकता। फिर भी अगर वेद में कहीं-कहीं विज्ञान की बाते मिल जाती हैं तो वे आध्यात्मिक-सत्य को स्पष्ट करने के लिये उदाहरण रूप में पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ, अगर वेद में कहा गया है कि हमारा जीवन का मार्ग ऐसा निश्चित हो, जैसा सूर्य और चन्द्र का है, तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वेद ने सूर्य और चन्द्र को अपनी परिधि में अटल बने रहने की बात कही है; वेद ने सूर्य के अटल मार्ग का दृष्टांत जीवन पर लागू किया है। इसी प्रकार **"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया"** मंत्र में परमात्मा और आत्मा का दृष्टांत देकर वेद ने किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त की चर्चा नहीं की। आध्यात्मिक सत्यों के साथ अगर कहीं भौतिक सत्य जुड़े हुए हों, तो उसका यह अर्थ नहीं है कि वेद भौतिक नियमों का प्रतिपादन कर रहा है। फिर भी, संभव है वेद ने कहीं-कहीं भौतिक सिद्धान्तों का भी उल्लेख कर दिया हो जैसा पं० गुरुदत्त जी के लेखों से अभिप्रेत होता है, तो भी यह तो मानी हुई बात है कि वेद भौतिक का उदाहरणात्मक, किन्तु आध्यात्मिक का विशेष तौर पर उल्लेख करते हैं, क्योंकि भौतिक तो मनुष्य स्वतंत्र रूप में, बिना वेद के बताये, खोज सकता है; आध्यात्मिक को खोजे भी तो नहीं खोज सकता, उसे तो बताया ही जा सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि कहीं-कहीं वेद में कई भौतिक सिद्धान्तों की तरफ़ इशारा है। उदाहरणार्थ, 'हिरण्यगर्भ'-मंत्र में संसार के आदि-काल में 'नेबुला' था—इसका उल्लेख कई वैज्ञानिकों ने किया है; 'आ कृष्णेन रजसा'-मंत्र में आकर्षण-शक्ति की तरफ़ इशारा है—परन्तु इतने से वेद में सब भौतिक विज्ञान है—यह नहीं कहा जा सकता। अगर वेद ने सब भौतिक यंत्रों का प्रतिपादन करना था तो वेदों के 'उपवेद' क्यों बने, उपवेदों के भी आगे-आगे ज्ञान का विकास होता गया। यह सब देखकर यही कहा जा सकता है कि वेद सब सत्य विद्याओं की पुस्तक है, परन्तु वे सत्य विद्यायें जो मानव-मस्तिष्क से नहीं जानी जा सकतीं, जो परमात्मा द्वारा ही दी जा सकती है। ऐसी सत्य विद्यायें वही हैं जो आध्यात्मिक हैं, भौतिक नहीं।

(घ) उक्त सब विचारों का समन्वय–

वेद-ज्ञान के संबंध में हमने तीन विचार दिये हैं। चौथा विचार यह है कि वेद मुख्य तौर पर आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं, उनमें वही-कुछ है जो अपनी बुद्धि से नहीं पाया जा सकता, किन्तु वेद में ऐसे तथ्य भी उपलब्ध हैं जो भौतिक या बुद्धि से उपलब्ध हो सकते हैं, परन्तु वे मुख्य न होकर उदाहरण रूप हैं। इस विचार में सब विचारों का समन्वय हो जाता है–बुद्धिगम्य हैं, परन्तु आधिभौतिक है; अबुद्धिगम्य हैं, परन्तु आध्यात्मिक हैं। इस दृष्टि से वेदों पर विचार किया जाएगा तो सभी शंकाओं का समाधान हो जाएगा।

मेरा वेद-विषयक एक लेख 9 जुलाई 1989 के 'आर्य-जगत्' के अंक में छपा था जिसका शीर्षक था–'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है'। सम्पादक ने इसका शीर्षक बदल कर निम्न प्रकार कर दिया; "वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, पर कैसे?" इस बदलाहट के लिये मैं सम्पादक की दाद देता हूं क्योंकि इस बदले हुए शीर्षक से दो पक्षों की एक-साथ पुष्टि हो जाती है। एक पक्ष यह है कि वेद में जो-कुछ है वह सत्य है; दूसरा पक्ष यह है कि वेद में सभी सत्य विद्यायें हैं, कोई छूटी नहीं। शाहपुरा (म०प्र०) के श्री मोहन लाल शारदा ने जो भीलवाड़ा (राजस्थान) के रहने वाले हैं मुझे लिखा कि जब से आर्यसमाज के नियमों का निर्माण हुआ तब से दीर्घ-काल तक आर्यसमाज का तीसरा नियम यही रहा कि वेद 'सत्य विद्याओं' के पुस्तक हैं–'सब'-शब्द पीछे से, पुस्तक विक्रेताओं ने प्रक्षिप्त कर दिया। मैं इस बहस में नहीं पड़ना चाहता, मेरी समझ में जो-कुछ आया है वह मैंने यहां लिख दिया है। मूलतः मैं समझता हूं कि वेदों में आध्यात्मिक-ज्ञान भरा पड़ा है, उसी की मानव को आवश्यकता है, भौतिक आविष्कारों को तो मनुष्य स्वयं अपनी बुद्धि से खोज सकता है, और उन्हें खोजता रहता है, इसीलिये भौतिकवाद को जीवन के लिये उपयोगी होने पर भी वेद ने स्वयं 'अविद्या' का नाम दिया है। इसी दृष्टिकोण में वेद-विषयक भिन्न-भिन्न मतों का समन्वय हो सकता है। सम्पादक महोदय के 'कैसे'-शब्द जोड़ने का एक अर्थ यह भी है कि जैसे सत्यव्रत जी कहते हैं, उस तरह वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, अर्थात् वेद में मुख्यतः अध्यात्मवाद ही है क्योंकि वही तो एक

सत्य विद्या है, बाकी सब विद्यायें असत्य हैं, परिवर्तनशील हैं। 'कैसे'-इस शब्द का दूसरा अर्थ यह है कि कैसे कह सकते हैं कि वेद में फिजिक्स, कैमिस्ट्री आदि भी हैं। सम्पादक महोदय ने 'कैसे'-इस शब्द को जोड़कर दोनों पक्षों को सन्तुष्ट कर दिया है।

9. उसके पास वेदार्थ की कुंजी थी

(वेदों का महर्षि दयानन्द-कालीन युग)

आज के युग में अगर कोई वेद-मंत्रों के बल पर यह सिद्ध कर दे कि वेद में रेल गाड़ी या हवाई जहाज़ के निर्माण की विधि का उल्लेख है तो अनेक व्यक्ति इस बात को स्वीकार करेंगे, परन्तु उपनिषत्कार ऋषि इस बात को स्वीकार नहीं करेगा। वह कहेगा कि वेद में इन बातों की क्या ज़रूरत है? क्या रखा है इन रेल, तार, हवाई जहाज़ में जिनके रोज एक्सीडेंट होते हैं और जिनमें असहाय बाल-बच्चे मौत के घाट उतरते हैं। वेद का ज्ञान इन भौतिक बातों के लिए नहीं दिया गया। ये मनुष्य के खिलौने हैं जो नित बनते-बिगड़ते हैं। वेदों का ज्ञान उस आध्यात्मिक सत्य का उद्घाटन करने के लिये दिया गया है जिसके लिये स्वयं वेद ने कहा है : **"पश्य देवस्य काव्यम् न ममार न जीर्यति"**-भगवान् के उस काव्य को देखो जो न कभी बुढ़ाता है, न क्षीण होता है। वह आध्यात्म-ज्ञान मानव के प्रयत्न से प्राप्त नहीं होता, वह भगवान् के देने से ही प्रसाद रूप में मिलता है। हम पिछले लेखों में इस बात पर बल देते आ रहे हैं कि ईश्वरीय-ज्ञान की कुंजी छिपी पड़ी थी-उसे खोज करने की ज़रूरत थी। जो खोजेंगे वे पायेंगे। वह खोज भौतिक न होकर आध्यात्मिक है। उपनिषदों की परिभाषा में जो-कुछ हम दुनिया में टक्करें मार-मार कर पाते हैं और जिसे पाकर हम अपना जीवन धन्य मानते हैं, वह "अविद्या" है; और जिसे हम भूले हुए हैं, जिसकी तरफ़ हमारा ध्यान ही नहीं जाता, वही वास्तव में "विद्या" है। "अविद्या" बेकार नहीं है, उससे मनुष्य मृत्यु को लांघ जाता है, दुनियां के अन्दर रहने लायक बना रहता है, परन्तु "विद्या" को पाकर वह मृत्यु को ही नहीं लांघता, वह अमर हो जाता है, अमृत को प्राप्त करता है। वेद-ज्ञान से उन्हें सनातन-सत्य हाथ लगता है जो सदा टिकने वाला तथा स्थिर है। यह सत्य क्या है?

हम पिछले एक लेख में लिख आये हैं कि ऋग्वेद ने सत्य-ज्ञान के दो पक्षों का उल्लेख किया है-"अद्वय" तथा "वर्धमान"। "अद्वय" वह ज्ञान है जिसमें दो पक्ष नहीं होते; "वर्धमान" वह ज्ञान है जिसमें दो पक्ष होते हैं, वह बढ़ता ही रहता है, उसमें परिवर्तन होता रहता है, बढ़ेगा तो परिवर्तन ही तो होगा। जितना ज्ञान है वह अगर सत्य है तो उसमें परिवर्तन नहीं हो सकता, परिवर्तन नहीं होगा तो वह वर्धमान भी नहीं होगा, बढ़ेगा नहीं। जो ज्ञान वर्धमान होगा, परिवर्तित होकर बढ़ता रहेगा वह बढ़ते-बढ़ते ऐसी स्थिति में पहुँच जायेगा जहां बढ़ना बन्द हो जाएगा और वहां स्थिर हो जाएगा, वहीं टिक जाएगा। इस दृष्टि से प्रत्येक वर्धमान ज्ञान "सत्य" की तरफ़ जा रहा है। दूसरे शब्दों में हमें कहना होगा कि "सत्य-ज्ञान" सदा "अद्वय" है। इसका अर्थ यह है कि "सत्य" सदा एक होता है, दो नहीं होता-इसीलिये इसे "अद्वय" कहते हैं-अर्थात् दो नहीं। उक्त सबको पढ़कर मेरे प्रूफ़ रीडर ने कहा कि उक्त संदर्भ आप पहले भी लिख चुके हैं, यह दोबारा लिखा गया है। यह सुनकर मैंने कहा-कोई परवाह नहीं, यही तो इस विषय का केन्द्र-बिन्दु है, यह जितनी बार दोहराया जाय उतना ही दिमाग़ में घर कर लेगा।

यहां यह स्पष्ट कर देना असंगत न होगा कि आधिभौतिक-ज्ञान "वर्धमान" होता है, और आध्यात्मिक-ज्ञान "अद्वय" होता है। उदाहरणार्थ, चिकित्साशास्त्र में, जो आधिभौतिक है, कब्ज़ के लिये एक औषधि तजबीज़ की जाती है, प्रकरण संगत रोग को तो वह ठीक कर देती है, परन्तु उसके आफ़्टर इफ़ैक्ट होने लगते हैं जिस कारण चिकित्सा-शास्त्र उस औषधि को छोड़ किसी अन्य औषधि की तजबीज़ करता है। कुछ दिन बाद उसके भी दुष्परिणाम सामने आने लगते हैं। तब तीसरी दवा सुझाई जाती है। यह सिलसिला आगे-आगे बढ़ता जाता है-इसे "वर्धमान" कहते हैं। भौतिक-सत्य सदा वर्धमान है। आज यह, कल वह, परसों कुछ और-भौतिकवाद में आगे-आगे का यह सिलसिला जारी रहता है। "अद्वय" में दो नहीं, एक का सिद्धान्त काम करता है। यह आध्यात्मवाद की भौतिकवाद से भिन्नता तथा विशेषता है। अगर हम सत्य की खोज करना चाहते हैं, तो "वर्धमान" के मार्ग को जो भौतिक-जगत् का है, छोड़कर "अद्वय" के मार्ग को, जो आध्यात्मिक-जगत् का है, पकड़ना होगा।

हमें "वेद" की ईश्वरीय-ज्ञानता को जानने और सिद्ध करने के लिये यह नहीं जानना कि इसमें रेल, तार, मोटर आदि का ज़िक्र है या नहीं-ये सब भौतिकता वादी वस्तुएं हैं और "वर्धमान" हैं, आज हैं कल नहीं; वेद के ईश्वरीय-ज्ञान होने के लिये हमें यह देखना होगा कि इसमें अपरिवर्तनीय, सत्य, अद्वय के तत्त्व हैं या नहीं। जो लोग "वेद" को भौतिकवाद की दृष्टि से देखते हैं वे इसमें भौतिक-विज्ञानों को ढूंढने लगते हैं, जबकि ऋषि दयानन्द के हाथ में जिस कुंजी को श्री अरविन्द ने देखा था उसने वेदों के विषय में सारा दृष्टिकोण ही बदल दिया। वेदों में से भौतिकवादी रंग से रंगी हुई बातें ढूंढने के स्थान में ऋषि दयानन्द ने उन तत्त्वों को ढूंढना शुरू किया जो सत्य हैं, सनातन हैं, जिन्हें मनुष्य अपने ज्ञान से नहीं पा सकता, जिन्हें ईश्वर की तरफ़ से दिया जा सकता है। वे तत्त्व क्या हैं?

ईश्वर की सत्ता-सबसे बड़ा तत्व जिसे मनुष्य नहीं खोज सकता, जो भगवान् की ही देन हो सकती है, वह स्वयं भगवान् का अस्तित्व है। वेदों ने स्पष्ट घोषणा की कि भगवान् एक है, उस एक को अनेक नामों से कहा गया है-यह खुद वेद का कथन है-**'एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति'**। पाश्चात्य विद्वान् यही समझते थे कि संसार की भिन्न-भिन्न शक्तियों को देखकर आदिमानव समझता होगा कि ये भिन्न-भिन्न शक्तियां स्वतंत्र शक्तियां है-इसलिये विकासवादी दृष्टिकोण से बहुदेवतावाद एक स्वाभाविक कल्पना थी। किसने आदिमानव को बतलाया कि असीम-शक्ति वाली सत्ताएं अनेक नहीं, स्वतंत्र नहीं, एक ही सत्ता हैं, उसी को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। या तो आदिमानव ने यह परिणाम स्वयं निकाला था, या यह सत्य उसे दिया गया था। ऋषि दयानन्द के हाथों में जो वेदार्थ की कुंजी आ गई थी उसने बुद्धि के सब दरवाज़े खोल दिये और वेदों के आधार पर ही ऋषि ने दो घोषणायें की। पहली घोषणा यह थी कि सृष्टि का रचयिता परमेश्वर है; और दूसरी घोषणा यह थी कि सृष्टि के रचयिता अनेक नहीं, एक ही है। यह सत्य मनुष्य द्वारा परीक्षणों से पाया नहीं जा सकता, भगवान् द्वारा ही दिया जा सकता है।

आचार के नियम-आध्यात्मिक-जीवन का आधारभूत सत्य एकेश्वर की सत्ता को स्वीकार करना है जो वेदों में प्रतिपादित है।

इसके अतिरिक्त जीवन के ऐसे नियम हैं जिन्हें अपने अनुभव के आधार पर निर्मित नहीं किया जा सकता, परन्तु जो विश्वभर में एक-से व्यवहृत होते हैं। उदाहरणार्थ, अहिंसा, (मा हिंसी:) सत्य (सत्येनोत्तभिता भूमि:); अस्तेय (मा गृध: कस्यचित् धनम्); ब्रह्मचर्य (ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्); अपरिग्रह (त्यक्तेन भुंजीथा:)-ये सब ऐसे चारित्रिक नियम हैं जो मनुष्य व्यवहार में तभी ला सकता है जब उसे इस प्रकार का जीवन बिताने की कहीं से प्रेरणा मिले। "अहिंसा" को ही लीजिये। मार-धाड़ कौन नहीं करता। यह मार-धाड़ सृष्टि के शुरू से चली आ रही है जो मनुष्य के स्वभाव में ओत-प्रोत है। परन्तु सृष्टि के आदि-काल से ही वेद ने मानव को "अहिंसा" का उपदेश दिया है। इसी तरह "सत्य" को लीजिये। वेद का कथन है कि सृष्टि की उत्पत्ति ही ''सत्य'' से हुई है-**'सत्येनोत्तभिता भूमि:'** (ऋग्वेद 10.8.5.1) । सृष्टि की स्थिति सत्य के आधार पर है। जीवन के मूल में जो नियम काम कर रहे हैं उनका विशद वर्णन वेद में किया है। ये सत्य संसार के सब धर्मों तथा सब देशों में मूलभूत तत्वों के रूप में एक-समान विद्यमान हैं। सब जगह ये आध्यात्मिक सूत्र कैसे गये और कहां से फैले? अगर ये भिन्न-भिन्न देशवासियों ने स्वयं, अपने-आप इनका निर्माण किया, तो ये बिल्कुल एक-समान क्यों हैं? उनकी एक समानता से ज्ञात होता है कि इन तत्वों का उद्‌भव-स्थल भी एक ही है। इतना ही नहीं कि इनका रूप एक-सा है, परन्तु सब धर्मों तथा देशों में इन सत्यों को नित्य, अपरिवर्तनीय तथा "अद्वय"--इनका विकल्प और कुछ नहीं-यह भी माना जाता है। ये आध्यात्मिक-तत्व ऐसे हैं जिनका कोई विकल्प नहीं है, सृष्टि के आदि में ही ऐसे नित्य तथा सत्य नियमों को अगर हम कहीं पाते हैं तो वेद में।

हमने जो-कुछ लिखा उसका थोड़े शब्दों में भाव क्या है? हमारे कथन का अभिप्राय यह है कि वह भारत देश है जिसे वेद जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थ के प्राप्त होने का गौरव मिला है। वेद के विषय में भारत की आस्था रही है कि इनमें जीवन के रहस्य निहित हैं। चिरकाल से वेदों के ज्ञान का लोप रहा था फिर भी इनका अर्थ न जानते हुए इनकी रक्षा की गई। इस देश में अनेक राज्य आये, चले गये, परन्तु वेदार्थ न जानते हुए भी ब्राह्मणों ने इनकी रक्षा की। जब-जब इस खज़ाने को खोलने की कोशिश

की गयी, जनता वेदार्थ न जानने के कारण पथभ्रष्ट हो गई। अन्त में ऐसा भी समय आया जब वेदों के बन्द ताले की कुंजी ऋषि दयानन्द के हाथ लगी। 'दयानन्द-युग' आते ही यह सर्व-विदित हो गया कि इस बन्द सन्दूक में वह अमृत भरा है जिससे हमारा देश संसारभर का मार्गदर्शन कर सकता है। आज यह समय आ गया है, और देखना है कि कौन वेद के आधार पर विश्व का पथ-प्रदर्शन करता है। वेद का स्वयं कहना है कि अब छिपाकर रखी हुई निधि की चाबी मिल गई है, ताले में बन्द खज़ाना सामने आ पड़ा है, अब इसे लेकर देश-विदेश में बखेर दो- **"कृण्वन्तो विश्वमार्यम्"**।

10. GIST OF THE PREVIOUS ARTICLES

[From 5 to 10]

(VEDA IS THE REPOSITORY OF ALL KNOWLEDGE)

Upanishads have described the evolution of man during the five stages called the Sheaths or *Koshas*— *Annamaya Kosh; Pranmaya Kosh; Manomaya Kosh; Vigyanmaya Kosh* and *Anandmaya Kosh*. Annamaya Kosh is the first stage of evolution of life. This means the stage of evolution of life wherein life manifests itself in the form of Metabolism only, that is, construction and destruction of body-cells or tissues as a result of anabolism and catabolism. These two chemical processes generate the first flush or life in the form of Ameba. The body and structure of Ameba in Upanishadic terminology is *Annamaya Kosh*. When life starts functioning and develops further, it starts breathing. This is the second stage of life called *Pranmaya Kosh*. But to start breathing is not the full manifestation of life. Life begins when thinking starts. When life develops thinking, that stage according to *Upanishad*, is called *Manomaya* stage. But, according to Shri Aurobindo the process of life goes on developing further and further. According to him and the *Upanishads*, uptil now, life has developed only to the stage of *Manomaya;* two stages of life have yet to develop, that is, *Vigyanmaya* and *Anandmaya*.

Just as in *Manomaya* stage one has to think, life is no life if it cannot but think. Similarly. when life will be fully developed, then, a living being will live a life of Bliss—*Anandmaya;* it will remain always in Bliss—there will be no sorrow, pain or any adverse feeling of life. When life reaches this atage—an *Anandmaya* stage—then, the object of evolution will be fulfilled. In *Upanishadic* terminology, when life reaches the *Anandmaya* stage, then man becomes *Devata.* According to *Upanishadic* conception, the object of human life is the evolution of *Anandmaya Kosh*—a blissful stage of life—having developed which misery, unhappiness will become non-existent. Therefore, we name men as Satyadeva, Atmadeva etc. and women as Shakuntala Devi, Ishwari Devi etc. Deva and Devi are words denoting the objective which we have to achieve. If the final object of man's achievement in life is to imbibe divine qualities, then the question arises: How can one achieve those divine qualities?

We all know that our culture is rooted in *Vedic* thought, and if so, it is evident that the study of the *Vedas* must be the first requisite for imbibing the Divine qualities in our life. What can one imbibe in one's life unless one knows what is to be imbibed.

From time immemorial it has been embedded in our thought that the Divine Life is the life which runs according to the teachings of the *Vedas. Vedas* have been the lifeblood of our thought. Whatever we do or practice,we trace it to the *Vedas.* But, unfortunately, *Vedas* have been a closed book even to the Pandits who are supposed to be the custodians of the *Vedas.* We have a tradition that the *Vedas* contain everything and so whatever we do we try to link it with the *Veda.*

Every Religion, Institution, Society or Organisation passes through the following processes or stages :

(1) First : when Precept and Practice are one and the same. Or, we may say, when Practice is in con-

formity with Percept, or when Practice is for the sake of Precept or when Precept over-rides the Practice and one does what one preaches.

(2) Second : When Precept gets dimmer and Practice gets brighter, or when Precept is on its way to be forgotten and Practice starts over-riding the Precept.

(3) Third: When Precept is totally forgotten, and Practice starts over-riding the Precept with all accretions irrelevant to the original Precept.

(4) Further: When as a reaction to the forgetfulness of the Precept a new movement starts for the rejuvenation of the original Precept—Revivalism or Death.

These are the FOUR PROCESSES or stages through which every Religion, every Institution, every Society and every Organisation passes if it has to live, otherwise it automatically dies and disappears: let us apply this principle to the *Vedas :*

THE FIRST PROCESS OF RELIGION : There was a time when in the beginning of time *Vedas* appeared. At that time Precept or teaching of the *Vedas* were at the same level. People practised what the *Vedas* preached.

THE SECOND PROCESS: The *Vedic* times were the times of Rishis, but gradually *Vedas*—that is, the Vedic teaching began to be forgotten and its place was being taken by mores and traditions which had grown up in the process of evolution and development of *Vedas.*

THE THIRD PROCESS: After the second the third process started with respect to *Vedic* religion when the Precept—the *Vedas*—were forgotten and only the mores and traditions remained. This applies to all organisations.

People forgot what was originally contained in the *Vedas.* They only remembered the Mores, that is, the Words and Traditions. Along with this they also remembered that

God had revealed some Truths, but they forgot what those Truths were, and how they were revealed. They simply talked of the *Vedas,* but did not know what the *Vedas* contained. The First period was the period of Light and Life; the second period was the period of the beginning of Forgetfulness of the *Vedic* lore. The third period was of utter Darkness when people clung to Traditions only and forgot the Teachings of the *Veda.* They simply remembered that God had given them some scriptures which contained the Eternal Truths, but as regards the meaning of those Scriptures they knew nothing, but to keep those scriptures alive they simply committed them to memory with-out knowing the meanings of the words they remembered. It was a period of utter Darkness for *Vedic* Precepts. *Vedas* are sacred, so sacred that they must contain everything. Beyond this claim, people of this land knew nothing of the *Vedas.* Whatever traditions they had developed, however rotten they were, they must be linked with the *Vedas.* For in that manner only its validity could be maintained. In course of time our society had developed some customs due to the prevailing circumstances, but they were supported by linking them to the *Vedas.* Why girls and boys should be married early? Because it is said so in the *Vedas.* Why *Shudras* should be deprived of *Vedic Mantras?* Because it is ordained so in the *Vedas.* Why a woman should commit *Sati* after the death of her husband? Because *Vedas* ordain so. *Veda* was being quoted for every absurdity, As a reaction to this sort of thinking, the process of Reaction started. *Vedas* began to be poohpoohed. A cult arose whose leader was *Kautsa.* He proclaimed that *Vedas* are meaningless. This is a period when Budhism and Jainism flourished in India. These movements gave a set-back to Vedism though respect for the *Vedas* remained unabated and did not diminish. However, as the cult of *Kautsa* gathered strength as its reaction, some learned people started reviving *Vedic* learning—*Sayan, Mahidhar* and some others were part and parcel of this revival. But, unfortunately, their interpretation of the *Vedas* was worse than what *Kautsa* and others of his way of thinking were propagating. For long this tussle between pro-*Vedic* and anti-*Vedic* sections continued till a New Era of revival of *Vedas* dawned upon the country. This was the Fourth period of the *Vedas* which gave an impetus to the Revival Movement.

During this era which I have termed as a pro-vedic era, several learned *Pandits* tried to rejuvenate the *Vedic* conception of life and Kumaril Bhattacharya was one of those revivalists. He wanted to revive *Vedism* but at that time one could not study the ancient Sanskrit books unless one declared oneself as a Budhist. Kumaril, to fulfil his object, falsely declared himself as a Budhist, but after some time he became guilt-conscious and started on a penance. At that time *Shankaracharya* came to know of his mental tension and approached him to give up such a penance as the falsehood was undertaken for the purpose of establishing the dignity of the *Vedas. Shankaracharya* asked *Bhattacharya* to discuss with him the validity or otherwise of his action. The tradition says the *Bhattacharya* directed *Shankaracharya* to Mandan Mishr and advised him to discuss the matter with him.

As already pointed out, every social organisation passes through FOUR PROCESSES. First is the Origin; Second is its Development; Third is its Decay and Fourth is its Death or Revival. If the organisation proves useless for society, it automatically dies and nobody hears of it anymore; but if it proves useful to society, somebody comes from somewhere who revives it and instils life in the dying corpse.

THE FOURTH PROCESS: We have seen the *Vedic* Religion pass through three stages. In the Third, it was in utter darkness. So much so, that scholars like *Kautsa* who had appeared and proclaimed the utter uselessness of *Vedic* verses. All absurd Mores and Traditions had crept in, the frame-work of society and *Vedas* were thought to be responsible for all the foolishness rampant in society. This was the time of utter Darkness when the *Vedic* Religion was facing two alternatives: Either it should have died or disappeared from the scene or some miracle should have happened to revive it and restore it to its original glorious state. Most of the common *Pandits* were under the prevailing idea that *Vedas* contained Eternal Truths and so they should be preserved at any cost, not minding whether the Pandits knew the meanings of *Mantras* or not. Hence, without understanding the meanings, the *Vedas* were preserved by memorizing and for every tomfoolery prevalent in society they were referred to as the source of it.

This was the time when everyone was deeply interested in the preservation and revival of the *Vedas* but was at a loss to know how to do it. Here I am going to relate a story mentioned in a Sanskrit book known as *Shanker Digvijaya.* This story may be an utter fiction, but every fiction has some base. It is mentioned in the *Shivaraj Vijay* that the Prince of Kashi had a daughter who was deeply interested in the Revival of the *Vedas*. When she saw the *Vedas* were being neglected and forgotten she cried out in distress: "What shall I do: where shall I go; who will revive the *Vedas*". This distressing cry, full of anguish, was heard by Kumaril Bhattacharya who replied: "Don't grieve Oh, Princess, so long as Bhattacharya is alive, *Vedas* cannot be forgotten".

This may be called a Mid-*Vedic* period of *Vedic* Revivalism, but this period also must have taken a pretty long time to continue. In between, India was ruled by Mohamadans and later by the British both of whom were immensely influenced by *Vedic* thought. When the British came, they were saturated with the Theory of Evolution propounded by Darwin. When their scholars came across *Vedas* and their interpretation by *Sayan* and *Mahidhar,* they were much pleased as their interpretation of the *Vedas* corroborated the theory of evolution. According to the theory of evolution, primitive people were cutters of wood and drawers of water. The interpretation of *Vedic Mantras* by *Sayan* and *Mahidhar* depicted the *Vedic Aryans* in a manner which fitted in very much with the life of primitive people. The *Vedas* were being revived, no doubt, by the British but their revival meant a revival of primitivism.

This was the time when Rishi Dayanand appeared on the scene. He realised that India was beset with problems created by the misinterpretation of the *Vedas.* He further realised that no revolution in India could succeed unless it had the backing of the *Vedas.* The position was such that for every unsocial and evil deed, *Veda* was being referred to. He fully realised that all the ills of society could be remedied by the correct interpretation of *Vedic* hymns. No reformation could be possible unless it was proved that it had the sanction of the *Vedas.* But *Vedas* had been a sealed book since long and for centuries. Traditionalists had the advantage of quoting unrelated *Vedic Mantras* in the name of the *Veda,* as nobody knew the meaning of those *Mantras,* neither the learned nor the illiterate. Dayanand realised this. He realised that the ignorance of the correct interpretation of the *Vedas* was the root of all the evils of Indian society, and therefore, set out interpreting the *Vedic* hymns on the basis of *Yask's Nirukta.* I call *Yask* as the first revivalist of *Vedism,* and following him Dayanand was the second Revivalist, though for Dayanand it was a tougher job than *Yask.* Thus, with the advent of Dayanand in the field, a 'Dayanand-Era' started when *Vedas* did not remain a Sealed Book and it became the property of all Humanity. Shri Aurbindo realising the importance of Dayanand's way of interpretation of the *Vedas* wrote in some of his writings :

The coming generations will realise that Dayanand stood as a unique figure amongst the teachers of the *Vedas* and their interpretation, as he was the one who had found out the KEY of unlocking the sealed box containing the

Vedic scriptures.

How does the interpretative nature of Rishi Dayanand as regatrds the *Veda* differ from *Sayan, Mahidhar* and their followers—the *Vedic* scholars? There are two methods of interpretation of *Veda Mantras*. One method may be called the Static method; the other method may be called the Etymological method. In *Nirukta*-terminology the Static method is known as *Roodivad* (रूढ़िवाद); Etymological method is known as *Paramparavad* (परंपरावाद). This is the basic philosophy of Rishi Dayanand. *Vedic* verses are not to be interpreted or understood according to the traditional meanings or the words. For instance, *Indra* does not mean the traditional Hindu God mentioned in the *Puranas*. Wherever the word "*Indra*" comes, according to Rishi Dayanand, it means God of glorious qualities. One has to go to its Etymological meaning from the root इदि परमैश्वर्ये. Stories attached to *Indra* as a Deity are later creations. Originally, the word was used or is used to indicate illustriousness of God. The same principle based on Etymology applies to all *Vedic* words. Understood in this light the whole view point changes. Rishi Dayanand says that while understanding the *Veda,* go to the root of the word, not to the tradition about it which has grown later. First is the root, then is the tree, not the other way round. The whole philosophy of Rishi Dayanand was based on this. First, the origin, then its diversification. This principle applies not only to the *vedic* words, it applies to his whole philosophy.

He demolished Staticism—रूढ़िवाद in every sphere of life, and therein lay his speciality which Aurobindo called Uniqueness as compared to other Social Reformers and Reivalists. This was the KEY in his hands which threw open every locker which had remained closed for centuries.

Rishi Dayanand's Etymological stand for understanding the *Vedas* guided some enthusiasts to read Physics, Chemistry and other Physical Sciences in the *Vedas*. There is no doubt that some of the Modern Scientific Truths are found traceable in the *Vedas*. For instanre, *Yajurveda* says the Earth where we sit is the beginning and end of the perifery of the Earth, from which we can infer that the earth is round and not flat; a fact which was discovered by Galileo and for which he was put in jail. Similarly, there are some other *Mantras* from which we can infer that *Vedas* contain some physical Truths, but this should not lead us to proclaim that *Vedas* contain all Physical Sciences.

God has given brain to human beings for the purpose of investigting hidden truths in Nature. What is the purpose of brain if God has left nothing for investigation by man.

Moreover, we have to answer as to how the Physical Truths have been discovered by scientists who knew nothing of the *Veda,* who perhaps never heard of the *Veda*. How did they discover physical truths without the knowledge of the *Vedas*. If one could discover such truths, then why to burden the *Vedas* with such a responsibility?

Besides, there is a *Mantra* in *Yajurveda* which says: ‘विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृततमश्नुते This *Mantra* divides KNOWLEDGE into TWO GROUPS—*Vidya* and *Avidya*. It is Generally believed that “*Vidya*” means knowledge and *Avidya* means ignorance. The *Vedic* terminology does not use these two words in the common sense. In *Vedic* terminology the word *Avidya* is used for Physical Science. One may ask how? My reply is: The *Veda* says that by *Avidya* one crosses over Death. If understood in common sense the statement may look absurd, but if understood in *Vedic* sense, the statement is a verifiable truth. I say the *Veda* uses the words *Avidya* for Physical Sciences because through taking resort to Physics, Chemistry, Therapeutics and Medicines one can prolong life; meet the challenge of diseases and can conquer Death; but Immortality can be attained by *Vidya*—that is, Spiritual Knowledge only. We are seriously concerned with the word *'Vidya'*, as everyone will agree that by spiritual knowledge we attain immorality. We are seriously concerned with the word *'Avidya'*. If *Avidya* means ignorance, then the question arises: How can one cross over Death by *Avidya? Avidya* must mean something other than ignorance. If *Vidya* means spiritual knowledge, which it must mean, that, for by this alone Immoratality can be attained, then *Avidya* must mean physical knowledge for by that alone can one fight death and cross it over.

The dictum of *Veda* is that Physical Sciences are *Avidya*. Why has the *Veda* styled Physical Scienees as *Avidya?* The *Veda* has styled them as *Avidya* because they go on changing. What is discovered as truth today, after discovery and investigation, it is proved as untruth. Truth is that which cannot change, that which changes or is liable to change cannot be called as Truth. This is the reason why Physical Science is not the scope of *Veda*.

But, then, do we mean that there are no Physical Truths or mention of Physical Science in the *Vedas?* The fact is that there is enough of Physical Science in the *Veda*, but that is by way of inference. What do we mean by inference?

For instance, as already stated, *Yajurveda* mentions that the place you are sitting on is the beginning and end of the earth. From this statement one can infer that the earth is round and not flat because such a statement can be made of a round thing only. It appears that from such a conception the word भूगोल *(bhugol)* must have been coined which means the round earth, And further, from the word भूगोल the english word 'globe' must have been coined—as गोल-भूः—or globe We know that Newton discovered the Theory of Law of Gravitation, but in *Yajurveda* (33.43) we came across a *Mantra* : आकृष्णेन रजसा वर्तमानः निवेशयन् अमृसं मर्त्यं च—covering all objects, immortal and mortal. Some *Vedic* scholars interpret it as आकर्षण शक्ति or Gravitation. Galileo had to suffer jail for proclaiming that the earth is round and Bruno was burnt alive for propagating Heliocentric Theory. In the 3rd Chapter of *Yajurveda,* in *Mantra* 6, it is stated 'आयं गौः पृश्नीः अक्रमीत्' which means that the earth moves and is not stationery. The word गौः in the *Veda* means the earth; अक्रमीत् means—from the root 'क्रमु पादविक्षेपे' moves. The *Veda,* mentioning about the sun, says: 'सूर्यः एकाकी चरित'—which means that the sun moves ALONE on its axis. If the Sun moves or rotates alone on its axis and the earth also moves and they are related to each other by rotation, then the inference is that the earth moves around the sun as there is mention of winter, autumn and summer in the *Veda* regrding the earth. But Gravitation; roundness of the Earth; Heliocentric Theory etc. are not stated in so many words. They are inferences. The conclusion is that the *Veda* divides knowledge into TWO CATEGORIES—Physical knowledge and Spiritual knowledge. In *Vedic* terminology physical knowledge is called 'अविद्या' *(avidya)* or "Science". No doubt, science is there in the Vedas as we have shown by many instances. There may be many more such instances in the *Vedas,* but from such instances we cannot say that the *Vedas* contain all scientific truths. Science and particularly Physical Science goes on changing. What is a true fact of science today, after research and investigation it proves wrong and is discarded. How such a science which is subject to change can be the content of revelation by God. Revelation or Truth must be an ETERNAL TRUTH, not liable to change. The subject of such changing science is the function of Upaveda; *Veda* must and does contain the ETERNAL TRUTH, and therefore the *Veda* itself declares that Physical Science is *Avidya,* and Spiritual Science is *Vidya.* The function of *Veda* is to deal with *Vidya* or Spiritual Science which is CHANGELESS and not to deal with *Avidya* or Material Science which is this today, and not the same tomorrow.

डॉ॰ सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार का परिचय

5.3.1898 - 13.9.1992

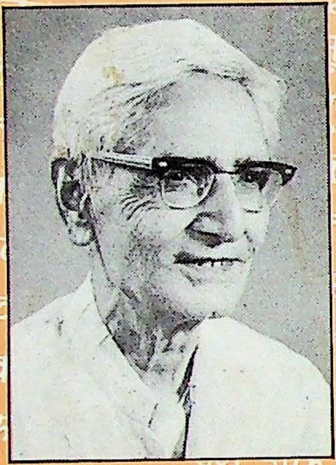

विद्यामार्तण्ड डॉ॰ सत्यव्रतजी सिद्धान्तालङ्कार का जन्म ५ मार्च १८९८ लुधियानान्तर्गत सबद्दी ग्राम में हुआ। आप १९१९ में गुरुकुल काङ्गड़ी के स्नातक होने के बाद कोल्हापुर, बंगलौर, मैसूर, मद्रास में चार वर्ष तक समाजसेवा का कार्य करते रहे। १९२३ में आप 'दयानन्द सेवा-सदन' के आजीवन-सदस्य होकर गुरुकुल विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हो गये। १५ जून १९२६ को आपका विवाह श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल एम॰ए॰, बी॰टी॰ से हुआ। आप ३०-११-१९३० को सत्याग्रह में गिरफ्तार हुए और १९३१ को गाँधी इरविन पैक्ट में छोड़ दिये गये। आपकी पत्नी २० जून १९३२ में यू॰पी॰एस॰सी॰ की अध्यक्षा पद से आगरा में गिरफ्तार हुईं। उन्हें एक साल की सजा हुई। १९३४ में चन्द्रावतीजी को '**स्त्रियों की स्थिति**' ग्रन्थ पर सेकसरिया तथा २० अप्रैल १९३५ में उन्हें '**शिक्षा-मनोविज्ञान**' ग्रन्थ पर महात्मा गाँधी के सभापतित्व में मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक दिया गया। अप्रैल १९५२ में वे राज्य-सभा की सदस्या चुनी गईं और दस साल तक इस पद पर रहीं। डॉ॰ सत्यव्रतजी अपनी सेवा के दौरान मई १९३५ में गुरुकुल विश्वविद्यालय के उप-कुलपति नियुक्त हुए। १५ नवम्बर १९४१ को सेवा-काल समाप्त कर वे बम्बई में समाज-सेवा-कार्य में व्यस्त हो गये। २ जुलाई १९४५ को आपकी पत्नी कन्या गुरुकुल देहरादून की आचार्या पद पर नियुक्त हुईं। डॉ॰ सत्यव्रतजी ने इस बीच '**समाजशास्त्र**', '**मानवशास्त्र**', '**वैदिक-संस्कृति**' तथा '**शिक्षा**' आदि पर बीसियों ग्रन्थ लिखे जो विश्वविद्यालयों में पढ़ाये जाने लगे। आपके '**एकादशोपनिशद-भाष्य**' की भूमिका राष्ट्रपति डॉ॰ राधाकृष्णन ने तथा आपके '**गीता-भाष्य**' की भूमिका प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने लिखी। आपके होम्योपैथी के ग्रन्थों को सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ घोषित कर उनपर एक हज़ार का पारितोषिक दिया गया। इन ग्रन्थों का विमोचन राष्ट्रपति वी॰वी॰ गिरि ने किया। ३ जनवरी १९६० को आपको 'समाजशास्त्र के मूल-तत्त्व' पर मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक देकर सम्मानित किया गया। ४ जून १९६० को आप दोबारा छह वर्ष के लिये गुरुकुल विश्वविद्यालय के उप-कुलपति नियुक्त हुए। ३ मार्च १९६२ को पञ्जाब सरकार ने आपके साहित्यिक-कार्य के सम्मान में चण्डीगढ़ में एक दरबार आयोजित करके १२०० रुपये की थैली तथा एक दोशाला भेंट किया। १९६४ में राष्ट्रपति राधाकृष्णन ने आपको राज्य-सभा का सदस्य मनोनीत किया। १९७७ में आपके ग्रन्थ '**वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार**' पर गङ्गाप्रसाद ट्रस्ट द्वारा १२०० रु०, उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा २५०० रु० और रामकृष्ण हरजीमल डालमिया पुरस्कार द्वारा ११०० रु० का पुरस्कार दिया गया। १९७८ में आप नैरोबी के अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन के अध्यक्ष हुए। १९७८ में दिल्ली प्रशासन ने वेदों के मूर्धन्य विद्वान् होने के नाते सम्मान-अर्पण समारोह करके आपको २००१ रु० तथा सरस्वती की मूर्त्ति देकर सम्मानित किया। आपने होम्योपैथी पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें से '**होम्योपैथी औषधियों का सजीव चित्रण**', '**रोग तथा उनकी होम्योपैथिक चिकित्सा**', '**बुढ़ापे से जवानी की ओर**', तथा '**होम्योपैथी के मूल सिद्धान्त**' प्रसिद्ध हैं। आपके अंग्रेजी में लिखे ग्रन्थ 'Heritage of Vedic culture', 'Exposition of Vedic Thought', 'Glimpses of the Vedas' तथा 'Confidential Talks to Youngmen' का विदेशों में बहुत मान हुआ है। आपके नवीनतम ग्रन्थ '**ब्रह्मचर्य-सन्देश**', '**वैदिक-संस्कृति का संदेश**' तथा '**उपनिषद्-प्रकाश**' है।